संसार की प्राचीन सभ्यताएँ

तथा

भारत से उनका सम्बन्ध

रामकिशोर शर्मा एम० ए०

प्राप्ति स्थान

आदर्श पुस्तक भण्डार

५८, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता—७

प्रकाशक—
सिंहासन राय 'सिद्धेश'
आदर्श पुस्तक भंडार
५८, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता-७

शाखा—
आदर्श पुस्तक भण्डार
डी० ५३/८६ लक्सा रोड
(गुरुबाग) वाराणसी

प्रथम संस्करण
१००० प्रतियाँ, सन् १९६२

मुद्रक—
हरिनारायण राय
प्रिंटिंग प्रेस
अपर चितपुर रोड, कलकत्ता-७

* दो शब्द *

श्री रामकिशोर शर्मा ने इस पुस्तक में प्राचीनकाल की कुछ मुख्य-सभ्यताओं की चर्चा की है। उन्होंने जिस सामग्री का संग्रह किया है, उससे पाठकों को तत्तत् सभ्यता के सम्बन्ध में दिग्दर्शन प्राप्त हो जायगा और इस बात का अन्दाज लग जायगा कि पिछले कुछ हजार वर्षों में मनुष्य ने किस प्रकार बर्बरता का अतिक्रमण करके सभ्यता के क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रयत्न किया है। इतिहास अपने को पूर्णतया कभी नहीं दुहराता, परन्तु यह भी सत्य है कि प्रायः सभी पुरानी सभ्यताओं का इतिहास एक जैसा रहा है। ये उठीं, विकास को प्राप्त हुईं और फिर समाप्त हो गईं। किसी हिन्दी-कवि के शब्दों में—

जो बढ़े सो बरे, जो बरे सो बुताने।

इस नियम के दो ही अपवाद देख पड़ते हैं, चीन और भारत। इस बहस में न पड़कर कि कौन सभ्यता पूर्व की है और कौन अपरकाल की, इतना तो निश्चित है कि चीन और भारत की सभ्यताएँ पुरानी सभ्यताओं में से कइयों की दीर्घकाल तक समकालीन रही हैं। परन्तु आज वे सभ्यताएँ तिरोहित हो गईं। कइयों के तो दीपक उनके ही सामने जले और उनके सामने ही ठंडे पड़ गये। यह गम्भीर विचारणीय प्रश्न है कि वह क्या चीज है जिसने अब तक चीन और भारत को अवशेष रक्खा है। सभ्यता संस्कृति का बाहरी परिधान है। इन दोनों देशों की संस्कृतियों में कोई तो ऐसी बात होगी कि उनकी आत्मा अब तक मोई नहीं और अनेक बार के राजनीतिक उथल-पुथल का सामना करते हुए आज भी संसार में ऊँचा स्थान रखती है।

अस्तु, लेखक ने पुरानी सभ्यताओं का भारत से सम्बन्ध भी दिखलाया है। इस विषय में उन्होंने उस मत को उपस्थित किया है जिसको मैंने अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश' में व्यक्त किया था। उन्होंने लेखा लिया भी है। अपने विचारों का समर्थन देखकर स्वभावतः प्रसन्नता होती है। उन विचारों में इतना अंश तो प्रायः निर्विवाद ही है कि कुछ जातियों जैसे मितन्नी का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

उन दूरस्थ लोगों में भारतीय देव देवियों का पूजा जाना ही इस घनिष्ठता का प्रमाण है। परन्तु इस बात को मैं मुक्तकण्ठसे नहीं कह सकता कि इन सब लोगों का भारत से जाकर दूसरे देशों में बसना अकाट्य रूप से सिद्ध हो गया है। भाषा, सस्कृति और सभ्यता एक देश से दूसरे देशमें ऐसी अवस्थाओंमें भी गमन करती है जबकि मूल देशके निवासी अपने घर पर ही रहते हैं। सम्भव था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु उसका रूप क्या था, और गहराई कितनी थी, यह विवादास्पद प्रश्न है। पणियों का विषय और भी सन्दिग्ध है। जैसा मैंने भी माना है, भले ही वे लोग फिनिशियन लोगों के पूर्वज रहे हों, भलेही भारत आते रहे हों, व्यापार और थोड़ा बहुत लूटमार भी करते रहे हों। इन बातों की ध्वनि तो ऋग्वेदमें भी मिलती है। परन्तु वे यहाँ के निवासी थे, यह नहीं कहा जा सकता। मय जाति का प्रश्न और भी जटिल है। नाम में सादृश्य है। यह भी सिद्ध है कि मय लोग निर्माण विद्या के अच्छे पण्डित थे। फिर भी ऐसा कहने में तबीयत हिचकती है कि वे लोग भारत से ही अमेरिका गये थे और महाभारत का मयदानव अमेरिका में युधिष्ठिर का महल बनाने के लिए भारत लाया गया था। यदि श्री शर्मा ने मेक्सिको, पीरू और ब्राजील की पुरानी सभ्यताओं की भी कुछ चर्चा कर दी होती तो उनको भारत से सादृश्य की बहुत-सी बातें मिल जातीं। इनमें से कुछ बातोंका जिक्र श्री चमनलाल ने अपनी पुस्तक (Hindu America) में किया भी है।

अस्तु, बहुत से भारतीय विद्वानों का यह मत रहा है कि पृथ्वी पर सर्वत्र भारत से ही सस्कृति और सभ्यता गई है। यह बात सही हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्राचीनकालमें भारत और दूसरे सभ्य देशों में काफी आदान-प्रदान होता रहा है और उसके फलस्वरूप एक का दूसरेपर काफी प्रभाव पड़ता रहा है। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा हिन्दी जाननेवालों को प्राचीन सभ्यता सम्बन्धी काफी सामग्री प्राप्त हो सकेगी और प्राचीनकालके अन्तर्देशीय सांस्कृतिक आदान प्रदान के विषय की काफी झलक मिल जायगी।

राज भवन, जयपुर
जन्माष्टमी २०१६

—सम्पूर्णानन्द

प्रकाशकीय

आदरणीय बन्धु श्री रामकिशोर शर्मा एम० ए० की पुस्तक 'समर की प्राचीन सभ्यताएँ तथा भारत से उनका सम्बन्ध' को प्रकाशित कर हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पुस्तक पहले प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, पर कार्याधिक्य के कारण वैसा नहीं हो सका। आशा है, इस प्रकार के अवान्छनीय विलम्ब के लिए पुस्तक के प्रेमी पाठक हमें क्षमा करेंगे।

पुस्तक के प्रूफ-संशोधन के सिलसिले में मुझे सम्पूर्ण विषय को पढ़ जाने का अवसर मिला। मेरी धारणा है कि अध्ययन प्रेमी एवं चिन्तनशील लेखक का पुस्तक-लेखन के अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली है।

भारत जगद् गुरु है, सभ्यता का पाठ इसने सम्पूर्ण विश्व को पढ़ाया है, उसकी गौरवमयी संस्कृति ने विश्व के प्रायः सभी देशों को प्रभावित किया है—इन सभी विषयों को सुविज्ञ लेखक ने आधुनिकतम् शोधों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा प्रतिपादित किया है। इस प्रकार यह पुस्तक प्रकाशित होकर इतिहास-विषय की पुस्तकों की जो संख्या वृद्धि करने जा रही है, उससे मात्र संख्या वृद्धि ही नहीं होगी, वरन् महत्त्व वृद्धि भी होकर रहेगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

पुस्तक की किसी प्रकार की कमी और त्रुटि से जो सज्जन हमें अवगत करायेंगे, उनके प्रति हम अत्यन्त आभारी होंगे।

—सिंहासन राय 'सिद्धेश'

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत पुस्तक में विषय को अधिक बोधगम्य बनाने के हेतु थोड़े से चित्र तथा मानचित्र भी दिये गये हैं। इनमें से निम्न पाँच 'एटलस आफ एनशंट एण्ड क्लासिकल ज्योग्रफी' के आधार पर तैयार किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) मिस्र साम्राज्य—१४५० ई० पू०।

(२) बेबीलोनियन साम्राज्य—५६० ई० पू०।

(३) इटालिया (४) ग्रीस (५) एशिया माइनर।

उक्त मानचित्र प्रकाशित करने की अनुमति 'एटलस आफ एनशंट एण्ड क्लासिकल ज्याग्रफी' के सम्पादक तथा प्रकाशक जान बारथोलोम्यू एण्ड सन लि० १२ डकन स्ट्रीट एडिनबरा ने बिना किसी शुल्क के प्रदान की है। इस हेतु उक्त संस्था के प्रति हम अत्यन्त आभारी हैं।

'सुमेर' सम्बन्धी अध्याय में 'विकसन' की मूर्ति का जो चित्र दिया गया है वह श्री सम्पूर्णानन्द लिखित 'आर्यों का आदि देश' से लिया गया है जिसकी अनुमति श्री सम्पूर्णानन्द ने देने की कृपा की है। कुछ चित्र तथा मानचित्र अन्य ग्रन्थों से भी लिये गये हैं। इन समस्त लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति जिनके ग्रन्थों तथा मानचित्रों से इस पुस्तक में सहायता ली गयी है, हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

—लेखक

* विषय-सूची *

———

※ प्रस्तावना ※

सभ्यता क्या है ? सभ्यता का साधारण अर्थ तो सभी समझते हैं कि समाज में मिलकर रहने तथा सामूहिक रूप से उन्नति करने का ही नाम सभ्यता है, किन्तु पारिभाषिक दृष्टि से विद्वानों ने सभ्यता की भी अनेक परिभाषाएँ की हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक मनुष्य जंगलों में अथवा कन्दराओं में रहता था। कन्द मूल फल खाकर अथवा वन पशुओं का शिकार करके निर्वाह कर लेता था। शिकार के लिए वह पत्थर के भद्दे ढंग के औजार बना लेता था। तन ढकने का न उसे ज्ञान था, न वह इसकी आवश्यकता का ही अनुभव करता था। यह उसकी असभ्य अवस्था थी और यह अवस्था चन्द हजार नहीं, कई लाख वर्षों तक रही। परन्तु जब उसने पशु पालन और कृषि के आविष्कार द्वारा आजीविका के साधनों में उन्नति की, अच्छे हथियार और औजार बनाये, शरीर को पशुओं की खाल से अथवा पेड़ों की छाल से ढकना आरम्भ किया, रहने के लिये झोंपड़ियाँ बनाई और सामूहिक रूप से रहना आरम्भ किया तब वह सभ्यता की ओर बढ़ा। फिर जब उसने खाना पकाने के लिये अग्नि का तथा विचार विनिमय के लिये भाषा का आविष्कार किया, फिर सूत कातना तथा उससे कपड़ा बुनना सीखा, धातुओं का आविष्कार किया तथा उनसे तरह तरह के हथियार और औजार बनाये तब वह उन्नत सभ्यता के युग में आ गया। इस प्रकार सभ्यता उन खोजों तथा आविष्कारों पर निर्भर है जिनके द्वारा मनुष्य के दैनिक आचरणों तथा विचारों पर प्रभाव पड़ा। इस सभ्यता के विकास ने उसके भौतिक जीवन की काया पलट कर दी।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कथन है कि वास्तव में धातु का काम जानने को ही सभ्यता समझना चाहिये। इससे पूर्व की अवस्थायें जंगली तथा बर्बर थीं। जंगलीपन तथा सभ्यता के बीच की अवस्था का नाम बर्बर अवस्था है—अर्थात् जब मनुष्य ने जंगली अवस्था को पार करके प्रकृति पर कुछ अधिकार कर लिया था अर्थात् फसल बोना और काटना सीख लिया था और भोजन के लिए शिकार या मछली मारने पर ही निर्भर न था तथा पशुपालन भी सीख चुका था तब तक वह बर्बर अवस्था में ही था। बाद में जब उसने धातुओं का पता लगाकर उन्हें गलाना या पिघलाना सीख लिया और उनसे विभिन्न प्रकार के हथियार औजार बनाये तभी वह सभ्यता की कोटि में आया। धातुओं में अनुमानतः उसे पहिले ताँबे का पता लगा, फिर लोहे का।

सभ्यता और संस्कृति—इन दिनों 'संस्कृति' शब्द बहुत अधिक प्रचलित है। सभ्यता तथा संस्कृतिका नाम प्राय साथ लिया जाता है। कुछ विद्वान सभ्यता और संस्कृति को प्राय पर्यायवाची मानते हैं। संस्कृति का शब्दार्थ है—संस्कार युक्त अथवा सुधरी हुई स्थिति अर्थात् मनुष्य के रहन सहन, आचार-विचार में सुधार, नई-नई बातों का अनुसधान जिनसे वह पूर्व असभ्य अवस्था से उन्नत अवस्था को प्राप्त हो। इसी को सभ्यता भी कह सकते हैं। परन्तु अन्य विद्वान सभ्यता और संस्कृति में थोड़ा अन्तर करते हैं। उनका मत है कि सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की तथा संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है अर्थात् संस्कृति शब्द किसी जाति या व्यक्ति के मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास से सम्बन्ध रखता है और सभ्यता शब्द केवल उसके भौतिक विकास से। उदाहरणार्थ जब मनुष्य ने पशु पालन तथा कृषि द्वारा अपनी आजीविका के साधनों म उन्नति की, नये यत्रों द्वारा अपनी सुविधाओं म वृद्धि की अर्थात् जब वह बनैले जीवन से हटकर सामाजिक और सामूहिक जीवन की ओर बढ़ा, तब वह सभ्यता की ओर बढ़ा। परन्तु जब उसने अपने शिकार से बचे हुए समय में अपने पत्थर के हथियारों की मूठ पर रेखायें और आकृतियाँ खींच कर उन्हें आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना आरम्भ किया, अपनी गुफाओं की दीवारों को पशु-पक्षी आदि की आकृतियों से सजाकर सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया, तब वह संस्कृति की ओर बढ़ा। इसी प्रकार जब उसने आगे चलकर अपनी आत्मा की तुष्टि के लिए धर्म का आविष्कार किया, सोच विचार में मग्न रहकर जब वह दर्शन की ओर बढ़ा, सौन्दर्य की खोज करते हुए जब संगीत, काव्य, मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला आदि की सृष्टि की, तब वह संस्कृति की दिशा में बढ़ा। इस व्यवस्था के अनुसार संस्कृति, विशेषकर उन सूक्ष्म तत्वों से सम्बन्ध रखती है जो विचार-विश्वास तथा कलाओं के आधार हैं। इस प्रकार संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महान् चीज मानी जाती है।

सभ्यता का विकास प्राय नदियों के तट पर हुआ इसे सभी विद्वान मानते हैं, क्योंकि मनुष्य ने सामूहिक रूप म बसना पहिले नदियों अथवा जलाशयों के तट पर ही आरम्भ किया होगा। यह स्वाभाविक भी है। मनुष्य के लिये एक स्थान पर स्थायी रूप से ठहरने के लिये ऐसा स्थान चाहिये था जहाँ उसके तथा उसके पशुओं के पीने के लिये पानी की सुविधा हो। खेती बारी के लिये भी जहाँ उपर्युक्त जमीन हो, जहाँ मकान आदि बनाने के लिये भी मिट्टी मिल सकती हो। इसी कारण भारतवर्ष में सप्तसिन्धु और गगा यमुना की जमीन, पश्चिमी एशिया में दजला और फरात की जमीन, अफ्रीका के उत्तर में नील नदी व आसपास की जमीन और चीनमें ह्वागहो अथवा पीली नदी की जमीन ऐसे ही स्थल हैं जहाँ सभ्यता का प्रारम्भिक विकास होने का पता लगता है। इसी कारण

महर्षि व्यास ने तो नदियों को संसार की माता बताया है। ऋग्वेद में भी सरस्वती नदी की वन्दना की गई है। गंगा, जमुना, नर्मदा, गोदावरी, सरयू आदि पवित्र नदियों को हमारे देशवासी आज भी 'माता' कहकर पुकारते हैं।

सबसे प्राचीन सभ्यता कौन सी है ?—परन्तु उन नदी तटों में से सभ्यता का आरम्भ सबसे पहिले कहाँ हुआ, तथा मनुष्य ने किन नदियों पर सबसे पहिले बस्तियां बसाईं इस सम्बन्ध में भारी मतभेद है। इसी के साथ यह प्रश्न जुड़ा हुआ है कि संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता कौनसी है ? यूरोपीय विद्वान इसका अभी तक पूर्ण निश्चय नहीं कर पाये हैं। परन्तु उन्होंने अब तक की खोजों के आधार पर यह निश्चय कर लिया है कि सबसे पुरानी सभ्यता मिश्र अथवा मेसोपोटामिया की है। अभी तक उनका विश्वास था कि आदि मानव-सभ्यता का जन्म स्थल मिश्र देश है जो नील नदी की घाटी में बसा हुआ है और यहीं से सारे संसार में सभ्यता का प्रसार हुआ। परन्तु बाद में उन्होंने यह मत स्थिर किया कि संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता सुमेर की है। उनकी मान्यता है कि आज से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व अथवा इससे भी पहिले सुमेर में सभ्यता की अच्छी उन्नति हो चुकी थी जबकि उस समय मिश्र की छोटी छोटी रियासतें आपस में ही लड़ भगड़ रही थीं तथा सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था से गुजर रही थीं। इस प्रकार अब उनका विचार है कि सुमेर तथा बेबीलोनिया से ही सभ्यता का प्रसार मिश्र, असीरिया, सीरिया, तथा फिर यूरोपीय देशों में हुआ।

इन विद्वानों का यह भी विश्वास है कि ४००० ई० पू० के लगभग जब सुमेर तथा मिश्र में सभ्यता उन्नत अवस्था में पहुँच चुकी थी तब संसार के शेष भाग या तो पूरा पाषाण काल की जंगली अवस्था में थे अथवा नव-पाषाण काल के बर्बरता के युग से गुजर रहे थे। हटन वेब्स्टर नामक एक पाश्चात्य लेखक ने बड़ी दृढ़ता से लिखा है कि सभ्यता एक नई चीज है जिसका प्रारम्भ ६ या ६ हजार वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है और यह आरम्भ मिस्र तथा पश्चिमी एशिया की नदी घाटियों में हुआ। उस समय संसार के शेष भाग में जंगली तथा बर्बर मनुष्य निवास करते थे। किन्तु सुमेर और मिश्र के लोगों ने उस समय तक घुमन्तू अवस्था को पार करके नगर और ग्रामों की स्थापना कर ली थी। शिकारी और पशु पालक अवस्था को पारकर खेती करना और धातुओं का उपयोग करना सीख लिया था, व्यापार का भी आरम्भ कर दिया था तथा धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में भी प्रवेश कर लिया था। और फिर इससे भी आगे बढ़कर वास्तु (भवन निर्माण) कला, लेखन कला, गणित, ज्योतिष आदि विद्यायें भी उन्होंने सीख ली थीं।

पूर्वी देशों की सभ्यताओं को यूरोपीय विद्वान बहुत बाद की मानते हैं। भारत के सम्बन्ध में उनका विचार है कि यहाँ सभ्यता का आरम्भ ईसवी सन् से दो हजार वर्ष पूर्व

हुआ जब कि आर्य लोग इस देश में बाहर से आकर बसे। मोहनजोदड़ो और हरप्पा की खुदाइयों के बाद उनके विचारों में इतना तो परिवर्तन हुआ है कि भारत में कोई सभ्यता अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व विद्यमान थी, परन्तु वे सिंधु सभ्यता को प्राय भारत से बाहर की *मानते हैं—सुमेर, भूमध्य सागर अथवा यूरोप से आई हुई मानते हैं। अत* उनकी इस प्राचीन धारणा में कि संसार की सबसे पुरानी सभ्यता सुमेर, बेबीलोनिया अथवा मिस्र की है अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, तथा संसार भर के विद्वान, अधिकांश भारतीय विद्वान भी—इसी को मान्य करते हैं।

श्रेय पुरातत्त्व विदों को—

उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचने का कारण उक्त देशों में यूरोपीय पुरातत्त्वज्ञों द्वारा की गई वे खोजें हैं, जिनके कारण पुरातन काल की अनेक वस्तुएँ जो सहस्त्राब्दों से पृथ्वी के भीतर दबी पड़ी थीं प्रकाश में आईं तथा जिन्होंने इतिहासकारों को चकित कर दिया। वैज्ञानिक पुरातत्त्व का आरम्भ हुए यद्यपि अभी लगभग १०० वर्ष ही हुए हैं फिर भी उसके कारण अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ा है। भूगर्भ से प्राचीन काल की अनन्त वस्तुएं निकली हैं। इन्हीं खोजों के कारण सुमेर, मिश्र, क्रीट, शाम आदि अनेक देशों की सभ्यताओं पर प्रकाश पड़ा है। इन खोजों ने संसार के प्राचीन इतिहास की एक प्रकार काया ही पलट दी है तथा इतिहासकारों को अपने इतिहास फिर से लिखने के लिए विवश कर दिया है। सुमेर, बेबीलोन तथा मिश्र आदि देशों में पुरातत्त्वज्ञों द्वारा किस प्रकार उत्खनन कार्य किया गया, वहाँ क्या-क्या प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुईं तथा उनसे संसार के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा इसका विवरण सुमेर, बेबीलोनिया, मिश्र आदि की सभ्यताओं के सम्बन्ध में यथास्थान दे दिया गया है।

यूरोपीय इतिहासकारों का एकांगी दृष्टिकोण—

परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस दिशा में अधिकांश यूरोपीय इतिहासकारों तथा विद्वानों का दृष्टिकोण प्राय एकांगी ही है। उनकी दृष्टि प्राय यूरोप तक ही सीमित रहती है तथा उसी की दृष्टि से वे संसार के इतिहास को तथा संसार की सभ्यताओं के इतिहास को देखते हैं। यूरोप में सभ्यता का प्रसार रोम से तथा रोम में यूनान से हुआ। अत यूरोपीय विद्वान बहुत समय तक यूनान को ही सभ्यता का आदि गुरु मानते रहे। लगभग १०० वर्ष पूर्व तक उनका यही विश्वास था और चूंकि यूनान की सभ्यता लगभग ५००-६०० ई० पूर्व की अथवा अधिक से अधिक हजार आठ सौ वर्ष ई० पूर्व की मानी जाती थी (अब यह सभ्यता कुछ और पीछे तक अर्थात् डेढ़ दो हजार वर्ष ई० पू० तक पहुँच गई है) अत उनकी दृष्टि में सभ्यता का इतिहास भी ईसा से पाँच सात सौ वर्ष

पूर्व आरम्भ होता था। इसके पूर्व भी कोई सभ्यता रही होगी इसकी कल्पना भी वे लोग नहीं कर सकते थे। पश्चात् जब मिश्र की प्राचीन सभ्यता प्रकाश में आई तब वे मिश्र की सभ्यता का उद्गम स्थान मानने लगे और फिर सुमेरी सभ्यता को। इस प्रकार वे सभ्यता का प्रारम्भ ६०० ई०पू० होने के स्थान पर ६००० ई०पू० तक मानने लगे जिसका श्रेय पुरातत्त्वज्ञों की खोजों को है। वे यह भी मानने के लिये बाध्य हुए कि सभ्यता का प्रारम्भ पूर्व की ओर हुआ तथा उसका प्रवाह पूर्व से पश्चिम की ओर रहा है। हटन वेब्स्टर का कथन है कि हमारी अमेरिकन संस्कृति मुख्यतः ब्रिटिश द्वीपों से आई, अंग्रेजी संस्कृति यूरोपीय महाद्वीप से आई, यूरोपीय संस्कृति रोम से आई, रोम की संस्कृति यूनान से, यूनान की संस्कृति निकट पूर्व से मुख्यतः मिस्र, बेबीलोनिया तथा फिलिस्तीन से आई।, परन्तु सुमेर और बेबीलोनिया तक पहुँच कर ही उनकी दृष्टि रुक जाती है, क्योंकि उनका विचार है कि इस लम्बी यात्रा में सभ्यता उस प्राचीन तथा अन्धकारमय प्रागैतिहासिक युग तक पहुँच जाती है जिसके आगे वह सुदूर अतीत के कुहरे में लुप्त हो जाती है और जिसके आगे सभ्यता हो भी नहीं सकती, क्योंकि तब हम पाषाण काल में पहुँच जाते हैं जो जंगली तथा बर्बर अवस्था थी।

भारत के सम्बन्ध में भी इन विद्वानों का दृष्टिकोण प्रायः इसी प्रकार का रहा है। भारतीय सभ्यता की प्राचीनता को अधिकांश यूरोपीय विद्वान स्वीकार नहीं करते। जो करते भी हैं उनकी संख्या बहुत कम है तथा उनकी सम्मति को अधिक महत्त्व भी नहीं दिया जाता। रैप्सन और स्मिथ की मान्यता है कि आर्य लोग ईसा से अधिक से अधिक २४०० वर्ष से पहले भारत में आये। इसके पश्चात् ही उनके वेद आदि ग्रन्थ बने। परन्तु इस मान्यता के अनुसार भारतवासियों की सारी प्राचीन परम्पराएँ ही समाप्त हो जाती हैं। रामायण और महाभारत की घटनाओं के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता और रहता भी है तो इन घटनाओं को इसी काल के भीतर बिठाना पड़ता है। महाभारत की घटनाओं को अनेक यूरोपीय विद्वान तो सदिग्ध ही मानते हैं और जो उन्हें सत्य मानते भी हैं वे उनका काल १५०० ई०पू० के लगभग रखते हैं। फिर रामायण के काल के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि भारतीय परम्पराओं तथा पुराणों में वर्णित राजवंशों की नामावलियों के अनुसार भी रामायण की घटनाएँ महाभारत से बहुत पहले घटित हुईं और यदि रामायण को महाभारत से हजार आठ सौ वर्ष पूर्व भी ले जाते हैं तो आर्यों के दो हजार ई० पू० के लगभग भारत में आने का सिद्धान्त असत्य ठहरता है। फिर इन विद्वानों की—और उन्हीं का अनुसरण करते हुए अनेक भारतीय विद्वानों की भी धारणा है कि महाभारत युद्ध के बाद ही आर्य लोग पूरब की ओर बढ़े और गंगा-यमुना होते हुए अयोध्या तक पहुँचे। अतः अयोध्या में आर्य राज्य स्थापित

होने का काल बहुत पश्चात्‌वर्ती हो जाता है—एक हजार ईसवी पूर्व के लगभग और इस काल में रामायण की घटनाओं को बिठाना सम्भव नहीं होता। अतः लासन, वेबर, मेक्डानल, कीथ और क्रिकोरी आदि विद्वान रामायण को केवल एक कल्पित घटना मान कर छुट्टी पा जाते हैं। आश्चर्य यह है कि ये विद्वान अन्य अनेक बातों में पुराणों की वंशावलियों को प्रमाण मानने लगे हैं, परन्तु राम और दशरथ के सम्बन्ध में, रघु और अज के सम्बन्ध में वे इन वंशावलियों को प्रमाण नहीं मानते।

यद्यपि उक्त मत के कि आर्य लोग भारत में बाहर से आये तथा डेढ़ दो हजार अथवा अधिक से अधिक २४०० वर्ष पूर्व आये—यूरोप में भी कुछ यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान हैं। परन्तु उक्त पूर्व मत के पक्ष में इतना प्रबल बहुमत है, इतने अधिक यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान हैं कि विरोधी मत रखने वालों को आज तक कोई महत्व प्राप्त नहीं हो सका है तथा एक प्रकार से आर्यों के बाहर से आने तथा ईसा से डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रवेश करने के सिद्धान्त सर्वमान्य ही हो चुके हैं। सम्भवतः भारतीय विद्वान इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाने का इस कारण भी साहस नहीं करते कि ऐसा करने से उन पर इतिहास से अनभिज्ञता की छाप लगने का डर है।

लेखक का दृष्टिकोण —

प्रस्तुत पुस्तक का लेखक भी इतिहास का एक विद्यार्थी रहा है तथा इतिहास से उसे प्रेम रहा है। यूरोप के इतिहास से भी उसे प्रेम रहा है तथा यूरोप के इतिहास पर उसने एक ग्रन्थ भी लिखा था उस समय जबकि हिन्दी में यूरोपीय इतिहास पर अन्य कोई पुस्तक न थी। आर्यों के बाहर से आने तथा डेढ़ दो हजार वर्ष ई० पू० में आने के सिद्धान्त लेखक को कभी जँचे नहीं। उसने दोनों पक्षों के साहित्य का काफी अध्ययन भी किया है, किन्तु उसे उन विद्वानों के तर्क ही अधिक युक्तिसंगत तथा मान्य दिखाई देते हैं जो यह मानते हैं कि आर्य लोग कहीं बाहर से भारत में नहीं आये तथा उनकी सभ्यता काफी पुरानी है। लेखक आर्य-सभ्यता का अनुचित पक्षपाती नहीं। यह पुस्तक प्रारम्भ करते समय भी उसका दृष्टिकोण आर्य सभ्यता के प्रचारक का नहीं, बल्कि एक इतिहास लेखक का ही था। किन्तु जब लेखक ने सुमेर, असीरिया, शाम, मिस्र आदि देशों की प्राचीन सभ्यताओं का थोड़ा बहुत अध्ययन किया और इन देशों के प्राचीन इतिहास में भी लेखक को ऐसे ही प्रमाण अधिक मिले जिनसे यह सिद्ध होता है कि उक्त देशों की सभ्यताओं पर भारत का प्रभाव ही नहीं पड़ा, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि ये सभ्यतायें प्राचीन भारत के ही लोगों द्वारा स्थापित की गई हैं तो उसे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा तथा आर्य सभ्यता को उचित स्थान देना आवश्यक जान पड़ा। अवश्य ही अन्य देशों ने भी कुछ विशेष बातों में

उन्नति की होगी यथा सुमेर में स्थापत्य कला अधिक उन्नत हो सकती है तथा असीरिया में मूर्तिकला, किन्तु भारतीय सभ्यता अनेक बातों में उक्त सभ्यताओं से अधिक प्राचीन जान पड़ती है। सुमेर, असीरिया, मिस्र आदि देशों की प्राचीन परम्परायें भी इस मत का समर्थन करती हैं। फिर बोगज कोइ का अभिपत्र तथा मितन्नी का इतिहास तो यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध करता है कि ईसा से डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व आर्य लोग वहाँ—एशिया के पश्चिमी छोर पर पहुँच ही नहीं चुके थे बल्कि अपने राज्य भी स्थापित कर चुके थे। वहाँ के एक राजा का नाम "दशरथ" भी था जो नाम आश्चर्यजनक ही नहीं, यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि वे लोग आर्य ही थे तथा यह भी कि वे लोग भारत से ही वहाँ पहुँचे, मध्य एशिया अथवा संसार के अन्य किसी कोने से नहीं। मितन्नी का यह "दशरथ" एक ऐतिहासिक पुरुष है इसमें भी संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उसका नाम मिस्र के इतिहास में भी मिलता है। उसने मिस्र के राजाओं से संधियाँ ही नहीं की, उनके साथ वैवाहिक सम्बंध भी किये थे। यह दशरथ नाम यह भी सिद्ध करता है कि डेढ़ दो हजार वर्ष ई० पू० से भी पहले भारत में दशरथ नाम का कोई राजा हो चुका था और वह इतना प्रतापी तथा प्रसिद्ध था कि जो आर्य भारत से बाहर गये वे उस नाम का आदर करते थे तथा मितन्नी में राज्य-स्थापन के पश्चात् एक राजा ने दशरथ नाम रखना अपने लिए गौरवपूर्ण समझा—अथवा उसके पिता ने उसका यह नाम रखने में गर्व का अनुभव किया। मितन्नी के ये राजा आर्य ही थे तथा वे सम्भवतः भारत से ही गये थे यह बात कई यूरोपीय विद्वानों को भी विवश होकर मान्य करनी पड़ी है। इस विषय में अधिक प्रकाश पुस्तक के अंतिम अध्याय में डाला गया है।

मितन्नी के इतिहास के समान ही बोगज कोइ (तुर्की की राजधानी अंगोरा के पास एक स्थान) के पट्टिका लेख भी महत्वपूर्ण हैं। इ ही में मितन्नी तथा हित्ताई राजाओं के बीच हुआ वह संधि पत्र है, जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यों का संधिपत्र के साक्षी रूप में आवाहन किया गया है तथा जो १४वीं शताब्दी ई० पू० का है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व आर्य लोग भारत से एशिया माइनर में पहुँच चुके थे। तथा वे वैदिक देवताओं को तब तक मानते थे। इस लेख से यूरोपीय विद्वानों की यह धारणा भी भ्रान्त सिद्ध होती है कि ऋग्वेद का निर्माण १२०० ई० पू० में अथवा उसके पश्चात् हुआ। यह कहने की आवश्यकता नहीं—यूरोपीय विद्वानों ने भी इसे माना है—कि उक्त संधिपत्र में वर्णित सभी देवता वैदिक हैं जिनका वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आता है। इन्द्र तो विशेषकर ऐसा देवता है जो भारतीय आर्यों का ही है। अतः स्पष्ट है कि ये संधिकर्ता अर्थात् मितन्नी तथा

खिनाइ राजा भारतीय आर्यों के ही वशज हो सकते हैं जो उस समय तक वैदिक धर्म में आस्था रखते थे। यह भी स्पष्ट है कि इनके पूर्वज आर्यों को भारत से वहाँ तक पहुँचने में तथा वहाँ अपना राज्य स्थापित करने में अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी और १४ वीं शताब्दी ई० पू० के संधि पत्र में इन्द्रादि देवताओं के नाम होना यह भी प्रकट करता है कि ऋग्वेद का निर्माण भी उस काल से १४०० ई० पू० से बहुत पूर्व हो चुका होगा। खेद यही है कि उक्त दोनों बातों—मितन्नी का इतिहास तथा बोगज़ कोई का लेख—को जितना महत्व प्राप्त होना चाहिए था, वह आज तक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस प्रकार आज के मान्य सिद्धान्त—आर्य लोग बाहर से भारत में आये, वे डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व यहाँ आये, ऋग्वेद की रचना १२०० ई० पू० के लगभग हुई—यदि भारतवर्ष के इतिहास से असत्य सिद्ध न भी किये जा सकते हों तो भी वे पश्चिमी एशियाई देशों सुमेर, असुर, शाम, मितन्नी आदि के इतिहास से भ्रान्त तथा असत्य सिद्ध होते हैं। इस पुस्तक का कम से कम इतना महत्व तो समझा जाना ही चाहिए। वैसे यह इस पुस्तक के लेखक की कोई मौलिक खोज नहीं है। श्री अविनाशचन्द्र दास "ऋग्वेदिक इण्डिया" तथा "ऋग्वेदिक कल्चर" में विस्तारपूर्वक इन बातों पर प्रकाश डाल चुके हैं कि आर्य लोग कहीं बाहर से भारत में नहीं आये, बल्कि यहीं से वे अन्य देशों में गये तथा उन्होंने वहाँ अपनी सभ्यता का प्रसार किया। श्री सम्पूर्णानन्द का भी यही मत रहा है। श्री दास तथा श्री सम्पूर्णानन्द दोनों का मत है कि सुमेर, मिस्र आदि की सभ्यताओं के संस्थापक भारत के ही प्राचीन आर्य लोग थे जो बहुत प्राचीन काल में धार्मिक मतभेद तथा अन्य कारणों से अर्थात् संग्राम में पराजित हो जाने के कारण इस देश से बाहर चले गये थे। सुमेर, असुर, मिस्र आदि देशों की परम्परायें भी इसी मत का समर्थन करती हैं।

लेखक की यह धारणा है कि विद्वानों ने संसार की तथा विशेषत भारत की सभ्यता के आरम्भ का जो काल निर्धारित कर रखा है उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। यह बताया जा चुका है कि लगभग १०० वर्ष पूर्व यूरोपीय विद्वानों का विचार था कि संसार के किसी भी देश की सभ्यता ईसा से पाँच सात सौ वर्ष पूर्व से अधिक पुरानी नहीं। फिर जब मिस्र तथा सुमेर में ३ ४ हजार वर्ष ई० पू० के सुदृढ़ प्रमाण मिले तब वे सभ्यता का प्रारम्भ ईसा से ४ ५ हजार वर्ष पूर्व तक मानने लगे। परन्तु भारत की सभ्यता की प्राचीनता में उन्हें अब भी शंका है तथा वे सुमेरी सभ्यता को ही संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता मानते हैं। इससे पूर्व वे किसी सभ्यता को नहीं ले जाना चाहते। इस संकुचित दृष्टिकोण का एक कारण जो विद्वानों ने सुझाया है तथा जो ठीक भी जान पड़ता है, यह है कि यहूदियों की प्राचीन धर्म पुस्तक "ओल्ड टेस्टामेंट" में जिसका ईसाई धर्म पर

काफी प्रभाव पड़ा है—सृष्टि के प्रारम्भ की मर्यादा ६ ७ हजार वर्ष ही मानी गई है। ओल्ड टेस्टामेंट के अनुसार सृष्टि का आरम्भ जल-प्रलय की घटना से १६५६ वर्ष पूर्व हुआ था और जल-प्रलय हजरत इब्राहीम के समय से ३६५ वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ इब्राहीम से लगभग २ हजार वर्ष पूर्व हुआ। ओल्ड-टेस्टामेंट के यूनानी संस्करण में उक्त दोनों घटनाओं में सात सात सौ अथवा आठ-आठ सौ वर्ष का अथवा कुल १५ १६ सौ वर्ष का अन्तर है। अर्थात् यूनानी बाइबिल के अनुसार सृष्टि का आरम्भ इब्राहीम से लगभग ३॥ हजार वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। इब्राहीम का समय लगभग २ हजार वर्ष ई० पू० माना जाता है। इस प्रकार यूनानी मत के अनुसार भी सृष्टि का आरम्भ ५-५॥ हजार से अधिक पूर्व का नहीं ठहरता। बाइबिल का प्रभाव प्रायः सभी यूरोपीय निवासियों पर रहा है। अतः वे सृष्टि की कल्पना ७-७॥ हजार वर्ष से अधिक की नहीं कर सकते थे तथा सभ्यता का प्रारम्भ ४ ५ हजार वर्ष से पहिले मानने के लिये तैयार नहीं थे। मिस्र तथा मेसोपोटामिया की खुदाइयों के फलस्वरूप उन्हें यह मानना पड़ा कि वहाँ सभ्यता का आरम्भ अब से ६-७ हजार वर्ष पूर्व हो चुका था।

परन्तु वैज्ञानिकों तथा भूगर्भ शास्त्रियों ने आज सृष्टि का जो हिसाब लगाया है उसके अनुसार पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष मानी जाती है तथा आदिम मनुष्य का जन्म भी ६ लाख वर्ष पूर्व का माना जाता है तथा यह भी माना जाता है कि ३०-४० हजार वर्ष पूर्व का मानव आज जैसी ही आकृति धारण कर चुका था। ऐसी अवस्था में उसे सभ्यता की ओर बढ़ने में भी अधिक समय नहीं लगा होगा। कुछ लेखकों ने कृषि का आरम्भ १५ हजार ई० पू० के लगभग माना है, परन्तु अनुमानतः कृषि का प्रारम्भ इससे बहुत पूर्व हो चुका होगा।

भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है—यूरोपीय विद्वानों का दृष्टिकोण प्रायः अनुदार रहा है। किन्तु भारतीय परम्परा इसके विपरीत भारतीय सभ्यता को कई सहस्र वर्ष पुरानी तथा संसार की अन्य सब सभ्यताओं से भी पुरानी मानती है। लोकमान्य तिलक ने भी ऋग्वेद का निर्माण-काल ईसा से ४ ५ हजार वर्ष पूर्व का, तथा भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ उससे भी पूर्व का माना है। श्री अविनाशचन्द्र दास के अनुसार तो भारतीय सभ्यता २५-३० हजार वर्ष पुरानी है। यदि ऐसा हो तो इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है। कुछ यूरोपीय विद्वान मेसोपोटामियाँ सुमेर आदि की सभ्यता को ८ हजार वर्ष पुरानी भी मानने लगे हैं तथा भारतीय सभ्यता उससे भी पुरानी सिद्ध होती है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि सभ्यता का प्रारम्भ कई स्थानों पर गंगा सिन्धु दजला-फरात, नील आदि नदियों के तट पर एक साथ हुआ होगा। किन्तु यह

इतिहास और अनुमान :—

यह सत्य है कि इतिहास सत्य पर आधारित है तथा आज का वैज्ञानिक युग सत्य उसी को मानता है जो दृश्य हो तथा जिसकी सत्ता वैज्ञानिक आधारों पर सिद्ध की जा सके। इसी कारण इतिहास वही माना जाता है जो शिला-लेखों, पट्टिका-लेखों, ताम्र पत्रों, सिक्कों आदि पर आधारित हो अथवा भवनों के अवशेष आदि के रूप में जिसके चिह्न विद्यमान हों। केवल अनुश्रुतियों, कल्पनाओं अथवा अनुमानों पर लिखा इतिहास प्रामाणिक नहीं माना जाता। यूरोपीय विद्वान भारत की सभ्यता को अधिक प्राचीन मानने के लिये इसी कारण तैयार नहीं कि यहाँ सभ्यता को प्रमाणित करने वाले सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होते। फिर भी जहाँ उपयुक्त ठोस प्रमाण उपलब्ध न हों वहाँ अनुमान तथा कल्पना का भी सहारा लेना पड़ता है तथा विद्वान लोग उसे मान्य भी करते हैं। आर्य लोग भारत में बाहर से आये तथा वे ईसा से डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व यहाँ आये यह मत प्राय सर्वमान्य हो चुका है। जो लोग इस मत के विरोधी हैं उनके मत को महत्व प्राप्त नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त मत के पक्ष में कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। केवल अनुमानों पर ही उक्त मत स्थिर किया गया है। जिन आधारों पर उक्त मत का समर्थन किया जाता है वैसे आधार उसके विपक्ष में भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। कहा जा सकता है कि उक्त मत अभी विवाद की कोटि से बाहर नहीं है, किन्तु उक्त मत अधिकांश यूरोपीय विद्वानों में तथा भारतीय विद्वानों से भी मान्यता प्राप्त कर चुका है। मैक्समूलर का यह मत कि ऋग्वेद की रचना १२०० ई० पू० में अथवा उसके पश्चात् हुई भी ऐसा ही है। उनका मत केवल अनुमानों पर ही आधारित है। इनसे अधिक प्रामाणिक लोकमान्य तिलक का मत माना जाना चाहिये जो कि ज्योतिष पर आधारित है।

यह भी कहना अनुचित न होगा कि आर्यों की आदि भूमि मध्य एशिया होने का सिद्धान्त अथवा एक भाषा परिवार सिद्धान्त—जिसके अनुसार भारत, ईरान, यूनान तथा यूरोप के अन्य देशों में कुछ भाषा साम्य देखकर यह मान लिया गया है कि इन समस्त भाषा भाषियों के पूर्वज प्रारम्भ में एक ही स्थान पर रहे होंगे वास्तव में अत्यन्त निर्बल अनुमानों पर आधारित है। इसके विपक्ष में यह भी तो कहा जा सकता है कि उक्त देशों में भाषा साम्य का कारण यह है कि भारत से ही बहुत प्राचीन काल में आर्य लोग उन समस्त देशों में पहुँचे थे। अतः आर्यों की भाषा संस्कृत का उन समस्त देशों की भाषाओं पर प्रभाव है। बहुत से शब्दों की मूल धातुएँ एक हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि आर्यों को भारत का ही आदिवासी मानने से अनेक शंकाएँ रह जाती हैं जिनका समाधान नहीं होता। किन्तु आर्यों की आदि भूमि मध्यएशिया मानने में तो उससे भी अधिक शंकायें रह जाती हैं जिनका सन्तोषजनक समाधान यूरोपीय विद्वान आज तक नहीं कर पाये हैं तथा आज भी नये नये सिद्धान्त इस सम्बन्ध में निकलते जा रहे हैं।

तात्पर्य जहाँ ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते वहाँ अनुमान तथा कल्पना का भी सहारा ना ही पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को भी अनेक स्थानों पर अनुमानों का आश्रय लेना पड़ा है, परन्तु ऐसे अनुमान नितान्त निराधार नहीं है। फिर लेखक का मा आग्रह भी नहीं है कि वह जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है वे ही सत्य हैं। वास्तव में सा दावा कोई इतिहासकार कर भी नहीं सकता। लेखक का इतना ही कथन है कि ार्यों की आदि भूमि भारत मानने की कल्पना पूर्व म कई विद्वान कर चुके हैं। लेखक ो विदेशों के प्राचीन इतिहास से भी ऐसे कुछ प्रमाण मिले जिनसे उक्त मत का समर्थन ोता है। अत उक्त कल्पना अधिक मान्य की जानी चाहिये।

ारत में विश्वसनीय प्रमाणों का अभाव –

यह बात अवश्य कही जा सकती है कि जिस प्रकार सुमेर, बाबुल, मिस्र आदि में ाहाँ की प्राचीन सभ्यता के अनेक अवशेष तथा स्मारक मिलते हैं, पत्थरों पर कारीगरी े नमूने, अनेक प्रकार के बर्तन पशुओं और मनुष्यों के चित्र, भवनों और मन्दिरों के खण्डहर तथा उन भवनों और मन्दिरों के बनवाने वाले राजाओं के नाम भी ईंटों पर खुदे हुए मिलते हैं अथवा पत्रों में अनेक प्रकार की वस्तुएँ मिलती हैं, तथा राजाओं के नाम भी लिखे मिलते हैं, उस प्रकार के अवशेष भारत में नहीं मिलते। न कोई अधिक प्राचीन खण्डहर मिलते हैं, न राजाओं के नाम की ईंटें, न प्राचीन कारीगरी की वस्तुएँ, न कोई प्राचीन सिक्के या शिला लेख। ऐसे प्रमाण इतिहास तथा पुरातत्व की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण समझे जाते हैं तथा विश्वसनीय भी। भारत तथा सुमेर में यह अन्तर बहुत स्पष्ट है।

भारत के पुराणों में दी हुई राजाओं की वंशावलियों के समान सुमेरी राजाओं की भी वंशावलियाँ वहाँ के प्राचीन लेखों में मिलती थीं। किन्तु पौराणिक नामावलियों के समान पाश्चात्य विद्वान उन्हें प्रामाणिक न मानते थे, उनकी सत्यता में शंका करते थे, परन्तु जब उर तथा अन्य स्थानों की खुदाई म कुछ राजाओं के नाम ईंटों तथा अन्य वस्तुओं पर अंकित मिले तब उन नामों की सत्यता तथा ऐतिहासिकता स्वीकार करनी पड़ी। ऐसा ही एक नाम मेसन्नीपाद है जो एक ईंट पर खुदा हुआ मिला तथा जिसने उसके सम्बन्ध में समस्त सन्देह को दूर कर दिया। किन्तु किसी प्राचीन भारतीय राजा का नाम इस प्रकार किसी ईंट अथवा पत्थर पर खुदा हुआ नहीं मिला। यदि महाभारत काल के किसी एक राजा का ऐसा कोई स्मारक प्राप्त हो जाता—युधिष्ठिर, दुर्योधन, जयद्रथ अथवा अन्य किसी राजा का नाम कहीं मिल जाता—तो महाभारत तथा तत्कालीन योद्धाओं के सम्बन्ध में समस्त सन्देह दूर हो जाता तथा महाभारत एव उसके पात्रों के सम्बन्ध में आज जो अनेक विवाद चलते रहते हैं वे समाप्त हो जाते।

उक्त तर्क तथ्यपूर्ण अवश्य है परंतु जब हम तत्कालीन समस्त परिस्थितियों पर तथा कारणों पर विचार करते हैं तो इन शंकाओं का बहुत कुछ निवारण हो जाता है। भारत में प्राचीन स्मारक या अवशेष न मिलने का एक कारण यह हो सकता है कि जिस प्रकार प्राचीन आर्य अथवा देवगण आध्यात्मिकता का अधिक महत्व देते थे, उसी प्रकार असुरगण जिनके वंशज अधिकांश में बाहर जाकर उन देशों की सभ्यताओं के संस्थापक बने—भौतिकता की ओर अधिक ध्यान देते थे। हमारे ऋषियों ने जीवन तथा जगत को कभी महत्व नहीं दिया, उसे क्षणभंगुर समझा। अतः उन्होंने तथा उनके शिष्य आर्य राजाओं ने अपनी सफलताओं को, अपनी कीर्ति को ईंट पत्थरों पर अंकित कराना अवांछनीय समझा होगा। इस सम्बन्ध में हम चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के भारत के यूनानी राजदूत मेगस्थनीज का यह कथन प्रमाण मान सकते हैं—"यह भी कहा जाता है कि भारतीय लोग मृतकों के स्मारक नहीं बनवाते, बल्कि उन सद्गुणों को अधिक महत्व देते हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन में प्रदर्शित किया हो और वे उन गीतों को, जिनमें उनके कार्यों की प्रशंसा की गई हो—उनकी मृत्यु के बाद उनकी कीर्ति को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त मानते हैं।"

—(एनशण्ट इण्डिया मेक् क्रिंडल फ्रेगमेन्ट २४)

यह भी सम्भव है कि सुमेर बाबुल आदि के समान प्राचीन भारत में ईंट पत्थर आदि के मकान कम बनते हों—यद्यपि ऋग्वेद में उनका वर्णन मिलता है तथा गरम मौसम के कारण या अन्य किसी कारण से लकड़ी के मकान मन्दिर आदि बनाना अधिक उपयुक्त समझा जाता हो। इस सम्बन्ध में फिर हम मेगस्थनीज से समर्थन प्राप्त कर सकते हैं जो कहता है—"उनके नगरों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनकी संख्या इतनी अधिक है कि जिनकी गणना ठीक ठीक करना कठिन है। किन्तु ऐसे नगर जो कि नदियों के किनारे पर अथवा समुद्र के किनारे पर बसे हुए हैं वे लकड़ी के बने हैं। यदि वे ईंट के बनाये जायें तो अधिक स्थायी नहीं होते, क्योंकि यहाँ की वर्षा और नदियों की बाढ़ें, जो मैदानों को भर देती हैं, इतनी अति अधिक विनाशकारी होती हैं। किन्तु जो नगर उच्च स्थिति में हैं तथा ऊंचाई पर बसे हुए हैं वे ईंट और गारे के बनाये जाते हैं।

—(एनशण्ट इण्डिया—फ्रेगमेन्ट २०६)

श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के कथन से भी उक्त अनुमान का समर्थन होता है। उन्होंने लिखा है—जंगलों के कारण लकड़ी भी इफरात थी और इसीलिये बहुत जमाने तक इमारतें लकड़ी की ही बनाई जाती थी। इस बात का प्रमाण है कि आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० तक राजाओं के महल तक लकड़ी के बनाये जाते थे।

—(भारत भूमि और उसके निवासी पृष्ठ ३६)

प्राचीन भारत में मन्दिर भी प्राय काष्ठ के बनते थे। शिल्पकला में भी प्राय काष्ठ का उपयोग होता था, क्योंकि कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये काष्ठ पत्थर की अपेक्षा अच्छा समझा जाता था। पटना संग्रहालय में ऐसे बहुत से काष्ठावशेष रखे बताये जाते हैं।

यह सम्भव है कि आर्य देवगणों की अपेक्षा असुर आदि जातियों ने भवन निर्माण कला का अधिक विकास किया हो तथा पत्थर आदि के अधिक स्थायी भवन बनाने की ओर ध्यान दिया और अपनी इस विशेषता को वे अपने तथा बाहर के देशों में ले गये हों।

सिन्धु घाटी की खुदाई में मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा तथा लोथल आदि में अच्छे-अच्छे भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये नगर प्राय असुर सभ्यता के ही अवशेष माने जाते हैं। इन्हीं के वंशजों ने सुमेर, बाबुल में पहुँचकर पक्के मकान बनाये जिनके अवशेष अब तक मिलते हैं। किन्तु भारत में आर्य अथवा देव लोगों की सभ्यता में ऐसे पक्के भवनों को महत्व न दिया जाता होगा और इसी कारण उनके कुछ अवशेष भी नहीं मिलते।

भारत में प्राचीन अवशेष प्राप्त न होने का कारण और हो सकता है। सुमेर, बाबुल मिस्र आदि छोटे स्थान हैं और वहाँ पुराने स्थल अधिकांश में खोदे जा चुके हैं, क्योंकि वहाँ यह कार्य एक शताब्दी से अधिक समय से हो रहा है और ऐसे लोगों द्वारा किया गया है जिन्होंने केवल ऐतिहासिक जिज्ञासा की शांति में तथा ऐतिहासिक खोज में ही अपना धन तथा समय लगाया। किन्तु भारत में उत्खनन कार्य इसी शताब्दी में लार्ड कर्ज़न द्वारा पुरातत्व विभाग की स्थापना किये जाने के बाद ही प्रारम्भ हुआ तथा यह कार्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा किया गया जिनमें न उतनी जिज्ञासा थी—न उतनी लगन। उनकी बड़ी सफलताओं में केवल मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयाँ ही गिनाई जाने योग्य हैं और इन स्थानों की खोज भी अकस्मात् ही एक अन्य कार्य के सम्बन्ध में हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उत्खनन-कार्य की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया गया है तथा कुछ अशासकीय संस्थाओं की ओर से भी यह कार्य आरम्भ किया गया है। इसके फलस्वरूप पंजाब, मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों पर—रोपड़, हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, अहिच्छत्र, कौशाम्बी आदि में—कुछ आशाजनक परिणाम भी निकले हैं। परन्तु वास्तव में अभी कार्य बहुत थोड़ा ही हुआ है। क्या आश्चर्य है कि देश में अनेक ऐसे स्थल विद्यमान हों जो देश के प्राचीन स्मारकों को अपने गर्भ में छिपाये पड़े हों, जहाँ के प्राचीन गौरवशाली अवशेष अब भी किसी फावड़े की प्रतीक्षा कर रहे हों। क्या आश्चर्य है—भविष्य में अधिक उत्खनन के फलस्वरूप कुछ ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ जिनसे भारत की प्राचीन सभ्यता पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सके।

हमारा साहित्य भण्डार—

यद्यपि भारत की प्राचीन सभ्यता के ठोस प्रमाणों के रूप में प्राचीन भवन, शिला लेख, ताम्रपत्र आदि अभी तक यहाँ पर्याप्त संख्या में प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु भारत के पास उसकी प्राचीन सभ्यता का द्योतक एक ऐसा भंडार विद्यमान तथा सुरक्षित है जैसा संसार के अन्य किसी देश के पास नहीं। वह है हमारा विशाल तथा समृद्ध साहित्य भण्डार। वास्तव में तो हमारे ग्रन्थ—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद सूत्र ग्रन्थ, वेदांग आदि तथा पुराण भी पत्थर एवं धातुओं के स्मारकों से अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने चाहियें, क्योंकि उनमें हमारी प्राचीन सभ्यता का विस्तृत तथा सजीव चित्रण विद्यमान है। बिहार राज्य के पूर्व राज्यपाल श्री माधव हरि अणे ने एक बार कहा था—"ईंटों और ठीकरों से भारतीय इतिहास की खोज हास्यास्पद है—वास्तव में भारतीय इतिहास तो वेदों पुराणों और उपनिषदों में से ही मिल सकता है।" हमारे वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ और ऋग्वेद तो संसार के पुस्तकालय की सबसे प्राचीन पुस्तक मानी ही गई है। प्राचीनता तथा अनुपमेय महानता के कारण ही वास्तव में ऋग्वेद मानव रचित न माना जाकर ईश्वर दत्त अथवा अपौरुषेय माना जाता है। केवल इस एक ऋग्वेद में ही हमारी प्राचीन सभ्यता सम्बन्धी इतनी प्रचुर तथा अगाध सामग्री भरी हुई है जिससे उस अत्यन्त प्राचीन काल का सम्पूर्ण इतिहास निर्माण हो सकता है। हमारे रहन सहन, आचार विचार, सामाजिक और धार्मिक जीवन का प्रतिबिम्ब ऋग्वेद में दर्पण की भाँति देखा जा सकता है। यह हमारे प्राचीन इतिहास एवं प्राचीन सभ्यता का दर्पण है।

किन्तु यूरोपीय विद्वानों की कुछ भ्रान्त धारणाओं के कारण तथा भारत के प्रति अनुदार दृष्टिकोण के कारण हमारे इस अनुपम साहित्य भण्डार को वह महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका है जो प्राप्त होना चाहिए था। यूरोपीय विद्वानों एवं इतिहासकारों की दृष्टि में यहूदियों का ओल्ड टेस्टामेन्ट भी भारत के ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसे ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन भी मानते हैं। उसे आधार मानकर उन्होंने पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के प्राचीन इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता ली है, किन्तु ऋग्वेद को वे भारत की प्राचीन सभ्यता के लिये प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह बहुत बाद की रचना है।

भारतीयों के एक दल का दृष्टिकोण —

अधिक आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं हमारे देश के विद्वानों के दल ने ही वेदों के सम्बन्ध में कुछ विचित्र सा दृष्टिकोण बना रखा है। यह दल 'निसर्गरक्षक' दृष्टिकोण रखता है तथा वेदों की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए भी वह भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में उसे प्रमाण नहीं मानता। यह दल ऋषि दयानन्द के विचारों से

प्रभावित समझा जाता है। वे वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। अतः उनमें इस लोक की कोई बात हो ही नहीं सकती। फिर उसमें इस देश की नदी पहाड़ों का, राजाओं तथा युद्धों का वर्णन कैसे हो सकता है? इनकी मान्यता है कि ऋग्वेद आदि में कोई इतिहास नहीं है तथा यदि कोई इतिहासकार वेदों में पुराने सन्दर्भ देखकर भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में कोई खोज करते हैं तो ये विद्वान उसे वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं, बल्कि अनर्थ करना बताते हैं तथा उन इतिहासकारों को अनभिज्ञ ठहराते हैं।

इतना तो अवश्य सत्य है कि वेद, ब्राह्मण आदि इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखे गये, भौतिक इतिहास को सुरक्षित रखना उनका उद्देश्य भी नहीं रहा, किन्तु यह भी सत्य है कि ऋग्वेद में तथा अन्य वेदों में ऐसे शब्द तथा संकेत मिलते हैं जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास में पर्याप्त सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो उसमें सामाजिक व्यवस्था का ऐसा वर्णन मिलता है कि जिससे तत्कालीन समाज का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

ये वर्णन तथा नदियों, पहाड़ों, नगरों, राजाओं आदि के नाम इतिहास के ही उपकरण हैं तथा इतिहासकारों की दृष्टि में काफी महत्व रखते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में जब "पुर" शब्द आता है तो हम समझ सकते हैं कि उस काल में दुर्गयुक्त अथवा सुदृढ़ परकोटे से घिरे हुए नगर भी विद्यमान थे, समुद्र की भयंकर तरंगों की उपमा कई स्थानों पर मिलने से यह समझा जा सकता है कि उस समय के लोग समुद्र से भी भलीभाँति परिचित थे। 'सूची" (सुई) का नाम आने से सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय सुई भी विद्यमान थी जिससे कपड़े सीये जाते होंगे तथा यह सूची किसी धातु की ही बनती होगी। निष्क" से यह समझा जा सकता है कि सोने के आभूषण भी बनते थे तथा निष्क का व्यवहार सिक्के के रूप में भी होता था। इसी प्रकार प्राचीन सभ्यता की अनेक बातें ऋग्वेद से प्राप्त होती हैं।

दोनों पक्षों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है वह ऋग्वेद म० १० सू० ७५ के ७ मन्त्रों से भलीभाँति स्पष्ट होता है। इन नदियों मन्त्रों में 'गंगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्रि (सतलज) परुष्णी (रावी), असिक्नी (चनाब), मरुद्वृधा (व्यास), वितस्ता (झेलम) आदि तथा दूसरे श्लोक में सिन्धु कुभा (काबुल), गोमती, क्रमु आदि नदियों के नाम आते हैं। सूक्त में नदियों का ही देवता बताया गया है फिर भी निरुक्त पक्ष के विद्वान कहते हैं कि गंगा यमुना आदि नदियों और देशों का वर्णन वेद में नहीं है। वेद के शब्दों को नदीवाचक तथा नगर और देशवाचक समझना वेद मन्त्रों पर बलात्कार है। अपार समान देश पर उनमें इतिहास की कल्पना करना बड़ा भ्रामक है। जब तक वेद में से कोई सम्बद्ध इतिहास और सुसम्बद्ध भूगोल का ज्ञान नहीं मिल सके, तब तक वेद के भिन्न-भिन्न स्थान से सम्बन्धित नदियों और नगरों के नामों को देख कर उसमें इतिहास निकालने

का मत व्यक्त करना वेद-साहित्य में अपनी अनभिज्ञता दर्शाना है। (ऋग्वेद संहिता, आर्य साहित्यमण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित भाष्य भूमिका)।

यह दृष्टिकोण विचित्र ही नहीं, संकुचित तथा एकांगी भी जान पड़ता है। मंत्रों में आये हुए सभी शब्द नदियों के नाम हैं, स्वयं वेदोंमें ही यह भी लिखा है कि इस सूक्त की 'देवता' नदियाँ हैं फिर भी यह कहना कि इन शब्दों का मुख्यार्थ नदियों के प्रति संगत न होने से ये शब्द नदीवाचक नहीं हैं, अथवा ये नदियों के नाम नहीं हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यह सत्य है कि वेद के शब्दों के एक से अधिक अर्थ किये जा सकते हैं, एक एक मंत्र के चार प्रकार से अर्थ विद्वानों ने किये हैं, उपर्युक्त नदी सूक्त के भी कई अर्थ किये जा सकते हैं, कोई उसे आध्यात्मिक पक्षमें लेते हैं, कोई राष्ट्रीय पक्ष में। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि प्रत्येक शब्द का दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है जैसे अजमेर भाष्य में गंगा यमुना आदि सब देह की नाड़ियाँ मानकर गंगा का अर्थ इड़ा नाड़ी, यमुना का अर्थ पिंगला नाड़ी और सरस्वती का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी किया गया है तथा इसी प्रकार सिन्धु का अर्थ आत्मा, तथा अन्य शब्दों का अर्थ भी विभिन्न नाड़ियाँ बताया गया है। ऐसा अर्थ करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ये नाम नदियों के नहीं हैं जबकि वेद में ही उन्हें नदी सूक्त बताया गया है। इतिहासकारों का तात्पर्य इतने से ही सिद्ध हो जाता है कि ये नाम नदियों के हैं क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि उस समय आर्यों का विस्तार इन नदियों तक था तथा वे लोग नदियों से परिचित थे।

यह तो सभी जानते हैं कि वेद कोई इतिहास अथवा भूगोल के ग्रन्थ नहीं हैं जिनमें देश का कोई क्रमबद्ध इतिहास अथवा सुसम्बद्ध भूगोल मिल जायगा किन्तु वेद में अनेक ऐसी बातें आलङ्कारिक रूपमें या संकेत रूपमें मिल जाती हैं जिनका सम्बन्ध तत्कालीन इतिहास अथवा भूगोल से है और तत्कालीन इतिहास जानने के लिये विद्वान तथा इतिहासकार अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में इन्हीं सांकेतिक वर्णनों का सहारा लेते हैं। इसमें किसी भी पक्ष के विद्वानों को आपत्ति क्यों होनी चाहिये।

ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि जो विद्वान वेद के शब्दों में नदी, पर्वत, व्यक्ति अथवा देशों के नाम देखते हैं उन्होंने वेद मंत्रों का अर्थ समझा नहीं है, क्योंकि इनमें अंग्रेजी के ही नहीं संस्कृत के भी अनेक विद्वान सम्मिलित हैं। स्वयं लोकमान्य तिलक ने भी अनेक मन्त्रों का अर्थ लौकिक रूप में ही लिया है किन्तु उक्त निसर्ग परक लोगों ने सभी शब्दोंको भिन्न अर्थ में लिया है। वे इन्द्र और वृत्रको ही आकाशीय अथवा प्राकृतिक तत्व नहीं मानते—यद्यपि इनके भौतिक रूपके भी पर्याप्त प्रमाण ऋग्वेद में मिलते हैं—वे पुरूरवा, उर्वशी, नहुष, ययाति, पुरु, देवयानी आदि सभी शब्दों का अर्थ आकाशीय पदार्थ मानते हैं। वे सुदास का अर्थ 'उत्तम दानशील पुरुष' और दिवोदास

(इतिहासकार विद्वान सुदास और दिवोदास को राजाओं के नाम मानते हैं) का अर्थ 'युद्ध की कामना करने वाला' अथवा 'ज्ञान प्रकाश देने वाला' करते हैं। 'हत्वी दस्यून पुर आयसी नि तारीत्' (२-२० ८) का अर्थ जहाँ पं० मंगलदेव शास्त्री जैसे संस्कृतके विद्वान 'दासुओं के लोहे की अथवा लोहवत् दृढ़ पुरियों का नाश करने वाला' कहते हैं (भारतीय संस्कृत का विकास) वहाँ अजमेर भाष्य में उसका अर्थ इस प्रकार किया गया है— दस्यून हत्वी=आत्मा के नाशकारी अन्त शत्रुओं को नाश करके, आयसी आवागमन सम्बन्धी, पुर =देह बन्धनों को, नितारीत=पार कर जाता है। ऋ० ७-८३ में "दाशराज्ञ" तथा "दश राजान" शब्द हैं जिनसे अनेक विद्वानों ने दाशराज्ञ अथवा दस राजाओं का अर्थ युद्ध किया है किन्तु अजमेर संस्करण में दस राजान का अर्थ दस तेजस्वी पुरुष किया गया है तथा दस राजाओं व युद्धका कहीं वर्णन नहीं है। इसी प्रकार 'सप्त सिन्धु' का अर्थ 'सात प्राण' किया गया है। इस प्रकार दृष्टिकोण भेद तथा अर्थ भेद के असंख्य उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। यह निर्णय करना तो विद्वानों का काम है कि इनमें कौनसा अर्थ सही है और कौनसा गलत। जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है उसे इतिहासकारों का दृष्टिकोण ही सही दिखाई देता है। अतः इस पुस्तक में भारतीय सभ्यता का वर्णन इन्हीं विद्वानों के अर्थ के आधार पर किया गया है। इतना और कहना आवश्यक है कि ऋग्वेद का आद्यान्त पठन तथा मनन तो लेखक ने नहीं किया है फिर भी उसने उस महान ग्रंथ का एक दो बार अवलोकन करने का प्रयत्न किया है—हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवादों के सहारे से तथा जो सामग्री उसे उपयुक्त दिखाई दी उसका उपयोग यथास्थान करने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक के सम्बन्ध में —

पुस्तक में वर्णित अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द यहाँ कह देना आवश्यक जान पड़ता है।

पुस्तक में उन सभ्यताओं का वर्णन है जो संसार में प्राचीनतम मानी जाती हैं तथा उनके वर्णन में धातु-युग, नव पाषाण-युग, पुरा पाषाण युग, हिम-काल आदि शब्द आते हैं तथा मनुष्य की भिन्न भिन्न नस्लों तथा भाषा समूह आदि का भी उल्लेख करना पड़ता है। अतः यह आवश्यक समझा गया कि इन युगों तथा नस्लों आदि का भी कुछ वर्णन किया जाय जिससे उक्त देशों की सभ्यताओं को तुलनात्मक दृष्टि से समझने में सहायता मिले। फिर इन युगों को समझने के लिये और भी प्राचीन काल में जाना पड़ता है अतः पुस्तक का प्रारम्भ सृष्टि निर्माण-काल से तथा मनुष्य प्राणी की उत्पत्ति से करना ठीक ज्ञात हुआ। अतः प्रथम अध्याय में सृष्टि का निर्माण का वर्णन संक्षेप में किया गया है। इस वर्णन में पाश्चात्य विद्वानों के विशेषकर डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त को अधिकांश में स्वीकार किया गया है, क्योंकि अन्य कोई सिद्धान्त ऐसा आज तक सामने

नहीं आया है जिससे उक्त समस्याओं का सन्तोषजनक हल निकल सके। फिर भी यह सम्भव है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर न हों बल्कि बन्दर से मिलते जुलते प्राणी हों जिनका संस्कृत और विकसित रूप आज का मनुष्य है।

सुमेर, असुर, मिस्र आदि देशों के इतिहास, उनकी सभ्यताओं तथा भारत से उनके सम्बन्ध का जो वर्णन किया गया है वह प्राय यूरोपीय लेखकों तथा इतिहासकारों के विवरणों के आधार पर किया गया है जो अंग्रेजी पुस्तकों से लिये गये हैं। इन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका से भी पर्याप्त सहायता ली गई है विशेषत उन विषयों के सम्बन्ध में जिनके सम्बन्ध में अंग्रेजी ग्रन्थ उपलब्ध न हो सके। इन सभ्यताओं की खोज तथा उनका अध्ययन प्राय यूरोपीय विद्वानों तथा अन्वेषकों द्वारा किया गया है, अत उनके विवरणों को प्रामाणिक मानना भी उचित है। पश्चिमी एशिया में भारत के प्रभाव को—विशेषत मितनी के आर्य वंश को—अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छापूर्वक मान्य किया है। उन यूरोपीय विद्वानों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने भारत का अनुचित रूप से पक्ष लिया है क्योंकि साधारणत यूरोपीय इतिहासकारों का दृष्टिकोण भारत के प्रति अनुदार ही रहा है। अत भारत के पक्ष में उनकी स्वीकारोक्तियों को प्रामाणिक ही माना जाना चाहिये।

इन सभ्यताओं के वर्णन के सम्बन्ध में एक बात और भी कहना आवश्यक है। इतिहास का आरम्भ विद्वान लोग प्राय उस काल से करते हैं कि जहाँ से किसी देश का प्रामाणिक विवरण इतिहास की कसौटियों के अनुसार मिलना प्रारम्भ होता है। इसी कारण बहुत से विद्वान पहले भारत के इतिहास का प्रारम्भ यूनानियों के भारत-आक्रमण से अथवा अधिक से अधिक बुद्धकाल से मानते थे। किन्तु इस पुस्तक का विषय मुख्यत राजनीतिक इतिहास नहीं, बल्कि सभ्यताओं का इतिहास है, अत पुस्तक के अध्यायों का आरम्भ इतिहास काल से बहुत पूर्व से प्रारम्भ किया गया है जहाँ से कि उन सभ्यताओं का प्रारम्भ होता है।

मेसोपोटामियाँ की भूमि सुमेरी, बाबुली, असुर आदि अनेक सभ्यताओं की जन्मभूमि मानी जाती है। इन समस्त सभ्यताओं का वर्णन एक अध्याय में करने से अध्याय का विस्तार बहुत बढ़ जाता। अत मेसोपोटामियाँ की सभ्यताओं को तीन भागों में बाँटा गया है।

सुमेर, बाबुल, असुर, मिस्र, चीन, भारत, यूनान तथा रोम की सभ्यताओं के अतिरिक्त जिनका वर्णन इस पुस्तक में किया गया है—कई अन्य सभ्यताएँ—ईरानी, शामी, यहूदी, खित्ती आदि जातियों की—काफी पुरानी मानी जाती हैं। भूमध्यसागर में क्रीट टापू की सभ्यता भी काफी पुरानी है। किन्तु यहूदी सभ्यता को छोड़कर शेष सभ्यताओं

का संसार के इतिहास पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी इनमें से अनेक जातियों तथा उनकी सभ्यताओं का वर्णन अंतिम अध्याय में भारतीय सभ्यता के विस्तार के रूप में कर दिया गया है क्योंकि ये सभी जातियाँ भारत की प्राचीन जातियों से सम्बंधित जान पड़ती हैं।

भारतीय सभ्यता का वर्णन कुछ अधिक विस्तार से दिया गया है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में भारतीय इतिहास की कुछ प्रमुख समस्याओं पर विचार किया गया है। इसी में ऋग्वेद के समय के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है क्योंकि यदि ऋग्वेद को १२०० ई० पू० की रचना मान लें, तो भारतीय सभ्यता का महत्व ही समाप्त हो जाता है। भारतीय सभ्यता के अध्याय के द्वितीय भाग में सभ्यता की केवल उन्हीं बातों पर विचार किया गया है जिनके सम्बन्ध में यूरोपीय लेखकों का यह विचार रहा है कि आर्य लोग इन बातों से परिचित न थे—जैसे वे कहते हैं कि ज्योतिष का ज्ञान बेबीलोन से भारत में आया, आर्यों को धातुओं का ज्ञान तथा समुद्र का ज्ञान न था, एक ईश्वर की कल्पना न थी आदि। वैदिक काल की सम्पूर्ण सभ्यता का यह वर्णन नहीं है।

भारतीय इतिहास तथा सभ्यता की प्राचीनता के वर्णन में श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री सम्पूर्णानन्द, डा० सत्यनारायण आदि के ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। इन पुस्तकों में—विशेषतः श्री सम्पूर्णानन्द की "आर्यों का आदि देश" में लेखक को अपने मत का काफी समर्थन मिला तथा प्रेरणा भी मिली। श्री चतुरसेन शास्त्री (स्व०) की पुस्तकों का भी लेखक ने अवलोकन किया। उनका अध्ययन आश्चर्यजनक था तथा कल्पनाएं भी क्रांतिकारी दिखाई देती हैं। किन्तु उनके निष्कर्षों में कुछ अत्युक्ति दिखाई देती है, क्योंकि उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास की प्रायः सभी घटनाओं एवं परम्पराओं को जिनका वर्णन वेद तथा पुराणों में मिलता है ईरान, मेसोपोटामियाँ, श्याम आदि देशों में घटित हुई बताने का प्रयत्न किया है, यथा, इन्द्र का राज्य काकेशस में अथवा एलाम में था और वहीं से वह भारत आया, नृसिंह तथा नरमसिन (अक्काद के सारगोन के पौत्र) एक ही थे, सुवर्णगरी (ईरान के दक्षिण-पश्चिम में) यदु अथवा ब्रह्माजी ने बसाई, चन्द्र और बुध विदेश से भारत में आये आदि। ऐसी कल्पनायें कुछ अन्य विद्वानों ने भी की हैं किन्तु ये बुद्धिगम्य नहीं दिखाई देतीं। इसके विपरीत लेखक ने इन देशों में भारतीय प्रभाव के जो उदाहरण दिये हैं वे विदेशी अन्वेषकों तथा पुरातत्वविदों की खोजों तथा उनके निष्कर्षों के आधार पर दिये गये हैं। लेखक का मत है कि भारतीय सभ्यता ही सुमेर, मिस्र, श्याम आदि देशों की सभ्यताओं की जन्मदात्री है तथा आर्यों का आदि स्थान भारतवर्ष ही है फिर भी लेखक का यह दावा नहीं है कि यही मत अन्तिम है अथवा इसे ही मान्य किया जाना चाहिये। किन्तु

सुमेर, असुर तथा मितन्नी आदि में जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनसे आर्यों के बाहर से भारत में आने की तथा ईसा से डेढ़-दो शताब्दी पूर्व आने की बात समझ में नहीं आती। वास्तव में आजकल भारतीय इतिहास की समस्याओं के सम्बन्ध में इतने सिद्धान्त प्रचलित हैं कि सत्य का अन्वेषण करना कठिन हो रहा है। विशेषत आर्यों के आदि स्थान के सम्बन्ध में विद्वान लोग आज तक भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं।

लेखक ने कोई मौलिक अनुसन्धान किये हैं ऐसा भी उसका दावा नहीं है। परन्तु अन्य अन्वेषकों तथा विद्वानों ने जो खोजें की हैं तथा जो निष्कर्ष निकाले हैं उनका अध्ययन कर लेखक ने इन प्राचीन सभ्यताओं की एक रूपरेखा हिन्दी के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का तथा उन सभ्यताओं के काल निर्धारण का प्रयत्न किया है तथा भारतीय सभ्यता से उसका सम्बन्ध भी बताया है।

प्रत्येक देश की सभ्यता के वर्णन से पूर्व उसका संक्षिप्त इतिहास देना भी आवश्यक जान पड़ा, क्योंकि उससे उन सभ्यताओं को समझना अधिक सुगम होता है अत प्राय प्रत्येक अध्याय के चार भाग हैं—देश की भौगोलिक स्थिति, उसका संक्षिप्त प्राचीन इतिहास, सभ्यता का विवरण तथा भारत से उसका सम्बन्ध। अन्तिम विषय ऐसा है जिस पर किन्हीं भी लेखकों ने बहुत कम प्रकाश डाला है। अत लेखक को उसमें विशेष परिश्रम करना पड़ा है।

भारत में विक्रमी सम्वत् तथा यूरोप में ईसवी सन् के प्रवर्तन को एक काल सीमा मानकर उसके पूर्व का ही वर्णन पुस्तक में दिया गया है। इसी दृष्टि से यूनान तथा रोम की सभ्यताओं को भी पुस्तक में सम्मिलित कर लिया है यद्यपि अन्य वयोवृद्ध सभ्यताओं की तुलना में वे सभ्यताएँ बालक तुल्य ही हैं। यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से ये सभ्यताएँ प्राचीन मानी जाती हैं। भारत की प्राचीन सभ्यता इतनी विस्तृत है कि उसका पूर्ण विवरण बहुत लम्बा होता। अत उसकी प्राचीनता का दिग्दर्शन कराते हुए उसके अति प्राचीन काल का ही वर्णन किया गया है।

जिन पुस्तकों से इस पुस्तक की रचना में सहायता ली गई है उनकी सूची अन्त में दी गई है। लेखक उन लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ है।



काकेशस

सागर

हित्ताइट

हमा

दमिश्क

भूमध्य सागर

सूसा

उर

मेम्फिस

थीब्स

मिस्र देश

कुश

अरब देश

मध्य पूर्व का मानचित्र

अध्याय १

सृष्टि-निर्माण तथा मानवी सभ्यता का विकास

(१) पृथ्वी की उत्पत्ति तथा सृष्टि का निर्माण

आज के विज्ञान वेत्ताओं का विचार है कि एक समय ऐसा भी था जब न यह पृथ्वी थी, न चन्द्रमा और न तारागण। केवल एक सूर्य था जो एक प्रज्वलित वायुमय गोले के रूपमें विद्यमान था और यह ज्वालामय पिण्ड चरखी की भाँति चक्कर खा रहा था*। फिर किसी काल में चक्कर खाते हुए ज्वालामय पिण्ड से अनेक टुकड़े टूट-टूट कर अलग हो गये जो बाद में ग्रह कहलाये। इन्हीं टुकड़ों में हमारी पृथ्वी भी है जो सूर्य का केवल एक छोटा सा टुकड़ा है।

आज के विज्ञान वेत्ताओं का यह भी अनुमान है कि सूर्य हमारी पृथ्वी से लगभग १३॥ लाख गुना बड़ा है अर्थात् सूर्य में इस विशाल भू-मण्डल जैसी १३ लाख पृथ्वियाँ समा सकती हैं। सूर्य का व्यास ८ लाख ६६ हजार मील लम्बा माना जाता है जो हमारी पृथ्वी के व्यास (८ हजार मील से कुछ कम) से लगभग १०६ गुना बड़ा है।

---

* आश्चर्य की बात यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल में हमारे ऋषियों ने भी सृष्टि-उत्पत्ति के इस रहस्य को समझ लिया था तथा उन्होंने अपने ढंग से उसका वर्णन संसार के सबसे प्राचीन माने जाने वाले ग्रन्थ ऋग्वेद में एक अद्भुत सूक्त‡ (दशम मण्डल सूक्त १२१) में जो "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" से प्रारम्भ होता है किया है। इस सूक्त का भावार्थ यह है कि सृष्टि के पहले केवल "हिरण्यगर्भ" (परमेश्वर) ही था, जो अपने जन्म से ही सबका स्वामी था। उसी ने इस पृथ्वी और आकाश को अपने अपने स्थान में रखा। एक अन्य मन्त्र (मण्डल १०, सूक्त ७२ मन्त्र ४) में प्रकृति से सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति बताकर कहा गया है कि उस अग्नि रूप सूर्य से यह उत्पन्न हुई। इसी कारण मन्त्र में पृथ्वी को सूर्य की "दुहिता" अर्थात् पुत्री बताया गया है। उसके बाद अन्य सृष्टि उत्पन्न हुई। तात्पर्य यह कि जहाँ आज के वैज्ञानिक सबसे पहले केवल सूर्य की विद्यमानता मानते हैं वहाँ भारत के ऋषियों ने उससे भी

---

‡ ऋग्वेद के मन्त्रों के समूह को सूक्त कहते हैं। ऋग्वेद का प्रत्येक मण्डल सूक्तों में बँटा हुआ है। प्रत्येक सूक्त में किसी एक विषय सम्बन्धी मन्त्र संग्रहित हैं जिनकी संख्या अनिश्चित है। किसी सूक्त में केवल ३-४ मन्त्र हैं तथा किसी में १०० से भी अधिक।

आगे बढ़कर यहाँ तक बताया कि सबसे पहिले केवल ईश्वर था, फिर प्रकृति उत्पन्न हुई, तत्पश्चात् सूर्य की उत्पत्ति हुई तथा फिर सूर्य से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

सूर्य से पृथक होने के समय यह पृथ्वी भी आग का एक विशाल अंगार थी अथवा वह गैस के एक महान गोले के रूपमें थी जो धधक रहा था। यह गोला सूर्य के चारों ओर बड़े वेगसे घूम रहा था। फिर इस पृथ्वी का एक टुकड़ा उसी प्रकार टूटकर अलग हो गया जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य से टूटकर अलग हुई थी। पृथ्वी का यह टुकड़ा चन्द्रमा कहलाया। धीरे धीरे लाखों वर्षों में पृथ्वी का ताप कम होने लगा और फिर ये ठंडे हो गये। पृथ्वी के चारों ओर की भाप बदलकर बादल बन गई और पृथ्वी पर जल बन कर बरसने लगी। इससे पृथ्वी के बहुत से भाग में जल भर गया और वह जल थलमयी हो गई। यह जल ही आजकल समुद्रों के रूप में दिखाई देता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी का जो टुकड़ा अलग हो कर चन्द्रमा हो गया, वहाँ पृथ्वी में एक बड़ा गर्त बन गया और फिर उसमें जल भर गया। यही जल प्रशान्त महासागर कहलाता है जो आज कल अमेरिका और जापान के बीच में भरा हुआ है।* जिस प्रकार सूर्य का एक टुकड़ा होने के कारण पृथ्वी सूर्य से बहुत छोटी है उसी प्रकार पृथ्वी का एक टुकड़ा होने के कारण चन्द्रमा पृथ्वी से छोटा है। अनुमान है कि पृथ्वी चन्द्रमा से ८१ गुनी बड़ी है।

फिर एक दिन ऐसा आया जब सारे बादल समाप्त हो गये और सूर्य पृथ्वी पर चमकने लगा। पृथ्वी पर दिन और रात होने लगे और यह बहुत कुछ वर्तमान रूप में आ गई। पृथ्वी को ठण्डा होकर वर्तमान रूप ग्रहण किये हुए कितना समय व्यतीत हुआ यह कहना तो कठिन है फिर भी वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि पृथ्वी को वर्तमान रूप में आये हुए लगभग दो अरब वर्ष व्यतीत हो चुके होंगे। कुछ लोग अनुमान करते हैं कि पृथ्वी को ठण्डी होने में कम से कम ढाई करोड़ और अधिक से अधिक ४ करोड़ वर्ष लगे होंगे। यह भी अनुमान है कि पहले चन्द्रमा ठण्डा हुआ, फिर पृथ्वी ठण्डी हुई। पृथ्वी की गर्मी में कमी होने पर उसका ऊपरी भाग ऐसे तरल रूपमें हो गया जैसी पिघली हुई धातुएँ होती हैं। दीर्घकाल के पश्चात् जब पृथ्वी की गर्मी में और अधिक कमी हुई तो वह तरल अग्निमय पदार्थ भी ठण्डा होकर जमने लगा और इस प्रकार उसके कई पर्त हो गये। अर्थात् उसकी तहें एक के ऊपर एक जमती गईं। फिर वह समय आया जब पृथ्वी के ऊपरी भाग से गर्मी पूर्णतया समाप्त हो गई और गले हुए पदार्थों का बाहरी हिस्सा तहों अथवा पपड़ी की भाँति जम गया—यद्यपि पृथ्वी के भीतर ये धातुएँ बहुत कुछ पिघले हुए रूप में रह गई। पृथ्वी की चट्टानें इसी प्रकार पपड़ी जमने से बनी हैं। भिन्न

---

* संसार का संक्षिप्त इतिहास—सैयद हकीम अहमद पृष्ठ १२।

नाम के एक भूगर्भ शास्त्री का अनुमान है कि पृथ्वी की यह पपड़ी अथवा सतह ४० मील मोटी है और उसके नीचे धातुओं का भण्डार है।

जब तक पृथ्वी आग के समान धधकती रही तब तक उस पर बरसने वाला पानी भाप बनकर उड़ जाता था। पृथ्वी के ठण्डे हो जाने पर जो वर्षा होती वह अब पूर्व के समान भाप में न बदलती थी, बल्कि पृथ्वी के ऊपर ही बहने लगती थी और ढालू स्थानों पर वर्षा का यह पानी ठहर जाता था। इसी प्रकार पानी भरने-से ताल झीलें बनीं तथा सागर और महासागर बने। यहाँ तक कि आज पृथ्वी पर स्थल की अपेक्षा जल का ही भाग अधिक है। अनुमान है आज पृथ्वी के सम्पूर्ण पृष्ठ तल पर ६६.६ प्रतिशत अर्थात् दो तिहाई से भी अधिक जल है तथा केवल ३०.४ प्रतिशत अर्थात् एक तिहाई से भी कम स्थल-भाग है।

अनेक विज्ञान वेत्ताओं का अनुमान है कि पृथ्वी के जल और स्थल भाग में समय समय पर परिवर्तन होता रहता है अर्थात् जहाँ आज जल है वहाँ किसी समय स्थल था और जहाँ आज स्थल है वहाँ कभी जल था। उदाहरणार्थ कुछ लोगों का विचार है कि आजकल जिस स्थान पर राजस्थान की मरुभूमि है वहाँ पुराने समय में समुद्र बहता था। इसी प्रकार यह भी अनुमान है कि आज जहाँ भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर है वहाँ किसी समय में भूमि थी और भारत की भूमि दक्षिण में आस्ट्रेलिया तथा पश्चिम में अफ्रीका की भूमि से मिली हुई थी। अर्थात् एक ओर तो भारत की भूमि सुमात्रा, जावा, बाली, लम्बा, बोर्नियो आदि सब द्वीपों से मिली हुई थी और दूसरी ओर दक्षिण पश्चिम में अरब सागर के स्थान में भी स्थल भाग था तथा भारत की भूमि मेडागास्कर टापू तथा अफ्रीका महाद्वीप से भी जुड़ी हुई थी। इस प्रकार आस्ट्रेलिया, भारत तथा अफ्रीका एक दूसरे से मिले हुए थे।

पृथ्वी का इतिहास—

ऊपर बताया गया है कि वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी का जन्म हुए लगभग २ अरब वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। भारतवर्ष में एक सृष्टि संवत् भी प्रचलित है जो आजकल १ अरब ६५ करोड़ ५८ लाख अर्थात् २ अरब के लगभग ही है। इस सुदीर्घ काल में पृथ्वी के रूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं जिनका पता उसकी चट्टानों से लगता है। अर्थात् पृथ्वी के ठंडे होने पर उसकी जो विभिन्न प्रकार की चट्टानें बनीं उनका अध्ययन करके भूगर्भ शास्त्रियों ने करके पृथ्वी की आयु को भिन्न-भिन्न कालों में विभाजित किया है। ✲लोकमान्य तिलक ने कहा है कि इतिहास तथा पुरातत्ववेत्ता जहाँ तक पीछे जाकर अपना कार्य समाप्त कर देते हैं वहाँ से भूगर्भ शास्त्री सूत्र ग्रहण

✲ Arctic home in the Vedas B G Tilak, Chapter I

करते हैं अर्थात् अपना कार्य आरम्भ करते हैं तथा पृथ्वी के इतिहास को पृथ्वी के आरम्भ काल तक ले जाते हैं। पृथ्वी के इतिहास के विभिन्न कालों तथा उन कालों में पृथ्वी पर हुए परिवर्तनों का यह अनुमान भूगर्भशास्त्रियों ने भूमि के विभिन्न स्तरों, उसकी चट्टानों की बनावट तथा भिन्न भिन्न स्थानों अर्थात् भूमि के अन्दर प्राप्त हुए अस्थि-पंजरों, वृक्षों के अवशेषों तथा अन्य पुरातन वस्तुओं के परीक्षण के आधार पर किया है क्योंकि पुराने अस्थिपंजरों तथा वृक्षों के अवशेषों आदि से हम यह तथा अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस काल में उन जीव तथा वृक्ष विद्यमान थे, उस काल में उक्त स्थान पर वैसी जलवायु रही होगी अथवा पृथ्वी की वैसी अवस्था रही होगी जिसमें कि उक्त जीव तथा वृक्ष पनप सके। इन्हीं परीक्षणों के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले गये हैं।

उक्त परीक्षणों तथा अनुमानों के आधार पर पृथ्वी के सूर्य से अलग होने के समय से लेकर अब तक के इतिहास को ५ बड़े भागों अर्थात् कालों अथवा युगों में विभाजित किया गया है और फिर प्रत्येक काल को कई छोटे छोटे विभागों में बाँटा गया है जिन्हें खण्ड कहते हैं। इस प्रकार ५ बड़े कालों को १६ खण्डों में विभाजित किया गया है। इन खण्डों का समय भी लाखों तथा करोड़ों वर्ष का ही है। सृष्टि की कथा* के आधार पर पृथ्वी का युगों तथा खण्डों में वर्गीकरण इस प्रकार है —

भौगर्भिक काल अथवा युग	खण्डों में विभाजन
१—आदि काल (इओजोइक)	१—कैम्ब्रियन, २—टोरिडोनियन,
२—पुरातन काल (आर्केओजोइक)	३—कम्ब्रियन, ४—ओर्डोवीसियन,
३—प्राचीन अथवा पुराजीवक काल (पैलियोजोइक)	५—सिलेरियन, ६—डेवोनियन, ७—कार्बोनिफेरस, ८—परमियन,
४—माध्यमिक या मध्यजीवक काल (मेसोजोइक)	९—ट्राइएसिक, १०—ज्यूरेसिक, ११—क्रेटेशस, १२—इयोसीन,
५—आधुनिक अथवा नवजीवन काल (काइनोजोइक या टेरटियरी)	१३—ओलि इजोसीन, १४—माइयोसीन, १५—प्लाइओसीन, १६—प्लाइस्टोसीन।

लो०तिलक का वर्गीकरण इससे थोड़ा भिन्न है। उन्होंने आदि तथा पुरातन कालों को एक मानकर प्राचीन अथवा पैलियोजोइक काल को द्वितीय, माध्यमिक या मेसोजोइक काल को तृतीय, आधुनिक अथवा काइनोजोइक काल को चतुर्थ काल माना है। इसी को उन्होंने टेरटियरी काल भी कहा है। इसके बाद के काल को उन्होंने पोस्ट-टेरटियरी अर्थात् आधुनिक पश्चात् अथवा वर्तमान कहा है और उसे पाँचवाँ काल

* सृष्टि की कथा ... [illegible]

माना है जो इस समय तक चल रहा है। उनके मतानुसार इस काल का आरम्भ हिम काल के पश्चात् हुआ। इसी प्रकार उक्त १६ खण्डों में भी उनके मतानुसार थोड़ी भिन्नता है।

कुछ अन्य भूगर्भ शास्त्रियों के मतानुसार 'टेरटियरी' तीसरा बड़ा काल है जो मेसोज़ोइक के बाद तथा कार्बनोज़ोइक के पूर्व आता है। कार्बनोज़ोइक को कुछ लोग 'क्वाटरनरी' भी नाम देते हैं। कुछ भूगर्भ-शास्त्री टेरटियरी तथा क्वाटरनरी दोनों का सम्मिलित नाम कार्बनोज़ोइक रखते हैं। फिर भी बड़े युगों तथा उनके १६ खण्डों को अधिकांश भूगर्भशास्त्री मानते हैं।

इन भिन्न भिन्न कालों तथा खण्डों में पृथ्वी के रूप, उसकी चट्टानों की बनावट आदि बातों में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का विवरण संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है।

आदि काल में पृथ्वी का कोई निश्चित रूप न था। शिलाओं, चट्टानों तथा प्रस्तरों में बहुत शीघ्रता से अवस्था-परिवर्तन हो रहा था। पृथ्वी की सतह का रूप भी बदल रहा था। कहीं बड़े बड़े गड्ढे पड़ रहे थे कहीं पर्वत ऊपर उठ रहे थे। इस काल की चट्टानें प्रायः पृथ्वी की उष्णता की स्थिति में बनी हैं। अब उनमें जीवनशक्ति के भी कोई लक्षण नहीं पाये जाते। पुरातन तथा प्राचीन अर्थात् द्वितीय अथवा तृतीय कालों में भी इसी प्रकार अनेक परिवर्तन होते रहे। इन कालों में ज्वालामुखियों का भी प्रकोप रहा, ज्वालामुखी पर्वत कभी कभी भूमि में प्रकट होते और ऊपर उठते कभी फिर दब जाते, फिर उठकर अपने उत्तप्त पदार्थों से सारा पृथ्वी तल ढक देते और कभी फिर शान्त हो जाते। ज्वालामुखियों के कोप के साथ भूकम्प भी होते जिनके कारण पृथ्वी हिल उठती और उसके जल तथा स्थल-भाग में अनेक परिवर्तन हो जाते। कोई स्थल-भाग जल में डूब जाता और कोई नया स्थल भाग जल से बाहर निकल आता। इन कालों के अन्त में अनेक साधारण पर्वतों का जन्म भी पृथ्वी पर हो गया।

ऐसा माना जाता है कि इस तृतीय अर्थात् प्राचीन काल में ही भारत की भूमि में भी अनेक परिवर्तन हुए। भारतवर्ष के दक्षिणी प्लेटो या पठार का निर्माण दूसरे अर्थात् पुरातन काल में हो गया था। इसी काल में यह दक्षिणी पठार एक ओर आस्ट्रेलिया तथा दूसरी ओर अफ्रीका से मिला था। आगे के काल में इसका बहुत सा भू-भाग समुद्र में डूब गया किन्तु दक्षिण का प्लेटो समुद्र में नहीं डूबा। इसी कारण यह प्लेटो संसार भर के सब भागों में पुराना माना जाता है। इसी प्रकार इस काल में भारत के पूर्व तथा उत्तर में समुद्र के जल में से भूमि ऊपर उठ आयी और गंगा सिंधु का मैदान बना। पहले इस उत्तरी भाग में भी समुद्र था तथा उस समुद्र के ऊपर हिमालय पर्वत था।

हिमालय से जो नदियाँ निकलीं वे हिमालय की भूमि को काट काट कर नीचे लाती रहीं और समुद्र में डालती रहीं।

हजारों लाखों वर्षों में इसी मिट्टी से समुद्र भरता रहा और जल पीछे हटता गया। इस प्रकार गंगा, सिंधु तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियों ने हिमालय से मिट्टी ला ला कर समस्त समुद्र को धीरे-धीरे पाट दिया और मैदान बना दिया। राजस्थान के सम्बन्ध में भी यही अनुमान किया जाता है कि वहाँ पहले समुद्र था जो सूख गया और भूमि बाहर निकल आयी। उसी समुद्र का अवशेष साँभर झील मानी जाती है। इस प्रकार इन कालों में भारत की भूमि ने बहुत कुछ वर्तमान जैसा रूप ग्रहण कर लिया। संसार के अन्य भागों में भी इसी प्रकार अनेक परिवर्तन हुए। आगे माध्यमिक काल में भी ऐसे परिवर्तन होते रहे। लोकमान्य तिलक का मत है कि हिम काल अथवा उससे पूर्ववर्ती काल में आल्प्स तथा हिमालय की पर्वत श्रेणियाँ बनीं तथा इसी काल में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की पर्वत श्रेणियाँ बनीं।

हिमकाल के सम्बन्ध में भी विज्ञानवेत्ताओं का अनुमान है कि संसार के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न समयों में हिम-प्रलय होते रहे। अंतिम हिम प्रलय का सर्वाधिक प्रसार आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व विश्व के तृतीयांश में हुआ तथा उसमें स्तनपोषी जन्तुओं का घोर विनाश हुआ। एशिया के हिमालय प्रदेश में भी इस हिम प्रलय का अधिक प्रसार हुआ। किन्तु यूरोप और अमेरिका अत्यधिक हिमग्रस्त हुए।

पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ—

पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ कब हुआ इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में काफी मतभेद है। पृथ्वी की समस्त आयु में तीन चौथाई वर्ष अजीव कल्प के माने जाते हैं तथा चौथे भाग में उस पर जीवन की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि तृतीय और चतुर्थ कालों में अर्थात् प्राचीन तथा माध्यमिक काल में जीवन का आरम्भ हो गया था, क्योंकि इन कालों की चट्टानों की तहों में जीवन के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं। सम्भवतः इस काल में आरंभिक अर्थात् मीन जैसे प्राणियों का जन्म हो गया था।* कुछ विद्वान इस कालको ५० करोड़ वर्ष पूर्वसे लेकर २८-२५ करोड़ वर्ष पूर्व तक मानते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि प्रारम्भ में जिन जीवों का जन्म हुआ उनके हाथ, मुँह नाक कान आदि कुछ भी न थे। उनके न मांस था, न हड्डी और न ऊपर का खोल ही न था। चौथे या मध्य जीवन काल में विशालकाय छिपकली, मगर आदि दन्त धारी प्राणियों तथा प्रथम शुद्ध पक्षियों तक का जन्म हो चुका होगा। अन्य लोगों का विचार है कि जीवन का आरम्भ पाचवें (लो० तिलक के अनुसार चौथे) अर्थात आधु

* मध्य एशिया का इतिहास—राहुल सांकृत्यायन भाग १

निक काल से ही माना जाना चाहिये। इसी काल का इयासीन खण्ड जीवन के आरम्भ का काल है। आलाइगोसीन अर्थात् अल्प जीवन कालमें जीवन बहुत ही निम्न श्रेणी का था। पृथ्वीका जलवायु उस समय तक कुछ गरम ही था। उसके आगे का माइयोसीन खण्ड निकट जीवन का काल है जिसमें भिन्न भिन्न जीवधारी छोटी अवस्था में ही रहे यद्यपि उस समय पृथ्वी के जलवायु की गर्मी कम होने लगी थी। प्लाइनासीन (निकटतर जीवन) खण्ड में भिन्न-भिन्न जीवधारियों में उन्नति हुई। इस काल में पृथ्वी का जल वायु वर्तमान जैसी अवस्था में आता जा रहा था। पांचवा खण्ड प्लाइस्टोसीन निकटतम जीवन का काल है। इस काल में भिन्न-भिन्न जीवधारियों की और अधिक उन्नति हुई। इसके आगे टेरटियरी काल माना जाता है जिसे "हिमाच्छादित" अथवा हिम-काल भी कहते हैं। इस काल में स्तनपायी जीवों का श्रेष्ठतम विकसित रूप दिखायी देने लगा।

इस प्रकार ये चट्टानें ही इस पार्थिव ग्रंथ की प्रारम्भिक अवस्थाओं का लिखित इतिहास हैं जिनके आधार पर उक्त निर्णय निकाले गये हैं। इन चट्टानों के काल की कल्पना भी भूगर्भ वेत्ताओं ने की है। इस कल्पना के अनुसार निर्जीव चट्टानों का काल ८० करोड़ वर्ष से लेकर ८ करोड़ वर्ष पूर्व तक माना जाता है जिसके पश्चात् जीवन सहित चट्टानों का काल आरम्भ हो जाता है। कुछ लोग जीवन सहित चट्टानों का अर्थात् पृथ्वी पर जीवन के आरम्भ होने का काल अब से ६ करोड़ वर्ष पूर्व से लेकर ६० करोड़ वर्ष पूर्व तक मानते हैं।

जीवन का विकास—

पृथ्वी पर जीवन का प्रथमतः आरम्भ तथा विकास किस प्रकार हुआ यह एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर भिन्न भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न विश्वास तथा विचार प्रचलित हैं। किन्तु वैज्ञानिक मत का प्रायः सर्वमान्य मत है वह यह है कि अजीव वस्तु की समाप्ति पर जीवन का प्रादुर्भाव जल से हुआ—ऐसे गरम तथा उथले जल से जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता था। पृथ्वी पर बने हुए तालाबों में तथा झीलों में ऐसा ही जल होता है। इन्हीं तालाबों के किनारे की कीचड़ में कार्बन, नाइट्रोजन आदि तत्वों के योग से एक चेपदार पदार्थ-अल्बूमेन के समान—बना तथा फिर कुछ अन्य तत्वों के योग से इसी चेपदार पदार्थ में जीवन का प्रारम्भ हुआ। यह जेली अथवा चेपदार पदार्थ कीचड़ में से ही अपना भोजन प्राप्त करता था तथा उसी से यह बढ़ने लगा। प्रारम्भ में इसमें एक कोष (सेल) रहता था जब इसका शरीर बढ़कर चरम सीमा पर पहुँचा तो यह टुकड़े-टुकड़े हो गया। अर्थात् जब ये एक कोष वाले जीव बड़े होकर अपनी पूरी शक्ल पर आ जाते थे तब इनके दोनों छोर फूल जाते थे और मध्य में पतले होते जाते थे। यहाँ तक कि एक दिन इनके दो भाग हो जाते थे। यह

दोनों भाग पर भिन्न-भिन्न जीव बनकर रहते थे। इस प्रकार इन दो या अधिक टुकड़ों का स्वतन्त्र अस्तित्व हो गया अर्थात् एक जीव से दो या अधिक जीवों की उत्पत्ति हुई।

"सृष्टि की कथा" के लेखक के अनुसार उक्त पदार्थ में अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण क्रियाशील शक्ति उत्पन्न होने लगी और धीरे धीरे चेतना शक्ति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। "जीवनाणु की सामर्थ्य और कार्यकारिणी शक्ति बढ़ने लगी। इसी सामर्थ्य से जीवनाणु का विभाजन हुआ—एक अणु से दो अणु बने, दो से चार हुए, चार से आठ और आठ से सोलह। धीरे धीरे वे इतने समर्थ हो गये कि एक एक से तीन-तीन चार चार टुकड़े होने लगे। इस प्रकार कालान्तर में असंख्य जीवनाणुओं की सृष्टि हो गई।"

इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन उथले जल में अर्थात् तालाबों, झीलों तथा समुद्रों के किनारे उत्पन्न हुआ तथा लाखों करोड़ों वरस तक जाति भेद से अनेक दर्जे पानी में ही व्यतीत करता रहा। यहां जीवन धीरे-धीरे वनस्पतियों के रूप में प्रकट होने लगा। वनस्पति शास्त्र के विद्वानों की कल्पना है कि सबसे पहले एक कोष्ठीय पौधा—प्रोटोकोकस उत्पन्न हुआ होगा। इसमें एक कोष्ठ होता है जिसमें कललरस प्रोटोप्लाज़म, एक केन्द्र और थोड़ा सा हरा रंग होता है। इस एक कोष्ठीय पौधे से थोड़े दिनों के पश्चात् चार कोष्ठों का जन्म हुआ और इस प्रकार धीरे धीरे सहस्रों कोष्ठों का जन्म हुआ।

फिर जल के पौधों से स्थल पौधों का जन्म हुआ। ऐसे पौधों में सबसे पहले पर्णदा (फर्न) का जन्म हुआ। फिर बहुपत्रक पौधे जन्मे और उसके बाद छत्राकार वृक्षों, देवदार, नारियल, ताड़, खजूर इत्यादि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अनेक वृक्षों का जन्म हुआ।

वनस्पति तथा वृक्षों के पश्चात् जीवधारी प्राणियों की कहानी शुरू होती है। अनुमान है कि इनका आरम्भ भी जल में ही हुआ और सबसे पहले छोटी-छोटी मछलियों का जन्म हुआ जिनके न रीढ़ की हड्डी थी और न खोपड़ी। इनके बाद रीढ़ की हड्डी वाले तथा खोपड़ी वाले जीवों की उत्पत्ति हुई। फिर सरीसृप अर्थात् सांप के समान पेट से चलने वाले जीवों का जन्म हुआ। ये जीव स्थल पर चलनेवाले थे।

जलचर जीव थलचर किस प्रकार बने इसकी भी कल्पना प्राणिशास्त्रियों ने की है। जीवधारियों में ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह आस पास की अवस्थाओं में अनुकूलता तथा मेल बढ़ा लेता है। ऐसा न होता तो जीवन का रहना ही सम्भव न होता। जल में जो मछलियां प्रथमतः उत्पन्न हुई उनके आगे भी यही समस्या आई होगी कि यदि ताल या झील में पानी कम हो जाय अथवा जमीन सूख जाय, तो वे जीवन की रक्षा किस

प्रसार करें। इसी चिंता ने उन्हें सूखी भूमि से अनुकूलता प्राप्त करने की प्रेरणा दी होगी। जो जीव इस प्रकार अनुकूलता प्राप्त न कर सके होंगे वे मर गये होंगे तथा जिन्होंने अनुकूलता प्राप्त कर ली वे जीवित रह सके होंगे। इस प्रकार जल से जीवन सूखी भूमि पर आया। जीवन के इस विकास क्रम का एक उदाहरण मेंढक है। वह पानी से बाहर भी जीवित रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। प्राणिशास्त्रियों का यह भी अनुमान है कि वनस्पति के समान प्राणियों में भी सबसे पहले एक कोष्ठीय जीव की उत्पत्ति हुई। फिर बहु कोष्ठीय जीवों का विकास हुआ। जब पृथ्वी पर सरीसृप अर्थात् पेट के बल सरकने वाले जीव पैदा हो गये तब उनका आगे का भाग सिर के रूप में विकसित हो गया। फिर उनके शरीर में रेंगने के लिए पैर भी निकलने लगे। फिर धीरे-धीरे नाक, आँख मुख आदि विकसित होने लगे। अनुमान है कि इन सरीसृपों से ही एक ओर तो पक्षियों की उत्पत्ति हुई तथा दूसरी ओर पशु उत्पन्न हुए। ये पशु अपने बच्चों को दूध पिलाते थे। इन दूध पिलाने वाले चौपायों में हृदय, फेंफड़े, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि सभी अंग थे। पशुओं में बन्दर, लंगूर, चिम्पाजी आदि भी थे।

विकास के उत्तरोत्तर क्रम में कुछ जीवों ने पिछले दो पैरों से चलना और आगे के दो पैरों से वस्तुओं को पकड़ने का काम लेना आरम्भ किया। धीरे धीरे उसने आगे के पैरों से चलना बिल्कुल छोड़ दिया और ये दो पैरों दो हाथों के रूप में विकसित हो गये। बन्दर, लंगूर आदि ऐसे पशु हैं जो आगे के दो पैरोंसे चल भी लेते हैं तथा उनसे हाथों का काम भी ले लेते हैं। इन्हीं बन्दरों, लंगूर तथा वनमानुष आदि का विकास होकर मनुष्य की शक्लके प्राणियों का क्रम हुआ और फिर वह धीरे धीरे मनुष्य बना। विकास के इस क्रम का सबसे अन्तिम प्राणी मनुष्य ही है तथा मनुष्य के रूप में विकास का क्रम अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुआ है।

मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों के विकास का उक्त क्रम पाश्चात्य विज्ञान वेत्ताओं ने अनेक प्रकार की वैज्ञानिक खोजों तथा कल्पनाओं के आधार पर निश्चित किया है। इनमें मुख्य इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध डारविन महाशय हैं जिन्होंने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान अवस्था में मनुष्य बन्दर का ही विकसित रूप है। इन्होंने पहले पहल यह सिद्धान्त सन् १८५६ में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "ओरीजिन आफ स्पीसीज" में प्रस्तुत किया जो इंगलैण्ड में प्रकाशित हुआ। इस सिद्धान्त के कारण लोगों में बड़ी हलचल मची। बहुत लोगोंने डारविन का मजाक भी बनाया कि तुम्हारे ही पुरखे बन्दर रहे होंगे, हमारे पूर्वज तो मनुष्य ही थे। अनेक विद्वान डारविन सिद्धान्त के सम्बन्ध में अब भी शंका करते हैं फिर भी कोई अन्य सिद्धान्त इतना सम्मान न होने के कारण अधिकांश संसार ने डारविन के विकास क्रम को मान्य कर लिया है। कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्य विश

जीव से बढ़कर अपने वर्तमान रूपमें पहुँचा है वह जीव बन्दर तो नहीं था, हाँ बन्दर की सी आकृति का कोई अन्य जीव हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य प्रारम्भ से मनुष्य ही था।

मनुष्य स्वयं भी अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करता रहा है। विभिन्न धर्मों में इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विचार प्रचलित हैं। चीन में प्राचीन लोगों का विश्वास था कि पानकू देवता ने—जिसके चार हाथ और आठ पैर थे—मनुष्य को बनाया और वही मनुष्यों का प्रथम राजा बना। यहूदियों के विचार के अनुसार ईश्वर ने सबसे पहले एक मनुष्य का निर्माण किया और उसका नाम आदम रखा। उसका जन्म स्वर्गमें हुआ था और उसकी पसली से एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसका नाम ईव या हौआ था। यही संसार की सब प्रथम स्त्री थी। फिर आदम और हौआ से यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई। भारत के पुराने लोगों की मान्यता है कि समस्त सृष्टि ब्रह्मा ने उत्पन्न की और उसी से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। पुराणों के अनुसार (वायु पुराण अध्याय १०) ब्रह्मा से स्वयम्भुव मनु उत्पन्न हुए तथा फिर मनु और शतरूपा से इस समस्त मानव सृष्टि की उत्पत्ति हुई।* इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी मनुष्य के जन्म के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनायें की गई हैं परन्तु ये केवल कल्पनायें हैं जिनका वैज्ञानिक आधार कुछ भी नहीं है। इसी कारण संसार के अधिकांश विद्वान डारविन के विकासवाद के सिद्धान्तको ही सत्य मानने के पक्ष में हैं।

मनुष्य का जन्म सब प्रथम पृथ्वी के किस भाग में हुआ। इस सम्बन्ध में भी लोगों ने भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की हैं। स्वामी दयानन्द का विचार था कि आदि मानव का उत्पत्ति स्थान त्रिविष्टप अर्थात तिब्बत प्रदेश है तथा सर्गारम्भमें अमैथुनी सृष्टिसे मनुष्य का जन्म वर्तमान जैसे विकसित रूपमें ही हुआ। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध सन्दर्भ ग्रन्थ एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया में लिखा है कि—मानव इतिहास के विद्यार्थी इस बात में प्रायः सहमत हैं कि पश्चिमी गोलार्द्ध में जो सर्व प्रथम मनुष्य थे वे उसी भाग में नहीं जन्मे थे (कहीं अन्यत्र से आये थे)। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिकामें मनुष्यके जो प्राची-नतम अवशेष मिले हैं वे भी नवीन ढंग के हैं तथा उनमें पुरातन मनुष्यों की कोई विशेषतायें नहीं हैं जैसी कि जावा चीन आदि स्थानोंके मानव अवशेषोंमें अथवा उसके

---

* मत्स्य पुराण (अध्याय ३) में मनुष्य की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार दी गई है—ब्रह्मा ने लोक की रचना करने की इच्छा से अपने हृदय में सावित्री का ध्यान करके तपस्या आरम्भ की। तप करते समय उनका निष्पाप शरीर के दो भाग हो गये—अर्द्ध भाग स्त्री रूप और दूसरा अर्द्ध भाग पुरुष रूप हो गया। उसी स्त्री रूप का शतरूपा नाम पड़ा। इन्हीं दो भागों से मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

बाद के ने दरअसल मनुष्य के अवशेषों में दिखाई देती हैं। अतः यह निश्चित जान पड़ता है कि मनुष्य के प्रारम्भ का स्थान एशिया महाद्वीप ही है क्योंकि जावा तथा चीन एशिया में ही हैं। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान एच० जी० वेल्स का विचार है कि हमारे सदृश्य आकृति के मनुष्य का जन्म दक्षिणी एशिया अथवा उत्तरी अफ्रीका में हुआ होगा अतः वही उसका आदि स्थान है। उनका यह भी विचार है कि आज से २५००० वर्ष पूर्व से लेकर ४० हजार वर्ष तक मनुष्य अपना वर्तमान रूप ग्रहण कर चुका था *। डा० राधा कुमुद मुकुर्जी का मत है कि आदि मानव पंजाब और शिवालिक पर्वत की ऊँची भूमि पर विकसित हुआ होगा अर्थात् मनुष्य का जन्म पहले-पहल भारत में ही हुआ था†। एक अनुमान यह भी है कि आदमी शुरू से ही आदमी था और उसकी उत्पत्ति एक साथ अनेक देशों में हुई। डारविन के विकास क्रम को मानते हुए भी यह कल्पना बुद्धिगम्य जान पड़ती है कि मनुष्य अपने विकसित रूप को अनेक देशों में एक साथ ही प्राप्त हुआ होगा। पूर्ण मनुष्य बन जाने पर उसने सभ्यता की ओर पग बढ़ाया और सभ्यता की ओर उसका यह पग विभिन्न देशों में विभिन्न गतियों से बढ़ा होगा अर्थात् कहीं उसने शीघ्रता से सभ्यता सीखी, कहीं बहुत धीमी गति से इस ओर बढ़ा।

(२) मानव प्रगति पथ पर—

जैसा कि ऊपर बताया गया है विज्ञान-शास्त्रियों के मतानुसार जीवन का प्रारम्भ क्षुद्र रूप में हुआ तथा विकास करते-करते वह मनुष्य रूप को प्राप्त हुआ। उनका यह भी विचार है कि जिस प्रकार क्षुद्र जीवन को विकास करते करते मनुष्य रूप प्राप्त होने में लाखों वर्ष लगे उसी प्रकार आदिम मनुष्य लाखों वर्षों में सभ्यता की अनगिनत सीढ़ियों को पार करता हुआ वर्तमान सभ्यता की अवस्था को प्राप्त हुआ है।

मनुष्य प्राणी की प्रारम्भिक उत्पत्ति कब और किस स्थान पर हुई इसका निश्चित उत्तर तो विज्ञान वेत्ताओं के पास नहीं है। परन्तु जिस प्रकार उन्होंने पृथ्वी की चट्टानों की खोज कर तथा उनकी बनावट तथा उनमें प्राप्त हुए अवशेषों के आधार पर वनस्पति तथा जीवमय प्राणियों के विकास क्रम का निर्धारण किया है, उसी प्रकार भूमि के भीतर प्राप्त हुए पत्थर तथा चकमक के कुछ इस प्रकार के टुकड़ों को देखकर जो हथियार या औजारों की शक्ल में बनाये गये दिखाई देते हैं यह अनुमान किया है कि पत्थरों के ये भद्दे औजार मनुष्यों के ही बनाये हुए हैं तथा इनके बनाने वाले प्रारम्भिक अथवा आदिम मनुष्य ही होंगे। भूमि की जिन तहों में ये हथियार और औजार प्राप्त हुए हैं उनके विषय में भूगर्भ शास्त्रियों का यह अनुमान है कि उक्त तहें उस काल में बन चुकी

* —Outline of History—H G Wells—p 52

† —इतिहास परिषद ग्वालियर अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण।

थीं जिनको अब से पूर्व लगभग ६ लाख वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है। इस प्रकार आदिम मनुष्य अब से लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न हो चुका होगा। यहीं से मनुष्य के विकास का सूत्र भूगर्भ शास्त्रियों के हाथ से पुरातत्व शास्त्री अपने हाथ में ग्रहण कर लेते हैं और फिर मनुष्य की सभ्यता के विकास को प्रस्तर युग, ताम्रयुग, कांस्य युग, लौह युग आदि में विभाजित करते हैं।

मानवी कपालों के अवशेष—

विज्ञान वेत्ताओं ने एक अन्य आधार पर भी मनुष्य के विकास का तथा उसके काल का निश्चय किया। हथियारों के अतिरिक्त कई स्थानों पर मनुष्य तथा मनुष्य सदृश प्राणी की कुछ खोपड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनकी बनावट के आधार पर तथा इस आधार पर कि वे पृथ्वी के भीतर कितनी गहराई में प्राप्त हुई हैं अनेक अनुमान किये गये हैं। ऐसी खोपड़ियाँ जावा (इण्डोनेशिया), पेकिंग (चीन), हेडलबर्ग (जर्मनी) आदि कई स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।

जावा में उक्त खोपड़ी एक डच सैनिक विद्वान डॅयूबोइस को सन् १८९१ ई० में सोलो नदी के किनारे प्राप्त हुई थी। अभी तक प्राप्त अवशेषों में यह जावा मानव ही सबसे पुराना माना गया है क्योंकि उसका समय ईसा से लगभग ६ लाख वर्ष का अनुमानित किया गया है। हेडलबर्ग के मनुष्य का समय ईसा से ३ से ४½ लाख वर्ष पूर्व का माना जाता है। फिर नेन्डरथल मनुष्य का पता लगता है और यह वास्तविक मनुष्य माना जाता है। ये नेन्डरथल मनुष्य गुफाओं में रहता था किन्तु वह अग्नि का प्रयोग करना जान गया था। इसके जो अवशेष प्राप्त हुए वे ५० हजार वर्ष पुराने माने जाते हैं किन्तु अनुमान किया गया है कि यह मनुष्य दो लाख वर्ष तक जीवित रहा होगा। इस मनुष्य का कपाल डूसल डर्फ नगर के पास नेन्डरथल नामक स्थान पर प्राप्त हुआ था। अतः यह नेन्डरथल मानव के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद जिस मनुष्य का पता चलता है वह और अधिक विकसित था और वह सच्चा मनुष्य माना जाता है। उसने नेन्डरथल मानव का विनाश कर दिया।

हाल के वर्षों में इस प्रकार की कुछ और भी खोजें हुई हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने बताया है कि दिसम्बर १९२८ में एक तरुण चीनी विद्वान को जो खोपड़ी प्राप्त हुई वह ५ लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य की थी।* अक्टूबर १९५९ में कायडन म्यूजियम नेरोबी (दक्षिणी अफ्रीका) के क्यूरेटर डा० लीकी ने उनकी पत्नी को प्राप्त हुई एक ऐसी खोपड़ी का प्रदर्शन लन्दन में विज्ञान-वेत्ताओं के एक समाज में किया था। वह मनुष्य सदृश प्राणी ६ लाख से १० लाख वर्ष पूर्व उस देश में रहता था जो आज टांगानिका

---

* मध्य एशिया का इतिहास—राहुल सांकृत्यायन भाग १ अध्याय २

के नाम से प्रसिद्ध है। यह मनुष्य ५ फीट से कम ऊँचा था, उसका माथा नहीं के बराबर था, गर्दन बैल के समान थी तथा चेहरा बहुत लम्बा था। रूसी वैज्ञानिकों को साइबेरिया के बर्फ में दबे हुए ऐसे अस्थिपञ्जर मिले हैं जो १० लाख वर्ष पुराने बताये जाते हैं। भारत में भी हाल में उत्तरी शिवालिक पहाड़ में आदिम मनुष्य के चिह्न प्राप्त हुए हैं जो फोसिल (पथराई हुई हड्डियों) के रूप में हैं। इनसे यह अनुमान होता है कि आदिम मनुष्य भारत में उत्पन्न हुआ था। चण्डीगढ़ के पास की ऊपरी शिवालिक की ये चट्टानें प्लाइस्टोसीन अर्थात् निकटतम जीवन के काल की समझी जाती हैं। यह काल कम से कम १० लाख वर्ष पूर्व का समझा जाता है। यहाँ अनेक पशुओं की भी पथराई हुई हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। मार्च १९६० में चीन में एक अन्य प्राचीन मनुष्य के अवशेष प्राप्त हुए जो दक्षिणी चीन में १ लाख से ७ लाख वर्ष पूर्व तक के किसी समय में रहता था, किन्तु इस मानव का महत्व पीकिंग मानव जैसा नहीं समझा जाता। नर्मदा उपत्यका (जबलपुर तथा होशंगाबाद जिलों) में भी प्राचीन मानव के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनका काल लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व का समझा जाता है। इस प्रकार विज्ञान वेत्ताओं ने लगभग ८-१० लाख वर्ष पूर्व तक के मनुष्य का पता लगाया है। मानव सृष्टि इससे पूर्व ही उत्पन्न हो चुकी होगी।

उन्नति के ३ युग—प्रस्तर काल—

पुराने औजारों, हथियारों तथा अन्य अवशेषों का अध्ययन कर पुरातत्ववेत्ताओं ने मनुष्य की उन्नति के जो तीन काल निश्चित किए हैं वे प्रस्तर-युग, कांस्य युग और लोह युग कहलाते हैं।

प्रस्तर युग के दो बड़े भाग पुरा पाषाण युग (Palaeolithic age) तथा नव पाषाण युग (Neolithic age) हैं। प्राचीन अथवा पुरा पाषाण युग के औजार बहुत भद्दे ढंग के बने हुए मिलते हैं। इस काल में पत्थर के अतिरिक्त सींग, लकड़ी तथा हड्डी के भी औजार बनाये जाने लगे थे। नव पाषाण-युग में मनुष्य अपने औजार और हथियारों को घिस घिस कर सुन्दर और चिकना बनाने लगा था। अतः ये हथियार अधिक उत्तम प्रकार के हैं। पुरा पाषाण युग का समय बहुत लम्बा था जो ५-६ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता है। नव पाषाण-युग के सम्बन्ध में किन्हीं विद्वानों की कल्पना है कि ५० हजार वर्ष पूर्व यह आरम्भ हो गया था तथा अन्य लोग मानते हैं कि यह अब से केवल ७ हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। यहाँ यह स्मरणीय है कि पुरा पाषाण युग तथा नव पाषाण युग का आरम्भ तथा अन्त पृथ्वी के सब भागों में एक साथ नहीं हुआ।

पाषाण-काल के मनुष्य प्रायः गुफाओं में रहने लगे थे। इससे पहले वे खुले जंगलों अथवा मैदानों में रहते होंगे और कन्द-मूल फल खाकर पेट भरते रहे होंगे अथवा पशुओं

को मार कर खा ते होंगे। गुफाओं में रहने के दीर्घ समय में वे लोग लकीरों से चित्र खींचना तथा रंगों का प्रयोग करना भी सीख गये थे। क्योंकि अनेक गुफाओं की दीवारों पर और हड्डियों पर भी चित्रकारी के काम के नमूने मिले हैं। टाम हैरिसन नामक एक अंग्रेज सज्जन ने गुफाओं के जीवन के सम्बन्ध में अनुसंधान करने के लिए बोर्नियो द्वीप के किनारे की एक गुफा में अपने दल के साथ कई महीने तक रहने का अभ्यास किया। इस अनुभव के आधार पर उनका कथन है कि इन गुफाओं में कम से कम ४० हजार वर्ष पूर्व से मनुष्य का निवास रहा है। इस पाषाण काल के लोग जानवरों का शिकार करने के लिये तीर भी बनाने लगे थे, परन्तु भोजन को अथवा मांस को आग पर पकाने की विधि उन्हें उस समय तक मालूम नहीं हुई थी ऐसा अनुमान किया गया है।

दूसरा प्रयत्न जो मनुष्य ने उन्नति की ओर बढ़ने के लिये किया वह था शरीर की रक्षा के लिये वस्त्र पहिनना तथा मकान बनाना। प्रारम्भ में वस्त्र पशुओं के चमड़े के ही थे, धीरे धीरे ऊन तथा अन्य वस्तुओं से वस्त्र तैयार किये जाने लगे, किन्तु यहाँ तक पहुँचने में लोगों का बहुत समय लगा होगा। मकान का प्रारम्भ प्राकृतिक चट्टानों तथा गुफाओं से हुआ। इसके बाद तालाबों और झीलों के किनारे लकड़ी और बाँस के मकान बनाये जाने लगे।

इसके पश्चात् अग्नि का आविष्कार हुआ जो मनुष्य जाति के क्रान्तिकारी आविष्कारों में से एक है। अग्नि का ज्ञान मनुष्य को कब और किस प्रकार हुआ यह कहना कठिन है। सम्भव है पत्थर के औजार बनाते समय अथवा उन्हें चिकना करने के लिये घिसते समय चिनगारियों के उड़ने पर उसे अग्नि के दर्शन हुए हों और तभी यह ज्ञात हुआ हो कि पत्थरों के रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार अग्नि उत्पन्न करके वह अपने भोजन को पकाकर खाने लगा। धीरे धीरे जब ये लोग अनाज उत्पन्न करना सीख गये तब अनाज को आग में भून लेते और फिर उस भुने हुए अनाज को पत्थरों से पीस कर उसकी रोटियाँ बना लेते और ऐसी रोटियों के टुकड़े कुछ गुफाओं में प्राप्त हुए हैं जो उस समय के मनुष्यों के महत्वपूर्ण अवशेष हैं।

फिर एक दीर्घ समय के पश्चात् मनुष्यों को धातुओं का ज्ञान हुआ। तब वह धातुओं के हथियार भी अग्नि में तपाकर बनाने लगा। विभिन्न धर्मों में अग्नि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ दन्त कथायें प्रचलित हैं। उनसे इतना ही जान पड़ता है कि यह आविष्कार बहुत प्राचीन काल में सम्भवतः पुरा पाषाण-काल में हो चुका था।

उन्नति की अगली सीढ़ी पशुओं को अपने वश में लाकर उनका पालन-पोषण करना तथा अपने कार्यों में उनका उपयोग करना था। पहले मनुष्य पशुओं को मार कर केवल उनका मांस खाना जानता था। बाद में वह उन्हें पालकर उनका दूध भी पीने

लगा। जब पालतू पशु अधिक बढ़ने लगे तो उनके लिये चारे की कठिनाई होने लगी। अतः चारे की तलाश में मनुष्यों के समूह अपने पशुओं के झुण्डों सहित दूर-दूर जाने लगे। इस समय के मनुष्य का जीवन चरवाहों जैसा था और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक चरागाह से दूसरी चरागाह तक अपने पशुओं के साथ घूमते रहते थे। यह चरवाहा जीवन का काल भी सहस्रों वर्षों तक रहा। इस प्रकार घूमते फिरते जहाँ कहीं उन्हें अधिक हरियाली तथा जल की सुविधा दिखायी देती वहीं वे ठहर जाते। इस प्रकार नदियों, झीलों तथा तालाबों के किनारे उनकी झोपड़ियाँ बनने लगीं। पशु पालन का यह युग सभ्यता की प्रगति में एक बड़ी मंजिल थी। पशुओं के रक्षण के लिये मनुष्यों ने आपस में भी मेल जोल बढ़ाया, वह समूहों में रहने लगा और ऐसे ही समूहों के द्वारा आगे जातियों की नींव पड़ी।

पशु पालन के बहुत काल पश्चात् कृषि का युग आया। यह उन्नति की ओर एक ऐसा पग था जिसने मनुष्य के रहन-सहन में फिर एक बार क्रांतिकारी परिवर्तन किया। अनुमान है कि कृषि का आरम्भ आकस्मिक रूप से हुआ होगा। प्रारम्भ में जब मनुष्यों के समूह अपने पशुओं के साथ चारे की तलाश में इधर उधर घूमते थे तो उन्होंने देखा होगा कि उनके छोड़े हुए या गिरे हुए अनाज के बीज पौधों के रूप में उग आये हैं। और उनमें अनाज की बालियाँ लग रही हैं। तब उनके चित्त में अधिक अनाज सहज में प्राप्त करने के लिये अपने पास के जंगली अनाज के बीजों को जान-बूझकर पृथ्वी पर फैलाने का विचार पैदा हुआ होगा। जब घूमते-फिरते वे फिर उसी जगह आते होंगे, तो उन बीजों की उपज को इकट्ठा कर लेते होंगे। जब उन्हें यह अनुभव हुआ होगा कि बीज नियत समय पर पौधे बनकर फल देते हैं, तब वे अपने स्थानों पर फसल आने तक ठहर जाते होंगे, इस प्रकार वे एक स्थान पर स्थायी रूप से ठहरने के अभ्यस्त हो गये। खेती की शुरुआत इस प्रकार हो जाने पर वे वहीं घर बनाकर रहने लगे और उनका पारिवारिक जीवन स्थायी होने लगा। इसी प्रकार धीरे धीरे सामूहिक निवास अथवा समाज की बुनियाद पड़ी। कृषि-युग का आरम्भ कुछ पुरातत्ववेत्ता लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व मानते हैं, परन्तु यह हिसाब उन्होंने यूरोप की दृष्टि से लगाया है। अन्य स्थानों में यह काल इससे बहुत पूर्व आरम्भ हो चुका होगा।

यहाँ यह स्मरणीय है कि गेहूँ जौ आदि अनाज मनुष्य द्वारा उत्पन्न किये जाने से पूर्व जंगलों में प्राकृतिक रूप में उगते थे। ईरान आदि देशों में ये अनाज अब भी जंगलों में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं।

शिकार से आगे बढ़कर पशु पालन तथा कृषि कार्य तक मनुष्य ने जो प्रगति की उसे विद्वान प्रस्तर काल की ही प्रगति मानते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि प्रस्तर काल

का आरम्भ तथा अन्त पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में एक ही समय में नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न समयों में हुआ जिनमें हजारों वर्ष का अन्तर है। अनेक स्थानों में प्रस्तर युग में ही कृषि का आरम्भ हुआ होगा तथा अनुमानतः मिट्टी के चिकने तथा सुन्दर बर्तन बनाये जाने लगे होंगे। गाँव भी इसी समय में बसने लगे थे। मैसोपोटामिया में प्रस्तर-युग का अन्त ३५०० ई०पू० में हुआ समझा जाता है। डेनमार्क में १६०० ई०पू० में हुआ तथा न्यूजीलैण्ड में तो पाषाण युग ही १८०० ई० सन् तक अर्थात् अब से केवल २०० वर्ष पूर्व तक चलता रहा जबकि वहाँ के निवासियों का यूरोपीय जातियों से सम्पर्क हुआ। यूरोप में पुरा पाषाण-युग का समय ७००० ई० पू० तक अथवा ५००० ई० पू० तक भी समझा जाता है और उसके बाद नये पाषाण युग का आरम्भ हुआ। सम्भवतः मध्य एशिया में भी इसी समय नये पाषाण युग का आरम्भ हुआ ऐसा कुछ लेखकों का मत है। साधारणतः यह समझा जाता है कि अब से ६-७ हजार वर्ष पूर्व संसार के अधिकांश भागों में पाषाण युग समाप्त होकर धातु-युग प्रारम्भ हो चुका था।

जब कृषि मनुष्य को सभ्यता और सुधार के मार्ग पर लाई तथा मनुष्य जाति गाँवों में स्थायी रूप से बस गयी तब उसे अपनी रक्षा तथा सुव्यवस्था के लिये कुछ उपाय सोचने पड़े। इसी से आगे चलकर राजा तथा शासन-व्यवस्था का विकास हुआ।

मनुष्य समाज में धर्म का प्रारम्भ भी बहुत काल पूर्व होगया था जिसका कारण भय माना जाता है इससे अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित हुए तथा भिन्न भिन्न धर्मों का विकास हुआ।

धातु युग—

पाषाण युग के पश्चात धातु युग आया। कुछ विद्वानों ने इसके दो बड़े भाग किये हैं जिन्हें कांस्य युग तथा लोह युग कहा जाता है। कुछ लोग पाषाण युग के पश्चात् ताम्र युग की कल्पना करते हैं क्योंकि ताम्र एक स्वतन्त्र खनिज धातु है जिसके हथियार तथा औजार बनाये जा सकते थे। पत्थर के हथियारों की अपेक्षा तांबे के हथियार अधिक नुकीले तथा शक्तिशाली थे तथा शत्रु को हानि भी अधिक पहुँचा सकते थे। ताम्रयुग की कल्पना दुनिया के भिन्न भिन्न भागों में ३००० ई० पू० से १८०० ई० पू० तक की गई है। कुछ विद्वान ४००० अथवा ५००० ई० पू० में धातु युग में मनुष्य का प्रवेश मानते हैं तथा उसका आरम्भ ताम्र युग से मानते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार मध्य एशिया में २५०० ई० पू० से १५०० ई०पू० तक ताम्र युग रहा और १५०० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक पीतल युग रहा। * भारत में मोहेंजोदड़ो तथा बहादुरगढ़ (हरिद्वार) में ताँबे के हथियार प्राप्त हुए बताये जाते हैं। तांबे में कुछ भाग जस्ता का

* मध्य ऐशिया का इतिहास—राहुल सांकृत्यायन भाग १ अध्याय १

मिश्रण करने से पीतल नाम की एक नई धातु बन जाती है। पीतल के हथियार तांबे के हथियारों से भी अधिक कड़े होते थे। अत धीरे धीरे बहुत से देशों में पीतल का प्रचलन हो गया। कुछ लोग पीतल की ही तलवारें तथा भाले बनाते थे। यह मिश्रण की क्रिया मनुष्य ने धीरे धीरे ही सीखी होगी।

ताम्र तथा पीतल के पश्चात् कांसे का युग आया ऐसा माना जाता है। यह भी अनुमान है कि कांसे का ज्ञान पहले एशिया के लोगों को हुआ होगा और वहाँ से वह यूरोप के लोगों में पहुँचा। यूनान, इटली, आस्ट्रिया और फ्रांस में १००० ई० पू० तक कांस्य युग रहा और उत्तरी यूरोप में ४०० ई० पू० तक रहा। कुछ लोग ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक कांसे का प्रयोग का काल मानते हैं। कांसा, तांबे और टीन के मिश्रण से बनता है।

कांस्य युग के बाद लौह युग आया। अनुमान किया गया है कि लोहे का प्रयोग भी कांसे के समान पूर्व में ही सम्भवत पश्चिमी एशिया में आरम्भ हुआ और उसने शीघ्र ही कांसे को हटाकर उसका स्थान ले लिया। लगभग ३००० ई० पू० से इस काल का आरम्भ समझा जाता है और यही काल अभी तक चल रहा है। अनुमान किया गया है कि मिस्र देश में लोहा १५०० ई० पू० के लगभग पहुँचा, क्योंकि इससे पूर्व की मिस्र की कब्रों में लोहे का पता नहीं चलता। यूनान में लोहा लगभग १००० ई० पू० में पहुँचा और वहाँ से वह यूरोप के अन्य देशों में पहुँचा। उस समय तक यूरोप के लोग प्राय बर्बर अवस्था में ही थे अर्थात् भोजन की प्राप्ति के लिये केवल प्रकृति पर निर्भर न रहकर कृत्रिम साधनों का उपयोग करने लगे थे, पशु-पालन तथा कृषि कार्य करने लगे थे, किन्तु इससे आगे न बढ़े थे। लोहे का प्रयोग आरम्भ हो जाने पर ये लोग भी सभ्यता के युग में आ गये।

भाषा की उत्पत्ति तथा उन्नति—

धातुओं के प्रयोग के समान भाषा की उन्नति भी धीरे-धीरे हुई। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य बोलना नहीं जानता था तब वह पशुओं की तरह अपने गले से भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें निकालकर अथवा संकेतों से ही अपने भावों को प्रकट करता था। अनुमान किया गया है कि प्राचीन प्रस्तर काल तक मनुष्य बोल नहीं सकता था, परन्तु नवीन प्रस्तर-काल में वह बोलना सीख गया था। यद्यपि उस समय उसके शब्दों की संख्या सीमित ही रही होगी। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मनुष्य-समूहों ने अपने भाव प्रकट करने के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों की रचना की और इस प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास हुआ।

इसी प्रकार धीरे धीरे लिपि अथवा लेखन कला का विकास हुआ, जो उन्नति की

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मंजिल थी। पुरा पाषाण कालीन मनुष्य अपनी गुफाओं में भांति-भांति के भद्दे चित्र बनाया करता था। उन्हीं चित्रों से धीरे धीरे लेखन-कला का विकास हुआ। ऐतिहासिक काल के आरम्भ तक लेखन कला काफी उन्नति कर चुकी थी यद्यपि यह उन्नति भी भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न मंजिलों पर थी। बेबीलोनिया और मिस्र देशों में यह कला ५ ६ हजार वर्ष पूर्व काफी उन्नति कर चुकी थी ऐसा माना जाता है। उस समय लिखने का ढंग यह था कि जिस वस्तु के सम्बन्ध में कोई बात कहना हो उसकी आकृति लकीरों से बना दी जाती थी। उन्हीं रेखाओं तथा चित्रोंका अन्तिम विकास वर्णमाला के रूप में हुआ। ईराक और मिस्र की प्राचीन लिखावट चित्रलिपि की श्रेणी तक ही रही। अन्य कुछ देशों में चित्र के स्थान पर प्रतीकों से काम लिया जाने लगा अथवा अन्य प्रकार के चित्र बनाये जाने लगे। कहीं भिन्न भिन्न प्रकार की रेखाओं से भी काम लिया जाने लगा और इस प्रकार संसार के भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न लिपियों का विकास हुआ।

भाषाओं तथा नस्लों में मनुष्य-जाति का वर्गीकरण—

इस प्रकार संसार के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाएँ तथा लिखावटें प्रचलित हुईं। बहुत-सी भाषायें तथा लिपियाँ आपस में बहुत कुछ मिलती जुलती भी हैं। इसी प्रकार संसार के भिन्न भिन्न भागों में जो मनुष्य जाति विकसित हुई उसमें शारीरिक गठन, रंग रूप आदि की अनेक भिन्नतायें मानी जाती हैं। विज्ञानवेत्ताओं ने समस्त मनुष्य जाति का वर्गीकरण भाषाओं तथा शारीरिक विशेषताओं के आधार पर किया है।

संसार में अनेक भाषायें प्रचलित हैं। उनमें से एक बड़ा समूह "इन्डो यूरोपीय" भाषाओं का माना जाता है। बहुत से लोग इसी को आर्य भाषा समूह भी कहते हैं, क्योंकि इसके बोलने वाले आर्य जाति के लोग समझे जाते हैं। इस आर्य अथवा इन्डो यूरोपीय वर्ग की भाषायें भारत से लेकर अधिकांश यूरोप में फैली हुई हैं। भारत की संस्कृत, ईरान की पुरानी जेन्द तथा पारसी भी तथा यूरोप की ग्रीक, लैटिन, ट्यूटन, केल्टिक और स्लाव अर्थात यूनानी, इटालियन, फ्रांसीसी, जर्मनी, अंग्रेजी, रूसी आदि भाषायें इसी एक भाषा समूह के अन्तर्गत मानी जाती हैं, क्योंकि इनमें बहुत से शब्द मिलते-जुलते पाये जाते हैं। मूल शब्दों की इसी समानता के आधार पर यह माना जाता है कि ये सब भाषायें किसी समय एक ही रही होंगी और उनके बोलने वाले प्रारम्भ में एक ही स्थान पर रहे होंगे। बाद में जब वे लोग अलग-अलग दिशाओं में चले गये—तब यूरोपीय विद्वानों तथा भाषा शास्त्रियों की मान्यता के अनुसार—उनकी भाषाओं में अन्तर आता गया। यह भी अनुमान किया गया है कि जब एक भाषा

भाषी दूसरी जातियाँ एक ही स्थान पर रहती थीं उस काल को कम से कम ८ हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

दूसरे समूह की भाषाओं का नाम सेमेटिक या सामी भाषाओं का समूह है और इसमें हीब्रू, अरबी, शामी * (सीरियन) प्राचीन असीरियाइ (असुर) तथा बाबुल एवं प्राचीन फिनीशियाई भाषायें सम्मिलित हैं। बादमें यह भाषा मिश्र उत्तरी अफरीका तथा अबी सीनिया आदि में फैली। इन भाषाओं के शब्दों के मूल तथा व्याकरण के नियम आर्य भाषाओं से भिन्न हैं तथा लिखावट भी सीधी दाहिनी ओर से बाई ओर को लिखी जाती है किन्तु असुर, बाबुली तथा अक्कादी भाषाओं की लिखावट बाई ओर से सीधी दाहिनी ओर का चलती हैं, क्योंकि ये लिपियाँ सुमेरी लिपि से ली गई थीं।

तीसरा समूह हेमेटिक (हामी) भाषाओं का है और इस समूह में बर्बरी, प्राचीन मिस्री और अफ्रीका की कुछ अन्य जंगली जातियों की भाषायें तथा ऐजियन सागर के प्राचीन निवासियों की भाषायें सम्मिलित की जाती हैं। कुछ विद्वान इन्हें भी सामी समूह में ही सम्मिलित करते हैं।

उपर्युक्त तीन बड़े समूहों के अतिरिक्त कुछ और भी भाषा समूह माने जाते हैं जिनमें से एक तुर्की समूह कहलाता है जिसमें तातारी मुगल, मन्चू, लैपलैण्ड, फिनलैण्ड और साइबीरिया की कुछ भाषायें सम्मिलित समझी जाती हैं। एक चीनी समूह भी है जिसमें चीनी, बरमी, स्यामी और तिब्बती भाषायें सम्मिलित की जाती हैं। एक अन्य समूह अमेरिका की प्राचीन भाषाओं का माना जाता है। दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं तथा मलय भाषाओं को भी कुछ विद्वान इसी प्रकार के भाषा समूहों में मानते हैं।

इन भाषा समूहों का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध मनुष्य समाज की जातियों अथवा नस्लों से है। संसारमें जो मनुष्य समूह पाये जाते हैं उन्हें सूरत शक्ल, रंग-रूप, शारीरिक बनावट आदि के आधार पर कई जातियों अथवा नस्लों में बाँटा गया है। इनकी शारीरिक विशेषतायें एक दूसरी से इतनी भिन्न हैं कि मानना पड़ता है कि ये जातियाँ प्रारम्भ से ही अलग अलग उत्पन्न हुई हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यह जाति भेद भिन्न भिन्न स्थानों की प्राकृतिक विभिन्नताओं के कारण उत्पन्न हुआ है और वास्तव में मनुष्य-जाति एक ही है। किन्तु अलग अलग स्थानों पर अलग-अलग नस्लों के विकसित होने की धारणा अधिक बुद्धिगम्य जान पड़ती है।

---

* सामी और शामी का यह भेद ध्यान में रखना चाहिये। अंग्रेजीमें जिस देश को सीरिया कहते हैं उसका स्थानीय नाम शाम है। दूसरी ओर जिस भाषा समूह को सेमेटिक कहते हैं उसका हिन्दुस्तानी रूप सामी है दोनों अलग-अलग शब्द हैं।

यूरोप तथा पश्चिमी एशियाके पुराने लोग यह मानते थे कि संसार के समस्त मनुष्य नूह के तीन बेटों—साम, हाम और याफ्ज की सन्तान हैं। सामले या गेहुआ रंग की जातियाँ साम की सन्तान हैं, जंगली जातियाँ हाम की सन्तान हैं और गोरे तथा पीले चमड़े वाली जातियाँ याफ्ज की। बाद के लेखकों ने समस्त मनुष्य समाज को एक अन्य आधार पर तीन जातियों में विभाजित किया है जो गोरी पीली और काली कहलाती हैं। वह मनुष्य-समूह जो भारत, पश्चिमी एशिया और यूरोपमें हजारों वर्षों से बसा हुआ है गोरी नस्लका माना जाता है। दूसरा समूह वह है जो एशिया के पूर्वी भागमें फैला हुआ है और जिसका नाम मंगोल रखा गया है। इस जाति के लोगों का रंग पीला, बाल काले और सीधे, आँख छोटी और नाक चिपटी होती है। तीसरा बड़ा समूह अफरीका के हबशियों का है। ये लोग अमेरिका में भी काफी संख्या में पहुँच गये हैं। इनका रंग काला, बाल घुंघराले और शरीर बलवान होता है। कुछ लोग एक और चौथी नस्ल उन लोगों की मानते हैं जो आस्ट्रेलिया के प्राचीन निवासी हैं। इनका रंग भी काला होता है। संसार में यही तीन या चार मुख्य जातियाँ मानी जाती हैं।

मनुष्य जाति के ये भिन्न-भिन्न समूह अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार उन्नति की ओर बढ़ते रहे और उस अवस्था तक पहुँचे जहाँ से सभ्यता का तथा इतिहास का भी प्रारम्भ होता है। सभ्यता तथा इतिहास का प्रारम्भ का काल भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न भिन्न रहा। किसी जाति ने शीघ्रतासे सभ्यता की ओर पग बढ़ाया किसी ने बहुत धीमी गति से। यूरपीय विद्वानों का विचार है कि अब से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व मसोपाटामिया अर्थात सुमेर और बेबीलोन में तथा मिश्र देश में भी सभ्यता का प्रारम्भ हो गया था। भारत की सभ्यता को यूरोपीय विद्वान बाद की मानते हैं, किन्तु अनेक प्रमाणों से भारतीय सभ्यता अन्य समस्त सभ्यताओं से भी पुरानी सिद्ध होती है। अधिकांश यूरोपीय विद्वान सुमेर की सभ्यता को संसार की सबसे पुरानी सभ्यता मानते हैं। सुमेर, बेबीलोन, मिश्र आदि को सभ्यतायें कितनी पुरानी हैं तथा उनकी क्या क्या विशेषतायें थीं, इनका संक्षिप्त वर्णन अगले अध्यायों में किया गया है।

———

अध्याय २

सुमेर की प्राचीन सभ्यता

आज जो देश इराक के नाम से प्रसिद्ध है उसे प्राचीन काल से यूरोप के लोग मेसोपोटामिया कहते आये हैं। यह नाम यूनानी लोगों का रखा हुआ था जिसका अर्थ होता है दो नदियों के बीच की भूमि। गत प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद जबकि इस देश की सीमाओं का पुनर्निर्धारण किया गया तब इसका नाम इराक रखा गया जो इस समय प्रचलित है। इसकी वर्तमान राजधानी बगदाद है।

इराक मुख्यतः दो प्राचीन नदियों—दजला और फरात की भूमि है। उत्तर में आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान के प्लेटो हैं। इन पहाड़ों की पूर्वी श्रेणी की एक चोटी अरारात तीन मील के लगभग ऊँची है। इस चोटी के दक्षिण में एक और पहाड़ है जिससे फरात नदी निकलती है। इसी स्थान पर जागरोस पहाड़ों का सिलसिला शुरू हो जाता है। आर्मीनिया के नीचे वान झील के पास से दजला नदी निकलती है। इन नदियों की घाटियों का दक्षिणी भाग नीचा मैदान है जो ईरान की खाड़ी तक चला गया है। यही निचला भाग बेबीलोनिया कहलाता था। इस भाग की भूमि बड़ी उपजाऊ है। जिस प्रकार हमारे देश में गंगा और यमुना हिमालय पर्वत से निकलकर प्रयाग में मिलती हैं उसी प्रकार दजला और फरात मेसोपोटामिया के उत्तरी पहाड़ों से निकलकर बसरा नगर से कुछ मील उत्तर में एक दूसरी में मिल जाती हैं। प्राचीन काल में ये दोनों नदियाँ अलग-अलग धाराओं में फारस की खाड़ी में गिरती थीं।

दजला फरात नदियों के मुहानों की भूमि को पुरानी बाइबल में (ओल्ड टेस्टामेंट में) 'शिनार' कहा गया है। बाद में जब बेबीलोन शहर इस समस्त प्रदेश की राजधानी बना तब यह प्रदेश बाबुल या बेबीलोनिया कहलाया।

ऐतिहासिक दृष्टि से मेसोपोटामिया को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। उत्तर में असुर और अगाद हैं जो आगे चलकर काफी प्रसिद्ध हुए। मध्य में बाबुल नाम का प्राचीन नगर था। इस नगर ने मेसोपोटामिया की सभ्यता पर सबसे अधिक प्रभाव डाला जिससे यह समस्त देश ही बाबुल या बेबीलोनिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण का भाग केंगी (भूमि) अथवा केंगी सुमेर (सुमेर की भूमि) कहलाता था जो बादमें केवल सुमेर कहा जाने

लगा। सुमेर और अक्काद एक प्रकार से बेबीलोनियाके उपक्षेत्र थे, किन्तु उनमें जाति तथा भाषा सम्बन्धी भेद थे। अक्काद में बहुत प्राचीन काल से सामी भाषा बोली जाती थी तथा उनकी जाति भी सामी (सेमेटिक) थी जबकि सुमेर वालों की भाषा तथा जाति भिन्न थी। इसी कारण सुमेर और अक्काद अलग अलग प्रान्त गिने जाते हैं।

सभ्यता की आदि भूमि—

यह माना जाता है कि सभ्यता का विकास नदियों के तटों पर हुआ। दजला और फरात को अनेक सभ्यताओं की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। सुमेर, अक्काद, केल्डिया, बाबुल तथा असुर सभ्यताओं का जन्म तथा विकास इन्हीं नदियों के तट पर तथा इनके बीच की भूमि में हुआ। इनमें सबसे पुरानी सभ्यता सुमेर की समझी जाती है जो मेसोपोटामियाँ की ही नहीं, यूरोपियन विद्वानों तथा पुरातत्व शास्त्रियों की दृष्टि में संसार की सबसे पुरानी सभ्यता मानी जाती है। उनकी दृष्टि में सभ्यता का आरम्भ बेबीलोनिया अथवा मिस्र देश में हुआ। 'जब कोई तीन हजार या चार हजार ई० पूर्व के लगभग से प्राचीन इतिहास प्रारम्भ होता है तब सभ्यता बहुत छोटे से क्षेत्र में—पश्चिमी एशिया तथा मिश्र की नदी घाटियों में—सीमित थी।' ×
अधिकांश विद्वान अब यह मानते हैं कि बेबीलोनियाँ की सुमेरी सभ्यता मिस्र की सभ्यता से भी पुरानी है और मिश्र में सभ्यता बेबीलोनिया से ही पहुँची तथा फिर मिश्र से यह सभ्यता क्रीट टापू से होती हुई यूनान में पहुँची और वहाँ से रोम होती हुई समस्त यूरोप में फैली।

इस प्रकार मेसोपोटामिया अथवा बेबीलोनियाँ सभ्यता की आदि भूमि मानी जाती है। इस सभ्यता का कारण वे असंख्य तथा महत्वपूर्ण अवशेष हैं जो उक्त भूमि में उत्खनन कार्य किये जाने पर भूगर्भ से प्राप्त हुए हैं। इस भूमिमें उत्खनन के द्वारा अनेक प्राचीन नगरों का पता लगा है—सुमेर, एरिडू, उर, निप्पुर अगादे बाबुल, निनेवेह आदि—जिनमें कई प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष भूमि के भीतर दबे पड़े थे। इन अवशेषों को प्रकाश में लाने का श्रेय इंगलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी आदि के उन पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहास संशोधकों को है जिन्होंने वर्षों तक अथक परिश्रम करके इन अवशेषों को भूगर्भ से बाहर निकाला। सौ वर्ष पूर्व तक कोई नहीं जानता था कि सुमेर, अक्काद तथा बाबुल की सभ्यतायें कितनी प्राचीन हैं तथा अब से ५, ६ हजार वर्ष पूर्व वहाँ का जन जीवन कितना उन्नत हो चुका था। उक्त स्थानों की खुदाई होने पर ही उन प्राचीन सभ्यताओं का रहस्योद्घाटन हुआ तथा उन सभ्यताओं के प्रकाश में आने के कारण इतिहास के विद्वानों

×—*When ancient history begins some three or four thousand years before Christ civilisation was confined within a narrow area—the river valleys of Western Asia and Egypt—A History of Ancient World—by Hutton Webster*

को संसार के इतिहास तथा संसार की सभ्यताओं के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं तथा अपने विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने पड़े। वास्तव में उक्त स्थानों के उत्खनन कार्य ने संसार के इतिहास में महान परिवर्तन कर दिये हैं।

उत्खनन कार्य—

यूरोपीय विद्वानों की इतिहास जिज्ञासा अत्यन्त सराहनीय है जिसके कारण मेसोपोटामिया की प्राचीन भूमि में उत्खनन कार्य सम्भव हुआ। सर्व-प्रथम सन् १८५४ में श्री जे० ई० टेलर को—जो कि बसरा में ब्रिटिश कौंसल (राजदूत) थे, ब्रिटिश म्यूजियम की ओर से यह कार्य सौंपा गया कि वे मेसोपोटामिया के कुछ दक्षिणी स्थलों का जिनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ विद्यमान थीं, अनुसन्धान करें। बगदाद के पास ही—दक्षिण की ओर फरात नदी से १०-११ मील पश्चिम में कुछ पुराने टीले बने हुए थे जिनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कथायें प्रचलित थीं। एक टीला सबसे बड़ा था जिसे वहाँ के लोग तेल अल मुकय्यर कहते थे। टेलर ने पहले इसी टीले की खुदाई कराने का निश्चय किया। इस खुदाई में प्राचीन भवनों, मन्दिरों आदि के जो खण्डहर, शिलालेख तथा अन्य अवशेष प्राप्त हुए उनके द्वारा न केवल उन्हें अपना परिश्रम सफल हुआ दिखाई दिया, बल्कि आगे उत्खनन-कार्य के लिए प्रोत्साहन भी मिला। इन अवशेषों से इस बात का पता चला कि जिस स्थान को उत्खनन के द्वारा खोज निकाला गया है यह तो वही नगर है जो प्राचीन काल में 'उर' कहलाता था तथा जिसका उल्लेख यहूदियों की धर्म पुस्तक पुरानी बाइबल में जिसके द्वारा पश्चिमी एशिया के प्राचीन इतिहास में बड़ी सहायता मिली है 'खाल्दियों का उर'[1] के नाम से किया गया है। उर वह महत्त्वपूर्ण स्थान है जहाँ प्राचीन सुमेरी लोगों की मुख्य बस्ती थी जो बाद में खाल्दी लोगों की भी एक मुख्य बस्ती बनी तथा जो यहूदियों के आदि पुरुष हजरत इब्राहिम का निवास स्थान थी। उर के लोगों ने इब्राहिम को उर छोड़ने के लिये विवश किया था तथा वहाँ से निष्कासन के बाद उन्हें बहुत वर्षों तक इधर उधर भटकने के पश्चात् पश्चिमी एशिया में कनान प्रदेश में अपना घर बनाना पड़ा था। उर का विशेष महत्त्व इस कारण था कि उससे संसार की सबसे प्राचीन मानी जाने वाली सभ्यता सुमेरी सभ्यता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा।

पश्चात् १६ वीं शताब्दी के अन्त में एक अमरीकी दल ने लारसा (लासाद) स्थान की खुदाई की। इससे सुमेर की प्राचीन सभ्यता पर और अधिक प्रकाश पड़ा। १६१८ में मेसोपोटामिया में स्थित एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी श्री केम्पबेल थाम्पसन ने एरिदू नामक एक अन्य प्राचीन स्थान की खुदाई कराई। यह स्थान उर के दक्षि-

---

1 Ur of the Chaldees (Genesis XI 28)

पश्चिम में था तथा बड़ा पवित्र माना जाता था। सुमेरी लोगों का विश्वास था कि एरिदू पृथ्वी पर सबसे पुराना नगर था। इन स्थानों की खुदाई में प्राप्त सफलता के कारण आगे तो ब्रिटिश म्यूजियम की ओर से उत्खनन कार्य नियमित रूप से प्रारम्भ कर दिया गया तथा उर, एरिदू आदि के अतिरिक्त अल उबैद तथा कुछ अन्य छोटे स्थानों पर भी कार्य किया गया।

इनमें उर स्थान की खुदाई सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। वहाँ घरों में खाना पकाने की कई प्रकार के बर्तन, पत्थर के चिकने औजार, पुराने महलों और मन्दिरों के खण्डहर, शिलालेख, नामों से अंकित ईंटें आदि अनेक महत्व की वस्तुएँ प्राप्त हुईं। इन वस्तुओं से पता चला कि उर नगर की बस्ती काफी बड़ी थी तथा वहाँ पर आबादी दीर्घ काल तक रही। उर के पुराने राजाओं, राजवंशों, उनकी विजय पराजयों, राजधानियों आदि-आदि का भी ज्ञान हुआ जिससे उर के इतिहास का तथा सुमेर की प्राचीन सभ्यता का रूप बहुत कुछ स्पष्ट हुआ। इसी सामग्री के आधार पर यूरोपीय विद्वानों ने यह मत स्थिर किया कि संसार में सभ्यता का उदय इसी दजला-फरात की घाटी में हुआ तथा यहीं संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता है जो अब से लगभग ६ हजार वर्ष तथा ईसवी सन् से चार हजार वर्ष पुरानी है।

उर भूमि के खोदने पर नगर के बाहर भूमि के नीचे बहुत सी कबरें भी मिलीं। १६२६ में इन कबरों और कबरों के नीचे की भूमि की जो खुदाई की गई उसमें कबरों के नीचे की मिट्टी की तह में मिट्टी की कुछ पट्टियों पर कुछ लिखावट मिली। यह लिखावट ३००० ई० पू० की अनुमानित की गई है। यहीं कुछ पक्की ईंटें भी मिलीं जिनसे यह प्रमाणित हुआ कि उर में पक्की ईंटों के भवन बनते थे तथा वह सुसभ्य तथा समृद्ध लोगों का नगर था। विभिन्न स्तरों में प्राप्त हुई वस्तुओं से अनुमान किया गया है कि यह नगर दो ढाई हजार वर्ष तक कायम रहा होगा। ये ईंटें भी लगभग ३ हजार वर्ष ई० पू० की अनुमानित की गई हैं। कुछ भवनों की बनावट से ऐसा अनुमान होता है कि उनकी नींव में तथा उनके निचले भाग में पक्की ईंटें लगा दी जाती थीं तथा ऊपरी भाग में कच्ची। गरीबों की कब्रों के शवों के साथ मिट्टी के थोड़े से बर्तन भी गाड़ दिये जाते थे तथा अमीरों और राजवंश के लोगों की कब्रों में सोने के तथा अन्य प्रकार के हथियार, लकड़ी की वस्तुएँ तथा अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएँ भी गाड़ी जाती थीं। कुछ कबरें उर के प्रथम राजवंश की जो ३१०० ई० पू० के लगभग हुए, हैं तथा कुछ उनसे पूर्व की भी हैं। इन कबरों में प्राप्त हुई बहुत-सी वस्तुएँ कलापूर्ण भी हैं। कुछ कबरों में कान की बालियाँ तथा नाम की बेलनाकार मुहरें (नाम अंकित करने की) भी प्राप्त हुई। इस प्रकार भूगर्भ के भीतर से इतनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई कि उसके आधार पर सुमेर के इतिहास तथा सभ्यता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा।

सुमेर का इतिहास—

(१) सुमेर लोगों का आगमन—जहाँ तक पता लगा है 'सिनाइ' प्रदेश के सबसे पुराने निवासी सुमेरी लोग ही थे, परन्तु यह भी पता लगता है कि ये लोग उक्त प्रदेश के मूल निवासी न थे। अनुमान है कि ये सुमेरी लोग किसी अन्य देश से, पूर्वी और उत्तरी पर्वतों की घाटियों में होकर या समुद्री मार्गसे इस प्रदेश में ४००० ई० पू० के लगभग आये थे। सुमेरी लोगों के यहाँ आकर बसने से पूर्व यहाँ के मूल निवासी जंगली तथा असभ्य थे जिनके मिट्टी के चित्रित बर्तन तथा पत्थरके औजार मिले हैं। सुमेरी लोगों ने इस देश में आकर अपनी बस्तियाँ बसा लीं और वहाँ के पुराने लोगों के साथ—जो सामी जाति के थे—रहने लगे और खेती बारी करने लगे। सुमेरी लोगों ने यहाँ अपनी कई बस्तियाँ बसाईं जो एक दूसरी से स्वतन्त्र थीं अर्थात् प्रत्येक बस्ती का एक अलग राजा होता था और एक अलग देवता। एक सुमेरी कहानी के अनुसार पहली बस्ती दिल्मन थी जो देवता एरी द्वारा बसाई गई थी। यह एकी देवता सुमेरी सभ्यता का संस्थापक माना जाता है। यह एरिदू नगर का मुख्य देवता था। एरिदू नगर फारस की खाड़ी पर स्थित था। कुछ लोग एरिदू को प्रथम सुमेरी नगर मानते हैं।

सुमेरी लोगों की मुख्य बस्ती उर नामक नगर में थी। उनके आने के पूर्व भी यह बस्ती बसी हुई थी परन्तु वह एक गाँव जैसी थी जहाँ उस प्रदेश के पुराने निवासी रहते थे। सुमेरी लोगों ने यहाँ पक्की इंटों के मकान बनवाकर और बड़ी संख्या में बसकर उसे एक नगर बना दिया। उन्होंने नगर की रक्षा के लिये उसके चारों ओर एक मजबूत दीवाल भी बनवाई। यह बस्ती एक पहाड़ी पर बसी हुई थी। वहाँ के पुराने निवासियों ने अपनी मिट्टी की झोपड़ियाँ पहाड़ी के निचले ढालों पर तथा मैदानों में बना ली और वहीं खेती-बारी करने लगे।

ये सुमेरी लोग किस जाति के थे तथा कहाँ से आये इस सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वान अभी तक निश्चय नहीं कर सके हैं। श्री लियोनार्ड वूली जिन्होंने उर के उत्खनन में प्रमुख भाग लिया था (जिनका स्वर्गवास हाल ही में अप्रैल १९६० में हो गया) इतना ही कहते हैं कि ये लोग कहाँ से आये थे, यह हम लोग नहीं जानते ×

× Then at a date which we cannot fix people of a new race made their way into the Valley coming whence we do not know and settled down side by side with the old inhabitants These were the Sumerians —Ur of Chaldees by Leonard Wooley

उर तथा अन्य स्थानों पर जिन कब्रों का पता लगा है उनमें पुरानी कब्रें ३५०० से ३२०० ई० पू० तक की अनुमानित की गयी हैं। यह काल उन कब्रों में प्राप्त सामग्री के आधार पर निर्धारित किया गया है। इसी के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि सुमेरी सभ्यता इससे कई शताब्दी पूर्व की होना चाहिये तथा इसी आधार पर यह भी निश्चय किया गया है कि सुमेरी लोग इस भूमि में लगभग ४००० वर्ष पूर्व आकर बसे होंगे।

इन खोजों तथा निष्कर्षों से उन लोगों का अनुमान गलत सिद्ध हो गया है जो मिस्र की सभ्यता को संसार की सबसे पुरानी सभ्यता मानते हैं और यह कहते हैं कि मिस्र ही वह केन्द्र स्थल है जहाँ से सभ्यता का प्रकाश संसार में चारों ओर फैला। इसके विपरीत यह माना जाने लगा कि सुमेरी सभ्यता से ही बेबीलोन, असुर, मिस्र, फिनीशिया आदि ने प्रकाश पाया। जब ३००० ई० पू० में अथवा इससे पूर्व सुमेरी सभ्यता उन्नति पर थी तब मिस्र अनेक छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें आपसी झगड़े चलते रहते थे।

सुमेरी लोगों का विश्वास था कि उनके देश में एक बड़ी बाढ़ किसी समय आयी थी, परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि बाढ़ से पूर्व भी सुमेर में उनके कई राज्य स्थापित थे। वे मानते हैं कि बाढ़ से पूर्व उनके दस राजा राज्य कर चुके थे, परन्तु ये राजा कहाँ तथा कब हुए इसका कोई पता नहीं लगता। अतः इतिहासकार इन्हें काल्पनिक मानते हैं।

बाढ़ के पश्चात, 'राज प्रथा पुनः स्वर्ग से उतरी'। यह भी कहा गया है कि बाढ़ के बाद प्रथम राजधानी किश नामक स्थान पर स्थापित हुई। इसके बाद एरिच, उर, अवान आदि स्थानों में राजवंशों की स्थापना हुई। इनमें उर का राजवंश प्रमुख था।

(२) उर का राजवंश—

१९२३-२४ में उर से ३-४ मील दूर के एक गाँव की खुदाई में बहुत पुराने खण्डहर पाये गये। इन्हीं में एक भवन के खण्डहरों में एक सफेद पत्थर की पट्टिका मिली जिस पर कुछ लिखावट थी। एक लिपि विशेषज्ञ डा० गेड ने उन अक्षरों का इस प्रकार पढ़ा—उर के महाराज मेसनीपाद के पुत्र उर के महाराज अनीपाद द्वारा अपनी पत्नी निन खरसाग के हेतु यह निर्मित कराया गया। यह लेख वाला पत्थर उक्त भवन की नींव का था। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुमेरी लोग उस समय भी भवनों की नींव में ऐसे शिला-लेख लगाते थे जिनमें यह उल्लेख रहता था कि उक्त भवन किसने किस निमित्त बनवाया।

नींव के इस शिलालेख से एक महत्वपूर्ण खोज का समर्थन हुआ। सुमेरी राजाओं की जो नामावलियाँ प्राप्त होती हैं और जो तीन हजार ई० पू० के पहले की हैं उनमें

मेसनीपाद का नाम आता है। ये राजा दजला और फरात की निचली घाटियों के शासक थे। इन नामावलियों में बाद के राजाओं का समर्थन तो उनके नाम के कई स्मारकों से हो गया था और यह सिद्ध हो गया था कि वे नाम काल्पनिक नहीं ऐतिहासिक हैं। किन्तु पूर्ववर्ती राजाओं के समर्थन में कोई ठोस आधार नहीं मिल रहा था। अतः इतिहासकार उन नामों की सत्ता में सन्देह करते थे—विशेषकर इस कारण कि उन राजाओं की आयु का जो उल्लेख किया गया था वह प्रायः बहुत लम्बा था। किन्तु उक्त नींव के शिलालेख ने उन समस्त शंकाओं का समाधान कर दिया और उन समस्त नामों को सत्य मानने का आधार प्रदान कर दिया।

मेसनीपाद उर के प्रथम राजवंश का संस्थापक था और सुमेर की प्राचीन वंशावलियों में उसका राज्य काल ८० वर्ष का बताया गया था। इसी कारण इतिहासकार लोग उसके अस्तित्व में शंका करते थे, परन्तु उसके नाम का शिलालेख मिल जाने के कारण अब वे उसके राज्य काल को भी सत्य मानते हैं तथा सुमेर की प्राचीन वंशावलियों में उल्लिखित नामों को भी सत्य मानते हैं। उन वंशावलियों के आधार पर यह भी हिसाब लगाया गया है कि उक्त भवन जिससे उक्त शिलालेख प्राप्त हुआ ३१०० ई० पू० के लगभग बना होगा। उस समय की प्राप्त वस्तुओं के आधार पर ही उस समय की समाज व्यवस्था तथा कला आदि पर भी काफी प्रकाश पड़ा। इसी प्रकार उससे पूर्व की वस्तुओं के आधार पर पूर्ववर्ती सभ्यता तथा कला निपुणता का अनुमान किया गया। इस प्रकार उस एक ही शिलालेख के आधार पर उस समय की सभ्यता पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा।

यह भी अनुमान लगाया गया है कि जिस इमारत में उक्त शिलालेख प्राप्त हुआ वह मेसोपोटामिया की सबसे पुरानी इमारत रही होगी तथा संसार की भी सबसे पुरानी इमारतों में से एक होगी। उर के इस प्रथम राजवंश के—जो सुमेर का तृतीय राजवंश माना जाता है—अधिक भवन तथा अन्य स्मारक प्राप्त नहीं होते। ऐसा अनुमान किया गया है कि इस वंश का अंत एकाएक हो गया तथा सुमेर का शासन किसी दूसरे वंश के हाथ में चला गया तभी से उर की प्रधानता भी कम हो गई।

अनुमान है कि उर के राजवंश की समाप्ति के पश्चात् कुछ समय तक इस क्षेत्र में अराजकता रही। पश्चात् एरिच राज्य को प्रधानता मिली और राजा लुगाल जागिसी गद्दी पर बैठा। यह बड़ा प्रतापी राजा था जिसने अपने राज्य का विस्तार भूमध्य सागर तक कर लिया था। इसका समय २७५० ई० पू० समझा जाता है। फिर लागाश राज्य को प्रधानता मिली और वहाँ का राजा अन्नेनैना उर का भी अधिपति हो गया। अन्नेनैना की एक बिना सिर की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसका काल २७०० ई० पू० के लगभग समझा

(३) अक्काद का प्रभुत्व सारगौन—

उर के प्रथम राजवंश की समाप्ति के पश्चात् कुछ समय तक सुमेर में अव्यवस्था रही तथा कई छोटे-छोटे राजा प्रभुत्ता के लिये लड़ते-झगड़ते रहे। अन्तमें उत्तरी भाग के एक योद्धा ने जिसका नाम सारगौन था सुमेर की भूमि पर आक्रमण कर दिया और वहाँ अपना अधिकार कर लिया। सुमेर पर एक बाहरी राजा का आधिपत्य हो गया।

कहा जाता है कि यह सारगौन एक माली का पुत्र था तथा किश नामक नगर का निवासी था। वह सामी जाति का तथा सामी भाषा भाषी था। ये सामी लोग इस क्षेत्र में विशेषकर उत्तरी भाग में बसे हुए थे तथा इस क्षेत्र के मूल निवासी माने जाते हैं। कोई कोई इतिहासकार सामी जाति के लोगों का मूल-स्थान अरब को मानते हैं।

सारगौन वीर तथा महत्वाकांक्षी था। पहले उसने अपने यहाँ के—किश के—सुमेरी राजा के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया तथा सफलता प्राप्त की। किंतु उसने अपनी राजधानी किश में न रखी, उसने राजधानी अक्काद या अगादे नगर में स्थापित की जो उत्तरी मेसोपोटामिया में था। अब उत्तरी मेसोपोटामिया में अक्काद एक प्रधान नगर बन गया और इस नगर के कारण उत्तरी मेसोपोटामिया का नाम भी अक्काद पड़ गया। वहाँ की भाषा अक्कादी कही जाने लगी।

सारगौन ने उत्तरी मेसोपोटामिया तथा किश पर अधिकार करने के बाद प्राय समस्त दक्षिणी भाग पर भी—सुमेर आदि पर—अधिकार कर लिया और तब से वह 'सुमेर और अकाद का राजा' कहा जाने लगा तथा मेसोपोटामिया का नाम 'सुमेर और अकाद का राज्य' हो गया। सुमेर पर अकाद का ही अब प्रभुत्व था।

सारगौन बड़ा बलवान राजा हुआ। उसने शाम तथा फिलिस्तीन को भी जीत लिया तथा इस प्रकार भूमध्यसागर तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। फिर उसने एलाम, मीदिया और लघु एशिया तक भी अपना राज्य बढ़ा लिया। इसी कारण इतिहासकार उसे प्रथम विश्व-विजेता मानते हैं और उसके राज्य को एशिया का तथा संसार का भी प्रथम साम्राज्य मानते हैं। सारगौन का काल २६३०—२५७५ ई० पू० माना जाता है।

सारगौन के शासन-काल की एक बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि उसने सुमेरी राजाओं को हराकर समस्त सुमेर पर अपना अधिकार कर लिया, फिर भी उसने सुमेरी सभ्यता को अपना लिया। इसका कारण यही है कि उस समय की सामी सभ्यतासे सुमेरी सभ्यता कहीं ऊँची थी जिससे सारगौन जैसा विजेता भी प्रभावित हुए बिना न रहा। उसने सुमेरी लिपि भी अपना ली तथा उसमें राज्य का काम-काज होने लगा। कई सुमेरी प्रथायें भी उसने स्वीकार कर ली। इसी कारण उसका शासन सुमेरी लोगों को विदेशी

वैसा न जान पड़ता था तथा सुमेरी लोग उसके शासन में शान्तिपूर्वक रहे। फिर उसने समस्त सुमेरी नगर राज्यों को मिलाकर एक कर दिया।

सारगौन एक महान शासक था। उसके पुत्र का क्या नाम था पता नहीं चलता। किन्तु उसके पौत्र नरमसिन का नाम प्रसिद्ध है। वह भी एक बलवान राजा था जिसने सारगौन के विशाल राज्य को कायम रखा। उसने सुमेरी लिपि जो अक्कादियों द्वारा स्वीकार कर ली गई थी शाम आदि अपने साम्राज्य के देशों में भी प्रचलित की।*

(४) उर का तृतीय राजवंश—

किन्तु जान पड़ता है सारगौन और नरमसिन के पश्चात् अक्कादी राजवंश अधिक दिन न चला। सुमेरियों के लिये आखिर यह एक विदेशी शासन ही था। शासन कमजोर होते ही सुमेर में उसकी प्रतिक्रिया दिखाई दी। दक्षिण के लोगों ने अक्कादी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा शीघ्र ही उसे हटाकर पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। विद्रोह का नेतृत्व उर के लोगों ने ही किया था। अतः उर में पुनः एक सुमेरी राजवंश की स्थापना हुई। यह उर का तृतीय राजवंश कहलाता है। इस तृतीय राजवंश का संस्थापक उर नम्मू था जिसका नाम उर इंगुर भी मिलता है। उर नम्मू बलवान राजा था तथा उसने अपने राज्य का काफी विस्तार किया। उसके अनेक स्मारक समस्त मेसोपोटामिया में बिखरे मिलते हैं। उसने जो दान-भेंट आदि चढ़ाई वह मुख्यतः उर के नगर देवता ननार के नाम पर चढ़ाई थी। उर के मुख्य देवता ननार ही थे तथा इनकी एक पत्नी भी मानी जाती थी जिसका नाम निनगाल था। एक मन्दिर में प्राप्त टूटे शिलालेख से जान पड़ता है कि उर नम्मू पहले एरिच के राजा की अधीनता में था। उर के प्रथम राजवंश के पूर्व एरिच ही एक प्रमुख राज्य था। किन्तु उर नम्मू ने उस देश पर अपना अधिकार कर लिया तथा उर में पुनः राजधानी स्थापित की। उसने उर का पुनरुद्धार भी किया। राजधानी के चारों ओर रक्षा के लिये उसने कच्ची ईंटों की एक दीवार बनवाई। यह दीवार तो अब नष्ट हो गई है, किन्तु उसकी कुछ बड़ी-बड़ी ईंटें मिली हैं जिनसे अनुमान होता है कि दीवार बड़ी मजबूत रही होगी।

उर नम्मू के बाद इस वंश के ४ अन्य राजाओं ने राज्य किया। उन्होंने भी अपने राज्य का काफी विस्तार किया तथा यह राज्य उत्तर में असुर देश तक, पूरब में एलाम तक एवं पश्चिम में शाम तक फैल गया। इस प्रकार तृतीय राजवंश के शासन-काल में उर की एक बार फिर उन्नति हुई तथा उसे प्रधानता मिली। वास्तव में उर अपने प्रभुत्व के लाख

* *Sargon and his equally famous grandson Naramsin ruled effectively over the whole Syria to which they doubtlessly introduced the Sumerian writing that they had learnt and adopted to their Semitic language in Babylonia —Encyclopedia Britania-Syria*

काल में सबसे अधिक समृद्धि की अवस्था को इसी तीसरे राजवंश काल में पहुँचा। यह काल २३०० अथवा २४०० ई०पू० से २१०० अथवा २१५० ई०पू० तक का समझा जाता है।

किंतु इस राजवंश के शासन काल में सुमेरी सभ्यता को अधिक प्राधान्य न मिल सका। अक्कादी भाषा जो दक्षिणी भाग तक फैल गई थी चलती रही तथा लिपि प्राय सुमेरी थी। इस वंश के अन्तिम राजाओं ने तो स्वयं भी अक्कादी नाम धारण कर लिये थे जिससे कुछ लोग उन्हें सामी वंश का मानते हैं यद्यपि वास्तव में वे सुमेरी ही थे।

इसी वंश का राजा बुरसिन था (२२२० ई० पू० के लगभग)। उसने उर स्थान पर चन्द्रदेवी का मन्दिर बनवाया जो कच्ची ईंटों का था। चन्द्रमा की पूजा वहाँ एक देवी के रूप में होती थी।

उर के तृतीय राजवंश के ५ राजाओं के बाद पूरब की ओर से एलाम (फारस का दक्षिण पश्चिमी भाग) के लोगों ने उर पर आक्रमण कर दिया तथा उर, नम्मू और बुरसिन के वंश का अन्त कर दिया। उर का राजा कैद करके एलाम ले जाया गया तथा वहाँ के मन्दिर और भवन सब नष्ट कर दिये गये। समृद्ध उर पर भारी संकट आ पड़ा और नष्ट हो गया। इस बार उर के सुमेरी वंश का सदा के लिये अन्त हो गया। सुमेरी राज्य तथा सभ्यता का युग भी इसी के साथ समाप्त हो गया। उर का प्रभुत्व लगभग एक हजार वर्ष के पश्चात् सदा के लिये समाप्त हो गया। यद्यपि इसके बाद भी एक बार सुमेरी लोगों ने प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया तथा इसीन और लारसा के सरदारों ने उर पर पुनः कब्जा कर लिया, किन्तु यह अधिक समय तक न चला। उर के दिन समाप्त हो चुके थे।

सुमेरी सभ्यता—

सुमेर प्रदेश के उत्खनन में भूगर्भ से जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनसे एक ऐसे समाज का पता लगता है जो सभ्यता में काफी ऊँचा था, जिसकी सभ्यता नागरिक ढंग की थी, जिसके शिल्पकार भवन निर्माण के उन सिद्धान्त को जानते थे जिनसे आज हम परिचित हैं, जिसके कारीगर धातुओं के विविध प्रकार के उपयोगों से परिचित थे तथा जिसके व्यापारी दूर-दूर के देशों से व्यापार करते थे और उनका लेखा भी रखते थे। यहाँ के लोग कृषि कार्य भी भलीभांति जानते थे और इस कृषि तथा व्यापार के कारण वहाँ के लोग समृद्ध थे तथा यह समृद्धि उन्हें विलासप्रिय बना चुकी थी। इस सभ्यता की मुख्य मुख्य बातों का हम यहाँ संक्षेप में अवलोकन करेंगे।

भवन-निर्माण—

सुमेर में ३, ३½ हजार वर्ष ई० पू० में भी भवन प्राय पक्की ईंटों के बनते थे। ये लोग मेहराब का प्रयोग भी जानते थे। उर की कब्रों में एक जो सबसे पुरानी मानी

जाती है ३५०० ई० पू० की अनुमानित की जाती है। इस कबर में महराब तथा गुम्बज भी बने हुए मिलते हैं। उर के समीप तेल अल उबेद स्थान पर एक मन्दिर भी लगभग उसी काल का मिला है। इसके द्वार पर ताँबे की बनी हुई सिंहों की दो मूर्तियाँ खड़ी की गई थीं।

लगाश स्थान पर एक महल का चबूतरा मिला है जो ४० फीट ऊँचा है (भूमि तल से)। अनुमान किया गया है कि यह चबूतरा गुडिया नामक राजा के समय का था जिसका समय २६०० ई० पू० के लगभग का अनुमान किया जाता है।*

मन्दिरों में प्राय एक मीनार होती थी। बाद के बाबुली लोग इसे जिगुरत कहते थे। यह मीनार प्राय कई मंजिलों की होती थी और इसमें ऊपर जाने के लिये सीढियाँ लगी होती थीं। ऐसी मीनार का सबसे अच्छा नमूना उरमें ही प्राप्त हुआ है जिसे तृतीय राजवंश के संस्थापक उर नम्मू ने बनवाया था।

उन दिनों सुमेर में यह भी नियम था कि मुख्य मुख्य इमारतों की नींव में ताँबे की छोटी-छोटी मूर्तियाँ रख देते थे। इनके साथ पत्थर की तख्तियाँ भी रखी जाती थीं। ये तख्तियाँ पकी हुई ईंटों की सन्दूकों में मन्दिरों की दीवारों की नींव में चारों कोनों पर रखी जाती थी।

सुमेरी धर्म —

इस काल के सुमेरी नगरों में एक मन्दिर अवश्य होता था—एक मन्दिर स्थानीय देवता के लिये तथा एक उस देवता की पत्नी के लिये। इन्हीं मन्दिरों में बड़े पुजारी तथा छोटे पुजारी आदि भी रहते थे या यों कहना चाहिये कि ये पुजारी ही उस नगर के राजा, राज्यपाल तथा न्यायाधिपति आदि सब कुछ होते थे। इसी कारण इनका बड़ा प्रभाव तथा महत्व होता था। लेखक तथा अन्य पदाधिकारी भी प्राय इन्हीं पुजारियों में से नियुक्त किये जाते थे।

सुमेर के मुख्य देवता इय, एनलिल तथा अनु थे जो क्रमश जल, पृथ्वी तथा आकाश के देवता माने जाते थे। ये देवता वहाँ बहुत प्राचीन काल से—जहाँ तक के इतिहास का पता मिलता है—माने जाते थे। एनलिल की मान्यता विशेष कर से एरिच में थी तथा उसकी पत्नी का नाम था निन-लिल। निप्पुर स्थान पर उनका मन्दिर भी था। जल देवता इय का दूसरा नाम एंकी भी था। इनकी पूजा विशेष कर से एरिदू में होती थी। इनकी भी एक पत्नी थी जिसका नाम दमकिना था। आकाश या स्वर्ग के देवता अनु इन सबमें प्रधान थे। इनकी भी पत्नी थी जिनका नाम अनिती था। बाद में यही देवी इश्तर नाम से सामी जातियों की देवी बन गयी। सुमेर में सूर्य-देव की भी पूजा

* Encyclopedia Brittania Vol 2 —Western Asiatic architecture

होती थी जिनका नाम बब्बर था। सुमेर पर अक्काद का अधिकार हो जाने के बाद भी सुमेर की धार्मिक व्यवस्था वैसी ही रही।

सुमेरी भाषा और लिपि—

आज की भाषा सुमेरी मानी जाती है उसका पता पिछली शताब्दी के मध्य में सर हेनरी राॅलिंसन तथा अन्य विद्वानों ने लगाया था जबकि वे असुर राजा बनीपाल की लायब्रेरी से प्राप्त हुई पक्की ईंटों की लिखावट की जाँच कर रहे थे। ये ईंटें निनवाह नामक नगर के खण्डहरों में श्री लयर्ड को प्राप्त हुई थीं और वे उन्हें ब्रिटिश म्यूजियम में रखने के लिये ले आये थे। यह भाषा असीरिया की सामी भाषा से बिल्कुल भिन्न है और कोल्दार१ लिपि में लिखी है। जान पड़ता है सुमेरी लोगों ने इसी भाग में पहले चित्रलिपि २ आविष्कृत की थी फिर भी यह कील्दार बन गयी। यह परिवर्तन ३५०० पू० के लगभग ही हो गया होगा। एरिच के एक पुराने राजा *लगान जगीसी ने अपनी विजय का हाल ईंटों पर अंकित कराया था ऐसा पता चलता* है (२८ वीं शती ई० पू०)। बाद में सामी लोगों ने इसी कीलदार लिपि को स्वीकार कर लिया तथा यह बाबुल असुर आदि देशों में प्रचलित हो गई।

प्रारम्भ में सुमेरी-भाषा में प्रत्येक विचार के लिए एक चिह्न नियत था और ऐसे हजारों चिह्न होते थे। बाद में बाबुलवालों ने इनमें से बहुत से चिह्न अपने यहाँ ले लिये तथा धीरे धीरे कुछ अन्य परिवर्तन होते रहे।

तिथि-पत्र—

प्राप्त चिह्नों के आधार पर ज्ञात हुआ कि सुमेर के लोग अपने यहाँ एक पंचांग अथवा तिथि पत्र भी रखते थे। उर के तृतीय राजवंश के काल (२३०० २१५० ई० पू०) से इस तिथि पत्र का पता चलता है। निपुर में भी इसी का प्रयोग होता था। इस तिथि पत्र के अनुसार महीने की गणना चन्द्रमा के आधार पर की जाती थी।

यूरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि ज्योतिष का आदि स्थान सुमेर ही है तथा वे लोग ग्रहों की गति का भी ठीक ठीक पता लगा लेते थे। चन्द्रमा की घटती-बढ़ती का भी वे ठीक हिसाब रखते थे तथा चन्द्रग्रहण का भी समय बहुत पहले से हिसाब लगा कर बता देते थे ×

राजनियम—

सुमेरी लोग किसी व्यवस्था तथा कुछ राजनियमों के अन्तर्गत चलते थे—यह स्पष्ट

१ कीलाकार cuneiform २ चित्र लिपि hieroglyphic

× *The method of d[illegible] ination is undoubtedly of sumerian origin and led to an astonishingly accurate knowledge of astronomy—Encyclopedia Brittanica*

है क्योंकि ऐसी अवस्थामें ही उनके नगरों की तथा समाज की उन्नति सम्भव थी। भूमि के क्रय-विक्रय के भी कुछ लेखे मिलते हैं। मिट्टी की कुछ पट्टिकाओं पर कुछ राज-नियम भी सुमेरी-भाषा में लिखे मिले हैं जो २००० ई० पू० के अथवा उससे भी पूर्व के अनुमानित किये गये हैं।

व्यापार—

इस काल में समुद्री व्यापार काफी तेजी से चलता था ऐसा पता लगता है। विदेशों के व्यापारी जहाज प्राय उर तथा अन्य नगरों में आया करते थे। व्यापार की वस्तुओं में ताँबा तथा भवन बनाने के पत्थर का भी आयात होता था।

सुमेर में नाम की छोटी अथवा मुहरें भी काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों का उपयोग सम्भवतः व्यापार के लिए ही, व्यापार की वस्तुओं पर नाम अङ्कित करने के लिए होता होगा। ये मुहरें चौखूटी, वर्गाकार तथा बेलनाकार भी मिलती हैं। बहुत सी मुहरें लगभग ३००० ई० पू० की अनुमानित की गई हैं।

विश्वास—

सुमेर में खोद कर निकाली हुई प्राय सभी कब्रों में शवों के साथ गाड़ी हुई अनेक प्रकार की वस्तुएँ मिली हैं। कई राजाओं की कब्रों में सोने के आभूषण, पान की थालियाँ, चाकू छूरे आदि भी मिले हैं तथा उनके नाम की मुहरें भी मिली हैं। शव को ढकने वाले सन्दूक के बाहर भोजन की वस्तुएँ तथा पानी के बर्तन मिले हैं। भोजन की वस्तुएँ मिट्टी के बर्तनों में भरकर रखी जाती थीं। खाने पीने की इन वस्तुओं से पता चलता है कि ये लोग मरणोत्तर जीवन में विश्वास करते थे। ये जानते थे कि मृतात्मा दूसरे लोक में अपनी यात्रा के समय खाने पीने की वस्तुओं को भी अपने साथ ले जाती है। राजाओं की मृत्यु पर मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी बाद के काल में सुमेरी राजाओं को उनके जीवन काल में ही देवताओं का अवतार माना जाने लगा था। तथा मृत्यु के बाद उनकी पूजा देवताओं की भाँति होती थी।

कुछ अन्य वस्तुएँ—

सुमेर की एक शाही कब्र में जो पत्थर की बनी हुई है उर के ध्वज अर्थात् झंडे के भी अवशेष मिले हैं। इस पर एक ओर राजा तथा उसके परिवार के लोगों के चित्र हैं जो कुर्सियों पर बैठे हुए हैं। इसके नीचे की पंक्ति में सुमेरी रथ है। प्रत्येक रथ दो गधों द्वारा खींचा जा रहा है तथा प्रत्येक में दो मनुष्य एक रथी तथा दूसरा सारथी बैठे हैं। रथी या योद्धा हाथ में बरछी लिये हुए है तथा कुछ अन्य बरछियाँ भी पास ही एक तरकस में रखी हैं। सुमेरी पदाति सेना भी इनुओं से लड़ता हुआ दिखाया गया है।

कब्रों से मिले पात्रादिकों से भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी ऊँचे घरानों

की स्त्रियाँ अपने सिर को विविध प्रकार से सजाती थीं। कुछ कब्रों से सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री, आँख पर रंग लगाने की सामग्री आदि भी प्राप्त हुए हैं।

सुमेरी सभ्यता का भारत से सम्बन्ध—

दीर्घकालीन उत्खनन-कार्य के फलस्वरूप सुमेर के विभिन्न स्थानों से जो प्राचीन सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई है वह निःसन्देह आश्चर्यजनक है तथा यह देखकर चकित रह जाना पड़ता है कि आज से ५,६ हजार वर्ष पूर्व में सुमेर के लोगों ने सभ्यता में इतनी उन्नति कर ली थी, भवननिर्माण-कला को सीख लिया था, धातुओं का प्रयोग जान लिया था तथा लिपि-पत्र का एवं लिपि का भी आविष्कार कर लिया था। इसी आधार पर यूरोपीय विद्वानों ने—जिन्हें उक्त उत्खनन कार्य का श्रेय प्राप्त है यह स्थिर किया है कि संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता सुमेरी ही है तथा वहीं से सभ्यता का प्रकाश मिस्र, यूनान तथा अन्य देशों में फैला।

यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि में भारत में सभ्यता का प्रकाश बहुत बाद में आया। आज भी अधिकांश विद्वानों की—जिनमें बहुत से भारतीय विद्वान तथा इतिहासकार भी सम्मिलित हैं—यही मान्यता है कि भारत में सभ्यता का प्रचार आर्य लोगों के द्वारा हुआ और ये आर्य लोग ईस्वी सन् से डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व किसी बाहर के देश से आये थे। इस प्रकार भारतीय सभ्यता हजार बारह सौ वर्ष से अधिक की नहीं है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा आदि स्थानों के उत्खनन से सिन्धु सभ्यता का जो उद्घाटन हुआ उसके कारण वे यह मानने के लिये तो बाध्य हुए कि ईस्वी सन् से ढाई तीन हजार वर्ष पूर्व भी—क्योंकि सिन्धु सभ्यता का यही काल निर्धारित किया गया है—भारत में कोई सभ्यता विद्यमान थी तथा वह एक उच्चकोटि की विकसित नगरी सभ्यता थी। परन्तु उनका अनुमान यह है कि यह सिन्धु सभ्यता या तो द्रविड़ लोगों की है क्योंकि आर्य लोग उस समय तक भारत में नहीं आये थे या फिर बाहर के आये हुए किन्हीं लोगों की है। सिन्धु घाटी तथा सुमेर के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं में जो आश्चर्यजनक साम्य दिखायी देता है उसके कारण कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि शायद सुमेरी लोग ही भारत की सिन्धु घाटी में आये हों अथवा आर्यों की कोई टोली यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया से चलकर भारत आई हो। परन्तु इन अनुमानों के कोई ठोस आधार नहीं हैं। ये अधिकतर कल्पनाओं पर ही आधारित हैं। इसके विपरीत ऐसे प्रमाण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सुमेरी सभ्यता पर भारत का प्रभाव ही नहीं था, बल्कि सुमेर में उक्त सभ्यता का प्रचार करनेवाले लोग भारत के ही मूल निवासी थे। वे विभिन्न कारणों से भारत से बाहर गये तथा अपनी विकसित सभ्यता अपने साथ लेते गये जिसका इन्होंने उन देशों में प्रचार किया तथा अन्य सभ्यताओं को प्रभावित किया।

सुमेर के इतिहासमें सबसे पहले जो बात हमें आकर्षित करती है वह है वहाँ के नगरों, वहाँ के राजाओं तथा वहाँ के देवताओं के नामों से भारतीय नामों की साम्यता। सुमेर नाम ही विशुद्ध भारतीय दिखायी देता है। फिर उर, निप्पुर आदि नगर, अनीपाद, मैस नीपाद, अतेमैना आदि राजा तथा अनु, इन्द्र आदि देवता भारतीय भाषा से ही उद्भूत जान पड़ते हैं। यदि हम भारतीय पुराणों पर दृष्टि डालें तो 'सुमेर' अथवा 'मेरु' का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है।* चाक्षुष मनु के पुत्रों में 'उरु' तथा 'पुरु' के नाम गिनाये गये हैं।१ 'निप्पुर' का 'पुर' शब्द तो शुद्ध भारतीय है ही जो ऋग्वेद२ से लेकर आज तक प्रचलित है। राजाओं में कल्याणपाद का नाम भी पुराणों में है। इसी प्रकार चन्द्रवंश के राजा ययाति की पत्नी शर्मिष्ठा के तीन पुत्रों के नाम अनु, द्रुह्यु तथा पुरु बताये गये हैं। बाद में आर्यों की तीन प्रधान जातियाँ भी इन्हीं नामों से प्रख्यात हुईं। यह भी उल्लेख मिलता है कि द्रुह्यु के वंशधर भारत के बाहर म्लेच्छ देशों में फैले। 'ईय' अथवा 'य' नामक देवता ऋग्वेद का 'यहृ' अथवा 'य' देवता जान पड़ता है।३



सुमेर के विष्णन (विष्णु ?) नामक चित्र
श्री सम्पूर्णानन्द लिखित 'आर्यों का आदि देश' से

कुछ अन्य देवताओं में भी साम्य दिखाई देता है। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने बताया है—इय देव (यह) की जो मूर्तियाँ सुमेर में मिलती हैं, उनमें आधा शरीर मनुष्य का

है, आधा मछली का या आगे का भाग मनुष्य का, पीठ मछली की। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि यह 'नि-इ-ए-शन' विष्णु का ही रूपान्तर है। यह भी याद रखना चाहिये कि विष्णु सूर्य का नाम है और विष्णु का पहला अवतार आधा मनुष्य का आधा मछली के रूप में हुआ था (आर्यों का आदिदेश—पृष्ठ २२०-२१)

आचार, विचार तथा विश्वास—

सुमेरी लोगों के बहुत से आचार, विचार तथा विश्वास भी प्राचीन भारत के आचार विचारों तथा विश्वासों से मिलते जुलते पाये जाते हैं। सुमेरी लोगों का विश्वास था कि भूमि का स्वामी तो ईश्वर है किन्तु भूमि पर उसका प्रतिनिधित्व राजा ही करता है। यह माना जाता था कि राजाओं को दैवी-शक्ति प्राप्त होती है। इसी कारण सुमेर में राजा का बड़ा मान था तथा पश्चात्वर्ती काल में तो राजाओं को जीवन काल में ही देवतुल्य माना जाता था। यह मान्यता भी भारतीय विश्वासों से अधिक भिन्न नहीं है। राजा को ईश्वर अथवा ईश्वरीय अंश मानने की परम्परा भारत में अति प्राचीन काल से है। मत्स्य-पुराण४ में कहा गया है कि ब्रह्मा ने दण्ड की व्यवस्था के लिए तथा सभी प्राणधारियों की रक्षा के लिये ही सभी देवताओं के अंशों को लेकर राजा की रचना की है। ऋग्वेद में भी अनेक स्थानों पर राजा का वर्णन इस रूप में किया गया है।

सुमेर वालों का जल प्रलय सम्बन्धी विश्वास भी भारतीय विश्वास से मिलता जुलता है। पुराणों में जिस प्रकार जल प्रलय का वर्णन है५ तथा उसके पश्चात् सृष्टि की पुनः उत्पत्ति बताई गई है उसी प्रकार की कथा सुमेर में भी प्रचलित थी। अर्थात् किसी समय प्रलयकर बाढ़ आई जिससे उनका देश नष्ट हो गया था राज प्रथा पुनः स्वर्ग से उतरी।६

ॐ मत्स्य पुराण अध्याय १३, वायु पुराण अध्याय ३४।

१—मत्स्य पुराण अध्याय ४

२—ऋग्वेद—१-११२-१४, १ १०३ ३, ६ २०-१०, ६ ३१ ४ आदि

३—सम्मेलन पत्रिका २००८ श्री चतुरसेन शास्त्री

४—मत्स्य पुराण अध्याय २२६, १ २

५—मत्स्य पुराण अध्याय १ जल प्रलय की कथा

6 *Then came the flood and after the flood kingship again descended from Heaven* — *Of chaldees Leonard Wooley* *P 18*

यहूदियों की धर्म पुस्तक 'पुरानी बाइबल' (अ एड टेस्टामेन्ट) में भी जल प्रलय की कथा बताई गई है। ऐसा माना जाता है[1] कि बाइबल में इस कथा का आधार सुमेरी लोगों की ही अनुश्रुति थी जिसका उल्लेख सुमेरमें ई०पू० ७००० से भी पूर्व का मिलता है जबकि पुरानी बाइबिल इस काल में कई सौ वर्ष बाद की रचना मानी जाती है।

सुमेर में अनेक स्थानों पर ऐसे भी चिह्न मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मृतकों के दाह-संस्कार की प्रथा भी वहाँ प्रचलित थी यद्यपि अधिकतर मृतकों को गाड़ा जाता था।[2] सारगौन के समय से पूर्व तो दाह की प्रथा ही अधिक प्रचलित थी।

बहुत-सी कब्रों में ऐसे तावीज मिले हैं जिनमें मेंढक आदि की आकृतियों के अतिरिक्त बन्दर की भी आकृतियाँ बनी हुई हैं। विद्वानों का अनुमान है कि बन्दर सुमेर का मूल प्राणी नहीं है वह वहाँ भारत अथवा मिस्र से ही आया होगा।[3] इसके अतिरिक्त नदियों के रेत के नीचे दो नग हरे रंग के रत्न प्राप्त हुए हैं जिसका सबसे निकट का उत्पत्ति स्थान भारत का नीलगिरि पर्वत माना जाता है।[4] इन बातों से कम से कम इतना स्पष्ट है कि उन दिनों में भी मैसोपोटामिया के साथ भारत का व्यापार होता था तथा जो देश दूर दूर के देशों से व्यापार कर रहा हो वह असभ्य दशा में नहीं हो सकता।

रथ और घोड़े—

एक अन्य आधार पर भी प्राचीन भारत तथा सुमेर में सम्पर्क सिद्ध होता है। ऊपर बताया गया है कि एक शाही कब्र में उर न अण्डे व जो अवशेष प्राप्त हुए उस पर रथ के भी चित्र बने हुए थे। ये रथ सुमेर की सेना के हैं तथा प्रत्येक रथ में एक सशस्त्र रथी तथा एक सारथी बैठा दिखाया गया है। इससे स्पष्ट है कि सुमेर की सेना में रथों का भी उपयोग होने लगा था।

---

1 Ur of Chaldees—Leonard Wooley p 18

2 Extensive remains of cremation have been found in all the pre Sargonic periods in the earlier graves of Ur—Encyclopedia Brittania

3 An important feature is the appearance of the monkey among other amulets in the shape of rams and frogs The monkey was not a native to this country and must have been known by importation from elsewhere

Egypt or India—Encyclopedia Brittanica Vol I Babylon.

4 Digging up the last—Leonard Wooley p 107

"सुमेरी लोगों का यह भी विश्वास था कि उनके पूर्वज जो कि पूरब की ओर से सुमेर में आये जहाजों में बैठकर आये थे तथा फारस की खाड़ी होकर आये थे। उन्होंने यहाँ आकर जो पहली बस्ती बसाई उसका नाम दिल्मन था तथा वह एकी देवता द्वारा बसाई गयी थी। यहाँ एकी देवता सुमेरी सभ्यता का संस्थापक माना जाता है। यह एरिदू नगर का जो प्रथम सुमेरी नगर कहा जाता है—का मुख्य देवता था। एरिदू नगर फारस की खाड़ी पर स्थित था। दिल्मन भी कहीं फारस की खाड़ी पर स्थित रहा होगा। इस प्रकार स्वयं सुमेरी लोग ही अपनी सभ्यता के आरम्भ का सम्बन्ध फारस की खाड़ी से तथा ऐसे लोगों से जोड़ते हैं जो जहाजों में बैठकर यहाँ आये थे।"१

अंग्रेजी के प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रन्थ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेन में भी यह माना गया है कि सुमेर के लोग फरात नदी के पूर्व से आये थे।२

हिन्दी के कुछ इतिहासकारों ने भी इस मत का समर्थन किया है। डा० सत्यनारायण इस सम्बन्ध में लिखते हैं।३

"इराक की सबसे प्राचीन सभ्यता अक्काद और सुमेर की थी। वहाँ से प्राप्त मूर्तियों का अध्ययन कर बहुत से विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि सुमेरियन लोग सम्भवत भारत से ही वहाँ गये थे और वहाँ पहुँचने के पहले ही यह मत सुमेरियनों की अनुश्रुतियों का समर्थन करता है।

डा० सत्यनारायण आगे लिखते हैं "सुमेर के बाद काल्डिया और बेबीलोनियों के उत्कर्ष के समय भी वहाँ के लोगों का भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था इसके यह प्रमाण

1 *Dilmum was the first settlement that was made by the God Enki who was the founder of Sumerian Civilization He was the God of the first Sumerian City Eridu situated on what was then the head of Persian Gulf Enki is said to have come from Persian Gulf and to have taught the Sumerians their civilization He presumably also arrived in a ship Thus the Sumerians themselves closely associate the origin of their civilization with Persian Gulf perhaps with men who came in ships —The Growth of Civilization W J Perry p 60*

2 *The period of their entry into the valleys of Tigris & Euphrates is still beyond the scope of exact historical research but great cities and cults were already in existence before 3500 B C and that is quite clear evidence that they moved into the area from the eastern side of the Euphrates— Ency Brit*

३. हमारा देश—सत्यनारायण पृ० ६६

मिलते हैं। वहाँ के ६ हजार वर्ष पुराने खण्डहर में साल की लकड़ी का एक टुकड़ा मिला है जो भारतीय ही हो सकता है। यह भी पता लगता है कि सुमेर और अक्काद के लोग जो वस्त्र काम में लाते थे वह 'सिंधु' कहलाता था। यह इस बात का प्रमाण है कि भारतीय वस्त्र उस काल में भी सुमेर और कोल्डिया तक पहुँच चुका था तथा यह वस्त्र वहाँ सिंधु घाटी से ही पहुँचता था।

श्री हाल १ तथा श्री पाकोक २ जैसे यूरोपीय विद्वानों का भी यही मत है कि सुमेरी सभ्यता के जन्मदाता भारत के ही लोग थे। श्री पी० टी० श्री निवास आयगर ने भी इसी मत का समर्थन किया है। 'तामिल साहित्य और संस्कृति' में श्री अवध नन्दन लिखते हैं—'डा० चटर्जी ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि यदि सुमेर की सभ्यता के सम्बन्ध में डा० हाल के विचार प्रामाणिक माने जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सभ्यता का आरम्भ सर्व प्रथम भारत में हुआ और द्रविड जातियों के द्वारा हुआ। यहाँ से वह मेसोपोटामिया पहुँची और वहाँ पहुँचकर बेबीलोन की तथा अन्य प्राचीन संस्कृतियों की जन्मदात्री बनी जो वर्तमान सभ्यताओं की जननी मानी जाती है।३

सुमेरी आर्य जाति के थे—

एक अन्य वैज्ञानिक तथा विश्वसनीय आधार पर भी इस मत का समर्थन होता है कि सुमेरी लोग आर्य-जाति के ही थ। उर में अनुसंधान करने वाले श्री लियोनार्ड वूली का कथन है।

'हम यह निश्चित रूप से नहीं जानते कि सुमेरियन कौन हैं। परम्परा के अनुसार वे पूरब से आये। उनकी हड्डियों तथा खोपड़ियों का जो अध्ययन किया गया उससे पता लगता है कि वे मनुष्य-जाति के इण्डो यूरोपियन वंश की ही एक शाखा थे।४ यह 'इण्डो यूरोपियन' आर्य-जाति का ही यूरोपियन विद्वानों द्वारा रखा हुआ नाम है।

इस प्रकार नामों में सादृश्य, आचार विचार तथा विश्वास, यहूदियों की प्राचीन धर्म पुस्तक 'पुरानी बाइबल' के उल्लेख, सुमेरी अनुश्रुतियों एव परम्पराओं, यूरोपीय अनुसंधान कर्ताओं तथा इतिहासकारों की खोजों तथा हड्डियों और खोपड़ियों की वैज्ञानिक जाँच इन सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि सुमेरी सभ्यता का यूरोपीय इतिहास-

---

1 *Ancient History of Near East* 2 *India in Gre[illegible] by Pocock*

३ तमिल साहित्य और संस्कृति अवधनन्दन पृ० ३६

4 *We do not quite know who the Sumerians are Tradition would make them come from the East The study of their bones and skulls shows that they were a branch of Indo-European stock of the human race.*

Ur of the Chaldees—Chapter II p 81

कारों की दृष्टि में संसार की सबसे प्राचीन तथा उचकोटि की सभ्यता है—भारत के निवासियों द्वारा ही सुमेर में पहुँचकर स्थापित की गयी थी।

ये भारतीय जन कौन थे तथा वे किस कारण भारत से बाहर गये इस पर 'भारत की प्राचीन सभ्यता' तथा अन्य अध्यायों में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि सुमेरी सभ्यता से पूर्व ही भारतीय सभ्यता विकास की उच्च सीमा को पहुँच गयी थी। किन्तु भारत के कुछ दलों को—जो अन्य लोगों से धार्मिक तथा अन्य प्रकार के मतभेद रखते थे—परस्पर संघर्ष के कारण तथा संघर्ष में पराजय के कारण भारत छोड़कर अन्य देशों में आश्रय लेना पड़ा। यह भी सम्भव है कि कुछ लोग व्यापार तथा अन्य कारणों से भी पश्चिम की ओर के देशों में गये हों। किन्तु यह निश्चित है कि भारत के लोग ही प्राचीन काल में मेसोपोटामिया के दक्षिणी भाग में जाकर बसे थे तथा उन्होंने अपनी इस बस्ती का नाम सुमेर रखा था। उनकी सभ्यता वहाँ के मूल निवासियों से काफी ऊँची थी। अतः सहज ही यह वहाँ के लोगों को प्रभावित कर सकी। यह कहना कि सुमेर के लोगों ने भारतमें आकर अपनीसभ्यता का प्रचार किया अथवा आर्य लोग पश्चिम से चलकर सुमेर होते हुए भारत में आये तथा यहाँ उन्होंने अपनी सभ्यता का प्रसार किया सर्वथा निर्मूल तथा निराधार है। आगे सिन्धु सभ्यता तथा सुमेरी सभ्यता का जो तुलनात्मक विवेचन किया गया है उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है तथा यह उक्त सिद्धान्त का एक और सुदृढ़ प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सिन्धु घाटी तथा सुमेरी सभ्यताओं में साम्य—

सिन्धु घाटी के मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो, हरप्पा आदि स्थानों से उत्खनन में जो अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें तथा सुमेर के अनेक स्थानों से उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं में इतना अधिक साम्य दिखाई देता है जो अन्वेषकों को सहज ही आकर्षित करता है। इसी साम्य के आधार पर इतिहासकारों ने अनेक प्रकार के अनुमान लगाये हैं तथा अनेक निष्कर्ष भी निकाले हैं।

दोनों स्थानों की वस्तुओं में निम्नलिखित बातों में समानता है —

भवन निर्माण —

सुमेर में उर, लागाश तथा अन्य स्थानों की खुदाई में पकी ईंटों की इमारतों के अवशेष मिले हैं जिनमें महराव गुम्बज आदि भी थे। इससे प्रमाणित होता है कि वहाँ के शिल्पकार भवन *निर्माण कला* के सिद्धान्तों से परिचित थे तथा धातुओं का प्रयोग भी जानते थे। इसी प्रकार मोहेंजोदड़ो तथा हरप्पा में पक्की इमारतों के अवशेष मिले हैं तथा पकी ईंटें भी मिली हैं जिनसे भवन बनाये जाते थे। इतना ही नहीं मोहेंजोदड़ो

की खुदाई में तो पूरे नगर का ढांचा ही प्राप्त हुआ है। एक ऐसे नगर का ढांचा जिसके भवन पक्की ईंटों के थे, नगर में गलियाँ थीं और सड़कें थीं, भवनों में पक्के स्नानागार थे तथा गन्दे पानी के निकास के लिये मोरियां भी थीं, सड़कों पर प्रकाश के खम्भे भी गड़े हुए मिले हैं। इन्हीं आधारों पर सिन्धु सभ्यता नागरी तथा व्यापारी सभ्यता मानी जाती है तथा सुमेरी सभ्यता भी एक नगरी सभ्यता थी।

सुमेर के समान सिन्धु के लोग भी धातुओं का प्रयोग जानते थे वे धातुओं के औजार तथा अन्य सामान बना सकते थे तथा उन्हें अलकृत भी करते थे। सिन्धु में एक नर्तकी की मूर्ति बड़ी कलापूर्ण बनाई जाती है।

सुमेर के मन्दिरों में ऊँची मीनारें भी मिलती हैं जो कई मंजिली होती थीं तथा जिनमें ऊपर पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं। मोहेंजोदड़ो में भी ऐसी कई मंजिली इमारतें प्राप्त हुई हैं जिनमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं। इस प्रकार दोनों ही स्थानों में कई मंजिल की इमारतें होती थीं और उनमें पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनायी जाती थीं।

उर की रक्षा के लिये उसके चारों ओर एक मजबूत दीवार बनाई गई थी। इसी प्रकार हरप्पा में भी एक मजबूत रक्षा-प्राचीर तथा किलेबन्दी के चिह्न मिलते हैं।

कबरों से समानता—

सुमेर में बहुत सी कबरें भी प्राप्त हुई हैं जिनमें मृतकों को गाड़ा जाता था, किन्तु वहाँ ऐसे भी चिह्न बड़े परिमाण में प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि दाह की प्रथा भी वहाँ बड़े पैमाने पर प्रचलित थी। इसी प्रकार सिन्धु घाटी में भी मृतकों को भूमि में गाड़ना तथा अग्नि द्वारा दाह करना दोनों प्रथायें प्रचलित थीं क्योंकि दोनों बातों के चिह्न मिलते हैं। सिन्धु की खुदाई में कई स्थानों पर हड्डियाँ मिली हैं तथा कलशों में रखी हुई भस्म और जली हुई हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता के प्रौढ़ काल में शवों को जलाने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। अनुमान है कि दोनों स्थानों पर पहले मृतकों को गाड़ने की ही प्रथा रही होगी किन्तु बाद में दाह-संस्कार किया जाने लगा। ऋग्वेद (१० ८-१५ १४) से भी प्रकट होता है कि भारत में प्रारम्भिक ऋग्वेदिक काल में दोनों प्रकार की प्रथायें विद्यमान थीं।

सुमेर में कबरों में गाड़े गये शवों के साथ बहुत सी अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। गरीबों के शवों के साथ मिट्टी के थोड़े से बरतन गाड़े जाते थे तथा अमीरों के शवों के साथ सोने तथा अन्य धातुओं के हथियार आभूषण आदि भी गाड़े जाते थे। हरप्पा में भी एक ऐसी कब्र मिली है जिसमें शव का ढांचा एक लकड़ियों के सन्दूक में रखा हुआ मिला तथा सन्दूक के बाहर चारों ओर मिट्टी के बहुत से बरतन भी मिले।

सुमेर की कब्रों की सामग्री से यह भी ज्ञात होता है कि उर म उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने सिर का फीतों से तथा वस्त्रादि से सजाती थी। इसी प्रकार सिन्धु-सभ्यता में स्त्रियों के बाल बहुत से फीतों से बंधे रहते थे, स्त्रियों के शिरोवस्त्र कभी कभी पंखे के आकार के होते थे।[1]

पुजारी राजा—

सुमेरी नगरों के मन्दिरों में पुजारी लोग रहते थे तथा ये पुजारी ही नगरों के शासक समझे जाते थे। इस प्रकार वहाँ पुजारी राजाओं की प्रथा प्रचलित थी। इसी प्रकार हरप्पा के लोग भी पुजारी राजाओं द्वारा शासित होते थे।[2]

मुहर—

सबसे अधिक समानता दोनों स्थानों की मुहरों में दिखाई देती है जो राजाओं अथवा अधिकारियों के नाम किसी वस्तु पर अंकित करने के लिए उपयोग में लाई जाती थीं। सुमेर में ये मुहरें नासूरी वर्गाकार तथा बेलनाकार सभी प्रकार की प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार सिन्धु घाटी में छोटी बड़ी मुहरों की एक बड़ी संख्या उपलब्ध हुई है जिन पर गैंडे, सांड आदि की अद्भुत आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके लेख बहुत कुछ उनकी तरह हैं जो प्राचीन एलाम, सुमेर, निनोव्या और मिस्र के हैं।× मोहनजोदड़ो में ऐसी मोहरे हाथी दाँत तथा अन्य वस्तुओं की बनी हुई पायी गयी हैं तथा ये काफी कलापूर्ण भी हैं। बैल, हाथी, घोड़े आदि की उभरी हुई आकृतियाँ भी उन पर बनी हुई हैं। ये आकृतियाँ प्रायः वैसी ही हैं जैसी सुमेर की प्रारम्भिक काल की मुद्रों पर जो किश में प्राप्त हुई पायी जाती हैं।

देवी मूर्तियाँ—

मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा में असंख्य देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार की मूर्तियाँ बलूचिस्तान, पश्चिमी एशिया, एजियन सागर के आसपास एलम, एशिया माइनर, मेसोपोटामियाँ, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, साइप्रस, बाल्कन, मिस्र आदि अनेक देशों में प्राप्त हुई हैं। विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृ देवी अथवा प्रकृति

1 प्राचीन भारतीय वेशभूषा डा० मोतीचन्द पृष्ठ २

2 *The Harappans were governed by a priest king from an impressive towering citadel below which lay the main tower with its blocks of houses shops and granaries—Press Information Bureau Government of India Feature Storey—August 29 1954*

× प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय।

देवी की हैं जो प्राचीन काल में अनेक देशों में पूजित थीं। सुमेर की खुदाई में भी ऐसी देवियों की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इस दृष्टि से भी सिन्धु घाटी तथा सुमेर आदि स्थानों की सभ्यताओं में समानता दिखायी देती है।

लिपि—

एक आश्चर्यजनक समानता इस बात में भी है कि सिन्धु घाटी तथा सुमेर दोनों स्थानों में प्राप्त वस्तुओं पर कुछ लिखावट भी मिलती है। सिन्धु-घाटी में प्राप्त ठप्पों, मुहरों और पटियों पर पशु पक्षियों की तस्वीरों के अतिरिक्त कुछ अक्षर भी लिखे दिखायी देते हैं यद्यपि उनको सकेत लिपि अथवा चिह्न लिपि कहा जाता है। अधिकतर लिखावट साफ अक्षरों में लिखी दिखायी देती है। कुछ वर्ण बायें से दायें को लिखे जाते पड़ते हैं और कुछ दायें से बायें को। ये वर्ण किस ओर से किस ओर को लिखे गये हैं इसका निर्णय नहीं हो सका है, क्योंकि सिन्धु घाटी के ये लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। कई विद्वानों ने इन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया, परन्तु वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। फादर हेरास तथा कुछ अन्य विद्वान इस लिपि तथा भाषा को द्रविड़ बतलाते हैं। प्रो० लैंगडन आदि इसे ब्राह्मी की पूर्वजा और लिपि तथा भाषा बताते हैं। मोहेंजोदड़ो तथा हरप्पा की लिखावट की जाँच करने वाले डा० हण्टर का अनुमान है कि ये अक्षर शायद दायें से बायें को लिखे जाते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि एक पंक्ति दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाने के बाद दूसरी पंक्ति बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाती थी। तीसरी पंक्ति फिर दाहिनी ओर से बाईं ओर को और चौथी पंक्ति फिर बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। प्रो० लैंगडन तथा ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकारी श्री सिडनी स्मिथ तथा गैड का भी यही अनुमान है किन्तु कुछ विद्वान डा० हण्टर के अनुमान को गलत बताते हैं तथा मानते हैं कि अक्षर बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखे गये हैं किन्तु अभी ये सब अनुमान ही हैं।

फिर भी दोनों स्थानों की लिखावट में अनेक समानताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाना स्वाभाविक है कि सिन्धु सभ्यता तथा सुमेरी सभ्यता में कुछ निकट का सम्बन्ध अवश्य था। यह सम्बन्ध व्यापार जनित भी हो सकता है तथा एक स्थान के लोगों का दूसरे स्थान पर जा बसने के कारण भी हो सकता है। इन दोनों देशों में व्यापार प्राचीन काल से चलता था यह तो अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है। मोहेंजोदड़ो तथा हरप्पा में प्राप्त मुहरों पर जो लिखावट है वैसे ही अक्षरों की लिखावट सूसा, किश तथा अन्य सुमेरी स्थानों में प्राप्त मोहरों पर मिली है तथा सुमेरी मुहरों पर अनेक आकृतियाँ भी सिन्धु घाटी की मोहरों की आकृतियों के समान ही मिलती हैं। इससे भी अनुमान होता है कि सिन्धु से इन देशों का व्यापार तब चलता था।[1]

1 *Encyclopedia Brittanica Vol I—Babylonia*

सुमेर की कब्रों की सामग्री से यह भी ज्ञात होता है कि उर में उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने सिर को फीतों से तथा वस्त्रादि से सजातीं थीं। इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता में स्त्रियों के बाल बहुत से फीतों से बंधे रहते थे, स्त्रियों के शिरोवस्त्र कभी कभी पंखे के आकार के होते थे।[१]

पुजारी राजा—

सुमेरी नगरों के मंदिरों में पुजारी लोग रहते थे तथा ये पुजारी ही नगरों के शासक समझे जाते थे। इस प्रकार वहाँ पुजारी राजाओं की प्रथा प्रचलित थी। इसी प्रकार हड़प्पा के लोग भी पुजारी राजाओं द्वारा शासित होते थे।[२]

मुहर—

सबसे अधिक समानता दोनों स्थानों की मुहरों में दिखाई देती है जो राजाओं अथवा अधिकारियों के नाम किसी वस्तु पर अंकित करने के लिए उपयोग में लाई जाती थीं। सुमेर में ये मुहरें चौखूटी वर्गाकार तथा बेलनाकार सभी प्रकार की प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार सिन्धु-घाटी में छोटी बड़ी मुहरों की एक बड़ी संख्या उपलब्ध हुई है जिन पर गड़े, साँड़ आदि की अद्भुत आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके ढेर बहुत कुछ उनकी तरह हैं जो प्राचीन एलाम, सुमेर, निनोम्या और मिस्र के हैं।[×] मोहेंजोदड़ो में ऐसी मोहरें हाथी दाँत तथा अन्य वस्तुओं की बनी हुई पायी गयी हैं तथा वे काफी कलापूर्ण भी हैं। *बैल, हाथी, घोड़े आदि की उभरी हुई आकृतियाँ भी उन पर बनी हुई हैं।* ये आकृतियाँ प्रायः वैसी ही हैं जैसी सुमेर की प्रारम्भिक काल की मुहरों पर जो मिस्र में प्राप्त हुई पायी जाती हैं।

देवी मूर्तियाँ—

मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में असंख्य देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार की मूर्तियाँ बलूचिस्तान, पश्चिमी एशिया, एजियन सागर के आसपास एलम, एशिया माइनर, मेसापोटामियाँ, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, साइप्रस, बालकन, मिस्र आदि अनेक देशों में प्राप्त हुई हैं। विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृ देवी अथवा प्रकृति

---

१ प्राचीन भारतीय वेशभूषा - डा० मोतीचन्द पृष्ठ २

2 *The Harappans were governed by a priest king from an impressive towering citadel below which lay the main tower with its blocks of houses shops and granaries—Press Information Bureau Government of India Feature Storey—August 29 1954*

× प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय।

देवी की हैं जो प्राचीन काल में अनेक देशों में पूजित थीं। सुमेर की खुदाई में भी ऐसी देवियों की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इस दृष्टि से भी सिन्धु घाटी तथा सुमेर आदि स्थानों की सभ्यताओं में समानता दिखायी देती है।

लिपि—

एक आश्चर्यजनक समानता इस बात में भी है कि सिन्धु घाटी तथा सुमेर दोनों स्थानों में प्राप्त वस्तुओं पर कुछ लिखावट भी मिलती है। सिन्धु-घाटी में प्राप्त ठप्पों, मुद्रों और पेटियों पर पशु पक्षियों की तस्वीरों के अतिरिक्त कुछ अक्षर भी लिखे दिखायी देते हैं यद्यपि उनको संकेत लिपि अथवा चिह्न लिपि कहा जाता है। अधिकतर लिखावट साफ अक्षरों में लिखी दिखायी देती है। कुछ लेख दायें से बायें को लिखे जाते पड़ते हैं और कुछ बायें से दायें को। ये लेख किस ओर से किस ओर को लिखे गये हैं इसका निर्णय नहीं हो सका है, क्योंकि सिन्धु घाटी के ये लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। कई विद्वानों ने इन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया, परन्तु वे किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सके। फादर हेरास तथा कुछ अन्य विद्वान इस लिपि तथा भाषा को द्रविड़ बतलाते हैं। प्रो० लैंगडन आदि इसे ब्राह्मी की पूर्ववर्ती आर्य लिपि तथा भाषा बताते हैं। मोहेन्जोदड़ो तथा हड़प्पा की लिखावट की जाँच करने वाले डा० हण्टर का अनुमान है कि ये अक्षर शायद दायें से बायें को लिखे जाते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि एक पंक्ति दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाने के बाद दूसरी पंक्ति बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाती थी। तीसरी पंक्ति फिर दाहिनी ओर से बाईं ओर को और चौथी पंक्ति फिर बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। प्रो० स्मडन तथा ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकारी श्री सिडनी स्मिथ तथा गैड का भी यही अनुमान है किन्तु कुछ विद्वान डा० हण्टर के अनुमान को गलत बताते हैं तथा मानते हैं कि अक्षर बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखे गये हैं किन्तु अभी ये सब अनुमान ही हैं।

फिर भी दोनों स्थानों की लिखावट में अनेक समानताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाना स्वाभाविक है कि सिन्धु सभ्यता तथा सुमेरी सभ्यता में कुछ निकट का सम्बन्ध अवश्य था। यह सम्बन्ध व्यापार जनित भी हो सकता है तथा एक स्थान के लोगों का दूसरे स्थान पर जा बसने के कारण भी हो सकता है। इन दोनों देशों में व्यापार प्राचीन काल से चलता था यह तो अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है। मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त मुद्रों पर जो लिखावट है वैसी ही अक्षरों की लिखावट सूसा, किश तथा अन्य सुमेरी स्थानों में प्राप्त मोहरों पर मिली है तथा सुमेरी मुद्रों पर अनेक आकृतियां भी सिन्धु घाटी की मोहरों की आकृतियों के समान ही मिली हैं। इससे भी अनुमान होता है कि सिन्धु से इन देशों का व्यापार खूब चलता था।[1]

[1] Encyclopedia Brittanica Vol I—Babylonia

कुछ लोगों ने अनेक समानताओं के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि सिंधु सभ्यता के निर्माता लोग सुमेर से ही भारत में आये थे तथा वे सुमेरी जाति से ही उत्पन्न हुए थे। किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है जैसा कि सुमेरी परम्पराओं तथा अन्य अनेक प्रमाणों से पूर्व में सिद्ध किया गया है। वास्तविक स्थिति इसके विपरीत ही सिद्ध होती है।

श्री भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि हमें इस बात को न भूलना चाहिये कि सुमेर और सिंधु सभ्यताओं की समानता सैन्धव जाति के सुमेर जनित होने के विरुद्ध प्रमाण उपस्थित करती है और नालियों सम्बन्धी जो समानताएँ हैं वे निस्संदेह सुमेर के निचले स्तरों की हैं और सिंधु सभ्यता के ऊपरले स्तरों से उपलब्ध हुई हैं। जिससे सुमेर की प्राचीन सभ्यता सिंधु की पश्चातकालीन सभ्यता को समकालीन ठहराती हैं। इससे सुमेरी सभ्यता के सैंधव सभ्यता से पश्चातकालिक होने के कारण सिंधु सभ्यता के निवासियों के सुमेर कालीन होने की बात कट जाती है।†

इसी प्रकार जो मुहरें मिली हैं वे सिंध घाटी की खुदाई की उपरली तहों में मिली हैं। किन्तु उन पर बनी हुई आकृतियाँ उन मुहरों पर बनी हुई आकृतियों के समान हैं जो किश स्थान पर प्राप्त हुई। सुमेर की सबसे प्राचीन काल की मुहरों पर बनी हुई हैं। इसका तात्पर्य यही है कि सिंधु घाटी की ऊपरली तहों में प्राप्त वस्तुएँ तथा सुमेर में सबसे निचली तहों में प्राप्त वस्तुएं सुमेर घाटी की वस्तुओं से अधिक प्राचीन है। इस प्रकार सिंधु घाटी की सभ्यता सुमेरी सभ्याता से अधिक प्राचीन होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भारत के ही लोगों ने सुमेर में पहुँच कर वहाँ की सभ्यता को जन्म दिया था तथा उसे विकसित किया था।

यूरोपीय विद्वानों ने सुमेरी उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं का काल ३५०० ई० पू० तक निर्धारित किया है तथा सिंधु-सभ्यता का काल ३००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक का माना है। उनका विचार है कि १५०० ई० पू० के लगभग यह सभ्यता नष्ट कर दी गयी थी। किन्तु यह अनुमान भी इसी आधार पर किया गया है कि वे सुमेरी सभ्यता को ही सबसे प्राचीन मानते हैं और जब उस सभ्यता का आरम्भ काल ४ हजार या ३॥ हजार वर्ष पूर्व है तो सिंधु सभ्यता का काल उसके पीछे का होना चाहिये किन्तु वास्तव में *सिंधु घाटी की सभ्यता कम से कम उसकी निचली तहों की सभ्यता सुमेर की सभ्यता* से अधिक प्राचीन है। सिंधु घाटी के उत्खनन में प्राप्त वस्तुएँ सात स्तरों में उपलब्ध हुई हैं तथा प्रत्येक स्तर एक विशेष काल की सभ्यता का द्योतक है। विद्वान लोग प्रत्येक स्तर की सभ्यता का जीवन ५०० वर्ष मानते हैं। एक सभ्यता के जीवन काल के लिये यह

---

† प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय

५०० वर्ष का काल बहुत थोड़ा है फिर भी इस दृष्टि से भी उक्त सात स्तरों की सभ्यताओं में सबसे पिछली सभ्यता ५००×७=३५०० वर्ष अर्थात् १५०० ई० पू० की है (जबकि सिंधु सभ्यता नष्ट हो गई) यह ३५०० वर्ष पुरानी अथवा लगभग ५००० वर्ष ई०पू०की अथवा यों कहा जा सकता है कि आज से ७००० वर्ष पूर्वकी सिद्ध होती है।

इस मत का समर्थन कई यूरोपीय विद्वानों ने तथा सिंधु-सभ्यता का उद्घाटन करने में प्रमुख भाग लेने वाले सर जान मार्शल ने भी किया है। सर जान मार्शल भी इस सभ्यता की प्राचीनता तथा इसकी महानता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि मोहे जोदड़ो तथा हरप्पा दोनों स्थानों में एक बात तो स्पष्टतया प्रकट होती है और जिसके सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं हो सकता—वह यह है कि इन दोनों स्थानों में जो सभ्यता हमारे सम्मुख आयी है वह कोई प्रारम्भिक सभ्यता नहीं है अपितु ऐसी है जो सभी युगों की प्राचीन हो चुकी थी, भारत भूमि पर सुदृढ़ हो चुकी थी और उसके पीछे मानव की शताब्दियों की कृतियाँ हैं। इस प्रकार अब से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईरान, मेसोपोटामिया और मिश्र की भाँति भारतवर्ष भी उन सबसे प्रमुख देशों में से है जहां सभ्यता का जन्म और विकास हुआ।

श्री गार्डन चाइल्ड$ तथा हाल महोदय तो इस सिंधु-सभ्यता का विकास-क्षेत्र बहुत दूर तक बतलाते हैं और वे इस सभ्यताको ही सुमेरियन सभ्यता की जन्मदात्री मानते हैं।

इस प्रकार सिंधु सभ्यता एवं सुमेरी सभ्यता के तुलनात्मक विवेचन से सिंधु-सभ्यता ही सुमेरी सभ्यता से अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। अतः स्पष्ट ही सुमेरी सभ्यता सिंधु सभ्यता से प्रभावित हुई। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सिंधु घाटी के लोगों ने ही सुमेर में पहुँच कर अपनी सभ्यता का प्रसार किया जिसके अवशेष अब लगभग ५ हजार वर्ष पश्चात प्राप्त हुए हैं।

$ New Light on the most ancient East   Gordan Child

अध्याय ३

खाल्दिया तथा बेबीलोनिया की प्राचीन सभ्यताएँ

मेसोपटामिया में सुमेरी सभ्यता के पश्चात् जो दो अन्य सभ्यताएँ प्रसिद्ध हैं वे हैं खाल्दियाई तथा बेबीलोनियाई। संक्षेप में इन्हें खाल्दी तथा बाबुली सभ्यतायें कहा जा सकता है।

मेसोपोटामिया का मध्यवर्ती तथा दक्षिणी भाग प्राचीन काल में 'कार दुनियाश' कहलाता था। बाद में इसी भाग में अर्थात् मेसोपोटामिया के मध्य में स्थित बेबीलोन नगर ने प्रधानता प्राप्त की जिसका विवरण हम आगे पढ़ेंगे। इस समय से यह समस्त भाग बेबीलोनिया कहलाने लगा। बेबीलोनिया को ही पुरानी बाइबल में 'ईडन' कहा गया है। यहूदी परम्परा के अनुसार ईश्वर का बाग अथवा स्वर्ग दक्षिणी बेबीलोनिया अथवा इडन में ही था। इसी भाग में आदिम मनुष्य का जन्म भी हुआ माना जाता है।

मेसोपोटामिया के दक्षिणी भाग में—जो सुमेर कहलाता था तथा जहाँ सुमेरी लोगों की बस्तियाँ थीं कुछ समय पश्चात एक नई जाति आकर बसी। यह कल्दू या खल्दू कहलाती थी। यह अनुमान किया जाता है कि ये लोग मूलतः अरब से आये थे जो सामी जातियों का मूल घर माना जाता है और फारस की खाड़ी में होते हुए दजला फरात के मुहानोंपर जहाँ उर नामका नगर बसा हुआ था बस गये। उस समय दजला और फरात नदियाँ अलग-अलग मुहानों से फारस की खाड़ी में गिरती थीं। इन्हीं मुहानों के लम्बे क्षेत्र में—जो बड़ा उपजाऊ था—ये लोग आकर बसे। कुछ यूरोपीय इतिहासकार एच० जे० वेल्स आदि) इन्हें सामी तथा कुछ सुमेरी एवं सामी तत्वों का मिश्रण मानते हैं। लो० तिलक उन्हें तूरानी जाति का मानते थे। हाल और अविनाशचन्द्र दास द्रविड़ मानते हैं। बाद के ७ वीं शताब्दी ई० पू० के एक उल्लेख में इन्हें अरबों से भिन्न माना गया है।

कल्दू लोगों के बस जाने के कारण—मेसोपोटामिया का यह सबसे दक्षिणी भाग खाल्दिया कहलाने लगा। यह वास्तव में एक जिला ही था तथा उसका 'खाल्दिया' नाम शेष मेसोपोटामिया में कुछ गर्हित दृष्टि से देखा जाता था। बेबीलोनिया और खाल्दिया बहुत समय तक अलग-अलग प्रदेश भी गिने जाते थे। परन्तु बाद में यूनानी लोगों ने



बेबीलोन साम्राज्य
५६० ई० पू०

'[illegible]—एटलस आफ [illegible] नागरी से

अपनी लापरवाही के कारण—जो उनकी एक स्वाभाविक विशेषता रही है—केवल खाल्दी लोगों की बस्ती को ही नहीं बल्कि समस्त दक्षिणी भाग को खाल्दिया कहना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे मध्य भाग अर्थात बेबीलोनिया भी खाल्दिया कहा जाने लगा। खाल्दिया नाम पुरानी बाइबल में भी प्राय आया है तथा अनुमानत वह बेबीलोनिया का पर्यायवाची ही जान पड़ता है। खाल्दिया की पुरानी राजधानी बिटयाकिन थी। दजला और फरात के मुहाने जबकि व अलग-अलग धाराओं में फारस की खाड़ी में गिरती थीं, इसी भाग में थे। यह मैदानी प्रदेश उक्त दोनों नदियों द्वारा ही लायी गयी मिट्टी से बना था। अत यह अत्यधिक उपजाऊ था।

खाल्दी लोग जब इस मैदानी प्रदेश में आये तब वहाँ सुमेरी लोग सबसे पहले से बसे हुए थे। सुमेरी लोगों से भूमि छीनकर ही इन लोगों ने अपनी बस्तियाँ बसाई। किन्तु सुमेरी लोगों की सभ्यता इन लोगों की सभ्यता से बहुत ऊँची थी। अत ये उनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। खाल्दी लोगों की सभ्यता सामी सभ्यता थी, परन्तु सुमेरी लोगों की सभ्यता सामी सभ्यता से भिन्न थी। उन दिनों सुमेर इसी अ-सामी अथवा विदेशी सभ्यता का केन्द्र बना हुआ था। इस विदेशी सभ्यता ने खाल्दी लोगों को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने शीघ्र ही उस सभ्यता को अपना लिया और थोड़े से दिनों में उसे आत्मसात कर लिया।[1] पश्चात् [redacted] खाल्दी लोगों ने बेबीलोनिया के लोगों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया तथा जब बेबीलोनिया और खाल्दिया के लोग इतने मिल जुल गये कि खाल्दिया शब्द बेबीलोनिया का ही पर्यायवाची बन गया, तब समस्त बेबीलोनिया अथवा बाबुल प्रदेश में सुमेरी सभ्यता का ही विस्तार हो गया। इस प्रकार खाल्दिया शब्द जो पहले मेसोपोटामिया के केवल एक दक्षिणी कोने का नाम था समस्त दक्षिणी तथा मध्य मेसोपोटामिया अथवा बेबीलोनिया के लिये प्रयुक्त होने लगा। ८ वीं शताब्दी ई० पूर्व तक समस्त बेबीलोनिया को खाल्दिया नाम से ही पुकारा जाता था। यद्यपि खाल्दी और बाबुली लोगों में जातीय भिन्नता थी किन्तु यह भिन्नता धीरे धीरे कम होती गई क्योंकि आखिर दोनों ही आर्य्या सामी जाति की ही दो शाखायें थीं। इस प्रकार धीरे धीरे खाल्दिया तथा बेबीलोनिया पर्यायवाची शब्द ही बन गये और खाल्दी तथा बाबुली लोगों में जातिगत भिन्नता भी प्राय नष्ट हो गई।

सुमेरी सभ्यता के प्रभाव से प्रत्येक खाल्दू बस्ती में एक मुख्य देवता माना जाता था तथा उस देवता का पुजारी ही उस स्थान का शासक भी होता था अथवा स्थानीय शासक ही पुजारी होता था। उर नगर में नन्नार अथवा चन्द्रदेव की पूजा होती थी।

1 *It seems extremely probable that Chaldean were so strongly influenced by the foreign civilization as to adopt it eventually as their own*

Encyclopedia Britt Chaldean

बाबुल में बाबुली राजवंश की स्थापना—

हम देख चुके हैं कि सुमेर में अकादी राजवंश को हटाने के पश्चात् पुन एक सुमेरी राजवंश की स्थापना हुई थी जो उर का तृतीय राजवंश कहलाता था तथा इस राजवंश ने अपने राज्य का विस्तार बहुत बढ़ाकर उत्तर में असुर देश तक पूरब में एलामूल्क तथा पश्चिम में शाम तक कर लिया था। परन्तु इस वंश की ५ पीढ़ियों के पश्चात् एलम के लोगों ने इस देश पर आक्रमण करके उर के तृतीय वंश को तथा इस प्रकार बेबीलोनिया के सुमेरी राजवंश को सदा के लिये समाप्त कर दिया था।

उर के तृतीय राजवंश का अन्त वास्तव में पूरब और पश्चिम की दो शक्तियों के सम्मिलित प्रयत्न से हुआ। बाबुल तथा सुमेर के पूरब में एलाम था जो ईरान का एक प्रान्त समझा जाता था। पश्चिम में 'अमोर' के नाम के लोग बसे हुए थे। 'अमोर' का अर्थ बाबुली भाषा में 'पश्चिम' होता था। ये लोग बेबीलोनिया के पश्चिम में बसे होने के कारण अमोर कहलाते थे। २३००ई० पू० के लगभग इन लोगों के वहाँ फरात नदी के पश्चिम में बसे होने का पता चलता है। ये लोग वहाँ छोटे छोटे काम-धन्धे करते थे। इन लोगों ने पहले तो अकाद प्रान्त पर हमला करके इसीन नामक स्थान पर कब्जा कर लिया और फिर एलाम के लोगों को साथ लेकर उर पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के राजा को हराकर वहाँ अपना अधिकार कर लिया। उर का राजा भी कैद कर लिया गया। उर की समस्त भूमि उजाड़ दी गयी, मन्दिर नष्ट कर दिये गये तथा नगर खण्डहर बना दिये गये। राजधानी उर को इस युद्ध में इतनी हानि पहुँची कि वह फिर न उठ सका।

इस प्रकार उर के तृतीय राजवंश के उन्मूलन के पश्चात् बाबुल में अमोर लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया। ये अमोर लोग बाबुली ही समझे जाते थे और इस प्रकार बाबुल में प्रथम बार एक बाबुली राजवंश की स्थापना हुई। इसका काल २२०० अथवा २१५० ई० पू० से १७४० ई० पू० तक अर्थात् लगभग चार सौ वर्ष समझा जाता है।

उर द्वारा पुनरुत्थान का प्रयत्न—

उर के पराजय-काल के आसपास ही प्रकृति ने भी उर पर कोप किया। पहले फरात नदी अथवा उसकी कोई शाखा उर नगर के पास से बहती थी जिसमें फारस की खाड़ी होकर जहाज उर नगर तक आ जाते थे और इस प्रकार वहाँ का व्यापार खूब चलता था। किन्तु बाद में नदी ने अपनी धारा बदल दी। इससे जहाजी व्यापार मन्द हो गया और उर का महत्त्व घट गया। उर धीरे धीरे फरात नदी से १० मील दूर हो गया और इसी कारण उसकी अवनति और भी शीघ्रता से हुई।

उर के नष्ट होने के कुछ काल बाद सुमेर के लोगों ने एक बार फिर सिर उठाया। किंतु इस बार इस विद्रोह के नेता उर के लोग नहीं, बल्कि उसके दो करद राज्यों— इसीन और लारसा के लोग थे। सुमेर पर पहले इसीन के राजाओं ने आधिपत्य जमा लिया और फिर लारसा के लोगों ने। इसीन राजाओं के समय में सुमेर की राजधानी इसीन ही बन गई थी। अतः उर का महत्त्व और भी घट गया था। इसीन के राजा ने बुरसिन के बनाये हुए चन्द्रदेव के मंदिर का— जिसे एलाम के लोगों ने आक्रमण के समय नष्ट कर दिया था—पुनरुद्धार कराया। इसी प्रकार लारसा के राजाओं ने भी बहुत से भवन, मंदिर, पुजारियों के घर आदि बनवाये। निनताल स्थान पर जो खुदाई की गई उसमें उस काल की बहुत सी वस्तुएँ मिली हैं। यान नाम की एक देवी की मूर्ति भी प्राप्त हुई है जो काले पत्थर से खोदकर बनायी गई है। यह देवी एक सिंहासन पर बैठी बताई गई है तथा उस सिंहासन को हंस उठाये हुए हैं। इसी प्रकार और भी कई मूर्तियाँ उस काल की प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार इसीन और लारसा के सुमेरी वंश के राजाओं ने एक बार पुनः अपना गत गौरव प्राप्त करने का प्रयत्न किया तथा उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त की किन्तु यह सफलता अधिक काल तक न रही और थोड़े दिन के पश्चात् इन दोनों राजवंशों का भी प्रभुत्व समाप्त हो गया।

हम्मूराबी और बाबुल नगर का उत्थान—

इसीन और लारसा के राजवंशों के बाद फिर कुछ समय तक सुमेर तथा बेबीलोनिया में अव्यवस्था फैली रही तथा छोटे छोटे राज्यों में आपसी झगड़े चलते रहे। अंत में हम्मूराबी नाम के एक वीर व्यक्ति ने जो बाबुल या बेबीलोन नामक नगर का निवासी था इस देश पर प्रभुत्व प्राप्त किया। उसने बाबुल नगर तथा आसपास के देश पर अपना अधिकार जमा लिया और शीघ्र ही अपने को राजा घोषित कर दिया। इस प्रकार इस भू भाग पर पुनः बाबुली राजवंश की स्थापना हुई। हम्मूराबी वंश के अमोर वंश का ही था परन्तु यह बाबुली ही कहलाता है और इतिहास में बाबुली वंश का ही माना जाता है।

हम्मूराबी बेबीलोनिया का एक बड़ा प्रसिद्ध शासक हुआ है। उसका काल २ हजार ई० पू० के लगभग माना जाता है। उसने फारस की खाड़ी से लेकर भूमध्य सागर तक का समस्त प्रदेश जीत लिया। उसने फरात नदी के पानी का अधिक से अधिक उपयोग कृषि-उपज के हेतु करने के उद्देश्य से नदियों से नहरें निकलवाईं। अकाल आदि की रोक के लिये उसने एक बड़ा अनाज भण्डार भी स्थापित किया। उसने कई मन्दिर

और महल भी बनवाये। उसने समस्त साम्राज्य के लिये एक दण्ड विधान भी बनवाया जो संसार का सबसे प्रथम दण्ड विधान माना जाता है।

हम्मूरावी ने अपने विस्तृत राज्य की राजधानी बेबीलोन नगर में स्थापित की, जहाँ का वह निवासी था। इस कारण बेबीलोन अथवा बाबुल नगर का महत्व बहुत बढ़ गया। वैसे भी यह नगर मेसोपोटामिया के मध्य में स्थित होने के कारण महत्व प्राप्त कर रहा था। एक बड़े राज्य की राजधानी बन जाने के कारण उसका महत्व और अधिक बढ़ गया, धार्मिक दृष्टि से भी उसका महत्व पहिले से था, क्योंकि वहाँ के मरडुक देवता की आस-पास के क्षेत्र में अच्छी मान्यता थी। इन्हीं दिनों बाबुल का किला भी बना। भौगोलिक स्थिति भी उसका साथ दे रही थी। पूर्व काल में फरात नदी किश नामक नगर के पास से बहती थी। अब वहाँ इस क्षेत्र का केन्द्र था किन्तु तीसरी सहस्राब्दी में फरात नदी किश से हट गयी और बाबुल नगर के पास आ गई। इन सभी कारणों से बाबुल नगर का महत्व अत्यधिक बढ़ गया और वह पश्चमी एशिया का सबसे अधिक महत्वपूर्ण नगर बन गया। बाबुल नगर का महत्व अब इतना अधिक बढ़ गया कि वह समस्त भू भाग ही जो अभी तक खाल्दिया नाम से प्रसिद्ध था बेबेलोनिया कहलाने लगा। यूनानियों द्वारा इस भाग को मेसोपोटामियाँ नाम देने के बाद भी यह भू भाग प्राय अब तक बेबीलोनिया भी कहलाता है। वास्तव में बाबुल नगर के महत्व प्राप्त करने के बाद से ही इस भाग का नाम बेबीलोनिया माना जाना चाहिये।

हम्मूराबी का नाम उसकी दण्ड संहिता के कारण इतिहास में विशेष प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि यह संहिता सुमेरी कानूनों के आधार पर ही बनाई गई थी। यह संहिता सन् १९०२ में सूसा नामक स्थान (एलाम प्रान्त की राजधानी) की खुदाई में प्राप्त हुई थी।

यह दण्ड विधान प्राय सब प्रकार से पूर्ण समझा जाता है। इसमें भूमि तथा अन्य प्रकार की जायदाद खरीदने, बनने, पट्टे पर देने, दान में देने आदि के सम्बन्ध में नियम दिये गये हैं। विधान के अनुसार पति को तलाक का अधिकार था तथा पति की क्रूरता पर पत्नी उस पर अभियोग चला सकती थी। दासियों से उत्पन्न बच्चे स्वतन्त्र नागरिक माने जाते थे तथा वे पिता की जायदाद में हक प्राप्त कर सकते थे।

एक मन्दिर में एक ऐसा टूटा फूटा शिलालेख भी प्राप्त हुआ है जिसमें हम्मूरावी की विजयों का वर्णन है। इस पत्थर को हम्मू राबी ने अपनी विजय के स्मारक के रूप में गढ़वाया था। परन्तु जान पड़ता है कि उर के स्वाभिमानी लोगों ने इस विदेशी शासन के विरुद्ध भी विद्रोह किया और हम्मूरावी के उस विजय-स्मारक को तोड़ फोड़ डाला। किन्तु अनुमान होता है कि साल भर के अन्दर ही बाबुल की फौजें उर नगर में घुस आयीं, मन्दिर और शहर को लूटा और फिर नगर में आग लगा दी। यह घटना १८८५ ई० पू० के लगभग की मानी जाती है।

हम्मूराबी के वंश का राज्य केवल ५० वर्ष तक रहा, परन्तु इस समय में बाबुल का—बाबुल नगर तथा राज्य का—महत्त्व बहुत बढ़ा। इस समयमें साहित्यकी भी बहुत उन्नति हुई। इस समय में बेबीलोनिया का राज्य पश्चिम में भूमध्य सागर तक फैल गया था।

कासी राजवंश —

हम्मूराबी के उत्तराधिकारी उसके समान वीर तथा नीति कुशल न हुए, अतः उनके समय में राज्य कमजोर हो गया। आस पास के राज्य बेबीलोन पर आक्रमण करने लगे। शाम के हत्ती अथवा खिताइ जाति के लोगों ने भी बेबीलोन पर आक्रमण शुरू किये और उन्होंने शीघ्र ही हम्मूराबी के राजवंश का अन्त कर दिया। किन्तु वे अपना अधिकार न जमा सके। बेबीलोनिया में अव्यवस्था फैल गई और कुछ समय तक इसी प्रकार अशान्ति रही। अन्त में कासी जाति के लोगों ने वहाँ अपना प्रभुत्व जमा लिया।

ये कासी जाति के लोग कौन थे और कहाँ से आये थे, इस सम्बन्ध में विविध मत हैं। यूरोपीय इतिहासकारों के अनुसार ये लोग प्रारम्भ में एलाम प्रान्त के पहाड़ों में बसे हुए थे तथा बाबुल की सेना में ये लोग बड़ी संख्या में भर्ती हो गये थे। इस प्रकार ये लोग रण विद्या में कुशल थे। बेबीलोनिया में अव्यवस्था फैली देखकर इन्हें अवसर मिला। इन लोगों ने उक्त प्रदेश को शीघ्र ही अपने अधिकार में कर लिया। फिर उन्होंने अपने में से ही एक योग्य व्यक्ति को मुखिया चुन लिया और उसे बाबुल के सिंहासन पर बिठाकर राजा बना दिया। इस प्रकार बेबीलोनिया में कासी राजवंश का राज्य स्थापित हुआ।

हिन्दी के लेखक स्वर्गीय चतुरसेन शास्त्री का विचार था कि 'केशी' घोड़े का नाम है। इन लोगों के पास घोड़े थे इसी कारण इनका नाम 'केशी' पड़ा। कशी का ही अशुद्ध रूप कासी है। स्व० जयशंकर प्रसाद का मत था कि ये लोग "कौशिक" जाति के लोग थे जो मूलतः भारतके निवासी थे और भारतसे ही ये अन्य देशों में गये। ये कौशिक लोग इन्द्र के उपासक थे जैसा कि विश्वामित्र के बनाये हुए ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से स्पष्ट है। इन्हीं लोगों ने खाल्डिया में पहुँचकर वहाँ इन्द्र पूजा* का प्रचार किया। अधिक सम्भव यह जान पड़ता है कि ये लोग मूलतः भारत में काशी नगर अथवा

---

* कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है कि इन्द्र पूजा खाल्डिया के लोगों से सीखी गई। कौशिक लोग इन्द्र पूजा के प्रचारक थे। इन कौशिकों को वे कुशाण्ट के साथ सम्बद्ध बतलाते हैं। कुशाण्ट लोगों को वे कुछ विशेष कारणों से तूरानी द्रविड़ मानते हैं। कौशिक लोग भारत से ही अन्य देशों में गये यह वे लोग भी मानते हैं तब इन्द्र पूजा खाल्डिया से भारत में न आकर भारतीय कौशिकों के द्वारा ही खाल्डिया में गई। यह कल्पना अधिक संगत है।—[illegible]—जयशंकर प्रसाद।

आस-पास के प्रदेश के निवासी होंगे तथा किसी कारण वे बेबीलोनिया के आस पास जा बसे। उन्होंने वहाँ पहुँचकर अपनी जो मुख्य बस्ती बसाई उसका नाम भी अपनी मूल नगरी के नाम पर 'काशी' रखा और इसी कारण वे लोग भी 'कस्सी' अथवा यूरोपीय लेखकों के शब्दों में 'कास्साइत' कहे गये।

इस कस्सी या काशी राजवंश के लोगों ने बेबीलोनिया में दीर्घ काल तक अर्थात लगभग ६ शताब्दियों तक—१७४० ई० पू० से ११६० ई० पू० तक राज्य किया, किन्तु इनका कोई विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि इन लोगों ने बेबीलोनिया में अपनी कोई नयी इमारतें नहीं बनवायीं न कोई लेखादि छोड़े। ये लोग प्रायः पुरानी इमारतों की ही मरम्मत कराकर उन्हीं से काम चलाते रहे। फलस्वरूप इनके कोई स्मारक प्राप्त न होने से इनके वंश के राजाओं का भी हाल नहीं मिलता। जो कुछ अवशेष इनके वंश के प्राप्त हुए हैं उनसे ऐसा अनुमान होता है कि धीरे धीरे ये लोग अपनी पुरानी संस्कृति से दूर होते गये। उन्होंने सामी भाषा अपना ली और सामी नाम भी अङ्गीकार कर लिये। वे अपने आसपास के 'असुर' आदि वंशों के राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी करने लगे और इस प्रकार धीरे धीरे ये लोग बेबीलोनिया के सामी जाति के लोगों से घुल मिल गये और सामी बन गये।

इसी वंश का राजा कुरी गुल्जु था जिसका नाम उसके बनवाये हुए एक भवन की अनेक ईंटों पर खुदा हुआ मिला है। यह १४०० ई० पू० के लगभग बाबुल के सिंहासन पर बैठा था। उसने दक्षिणी क्षेत्र की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया। उसने उर के सुमेरी काल के भवनों की तथा मन्दिरों की मरम्मत कराई। उसकी बनवायी हुई एक महराब भी सुरक्षित अवस्था में मिली है जिससे उस समय की भवन-निर्माण-कला पर प्रकाश पड़ता है।

असुर राजवंश—

बेबीलोनिया में जिन दिनों काशी राजवंश ने अपना राज्य स्थापित किया उन्हीं दिनों बेबीलोनिया के उत्तर में एक दूसरी जाति शक्ति प्राप्त कर रही थी। यह जाति 'असुर' कहलाती थी तथा उनका देश असुर या अस्सुर कहलाता था जिसे बाद में यूनानियों ने 'असीरिया' बना दिया। यह असुर देश इस समय तक बाबुल राज्य का ही एक प्रान्त मात्र था। अतः उसका कोई विशेष महत्त्व न था। परन्तु १६ वीं १८ वीं शताब्दी ई० पू० में इस प्रान्त की असुर जाति ने महत्त्व प्राप्त करना प्रारम्भ किया। उनके एक बलवान और महत्वाकांक्षी व्यक्ति ने—जिसका नाम शमशी अदाद था—बेबीलोनिया राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया और अपने असुर अनुयायियों की सहायता से शीघ्र ही स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली और

फिर प्राय समस्त बाबुल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार बेबीलोनिया में असुर राजवंश की स्थापना हुई। इस असुर राजवंश ने फिर किस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ाई, बेबीलोनिया पर किस प्रकार अधिकार किया तथा किस प्रकार अपनी एक नई सभ्यता का प्रसार किया यह एक स्वतंत्र अध्याय का विषय होने के कारण अगले अध्याय में वर्णित किया गया है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि बेबीलोनिया प्रदेश पर काशी राजवंश के पश्चात् असुरों का राज्य हुआ तथा कई शताब्दियों तक रहा।

नवीन बाबुल राज्य—

असुर जाति के राजाओं ने बहुत लम्बे काल तक समस्त बेबीलोनिया को अपने अधिकार में रखा। किन्तु ७ वीं शती ई० पू० में फिर एक बार राज्य-परिवर्तन हुआ। ६२५ ई० पू० में नेबोपोलसर नामक एक बाबुली सरदार के नेतृत्व में बाबुली तथा शक मिद आदि जातियों के लोगों ने मिलकर असुर राज्य पर आक्रमण कर दिया। इन दिनों असुर राज्य पूर्व जैसा तेजस्वी न रह गया था, बल्कि कमजोर एवं डाँवाडोल स्थिति में था। असुर राजा इस सगठित विरोध का सामना न कर सका तथा संग्राम में पराजित हो गया। आक्रमणकारियों ने असुर राज्य की राजधानी निनवेह पर भी अपना अधिकार कर लिया और इस प्रकार बेबीलोनिया में ही नहीं असीरिया में भी असुर राज्य का अन्त कर दिया।

विजेताओं ने अब विशाल असुर राज्य के टुकड़े करके आपस में हिस्सा बाँट लिया। बेबीलोनिया पर विद्रोह के मुख्य नेता नेबोपोलसर का अधिकार हुआ। असीरिया अथवा असुर देश पर पड़ोसी मिद या मिदिया प्रान्त ने अधिकार जमा लिया। पश्चिम के निचले भाग पर जिसमें फरात की घाटी भी शामिल थी—बेबीलोनिया का ही अधिकार हुआ। इस प्रकार फिर एक बार बेबीलोनिया में बाबुली जाति के लोगों का अधिकार हो गया तथा पुराने बाबुली साम्राज्य के स्थान पर जिसका अन्त १६०० ई० पू० हो गया था फिर एक नये बाबुली साम्राज्य का उदय हुआ।

नेबोपोलसर खाल्दीय वंश का माना जाता है। अन्य वास्तव में यह बेबीलोनिया में खाल्दी राजवंश की स्थापना थी। किन्तु इस समय बेबीलोनिया तथा खाल्दिया में विशेष अन्तर नहीं रह गया था। अतः यह बाबुली राजवंश ही समझा जाता है। इस समय में बाबुल राज्य की पुनः अच्छी उन्नति हुई। असुर राज्य के समय में जो बाबुल नगर पर्णतया ध्वस्त कर दिया गया था उसका इस नये खाल्दीय वंश ने पुनः उद्धार किया। बहुत-सी पुरानी इमारतों की मरम्मत कराई गई तथा अनेक नई-नई इमारतें भी बनवाई गई। बाबुल में मेहराबदार इमारतों का प्रारम्भ कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार इसी समय में हुआ।

६०० ई०पू० से कुछ समय पूर्व बेबीलोन में नेबू चाडनेजार (६०४ ५८१) नाम का प्रसिद्ध राजा गद्दी पर बैठा था। यह नवीन बाबुल राज्य के संस्थापक नेबू पोलासर का पुत्र था। मेसोपोटामिया के समस्त राजाओं में सबसे अधिक इमारतें बनवाने वाला यही राजा है। समस्त राज्य म उसकी इमारतों के अवशेष मिले हैं। उर में भी उसने अनेक इमारतों की मरम्मत कराइ थी तथा पुनर्निर्माण कराया। इसके शासन-काल में बेबीलोनिया ने एक बार पुनः अपना पूर्व गौरव बहुत कुछ प्राप्त कर लिया। इसके बाद म बेबीलोनिया का राज्य समस्त शामपर मिस्र की सीमा तक दृढतापूर्वक स्थापित हो गया। फिनीशिया के टायर शहर पर भी उसने लम्बा घेरा डाला तथा ५८६ ई०पू० में जेरुसलम पर भी अधिकार कर लिया। वहाँ के मंदिर जलाये गये तथा असंख्य नागरिक कैद किये गये। इस प्रकार नेबू चाड नेजार ने एक बार पुन अपने देश बेबीलोन को एक महान् शक्तिशाली राष्ट्र बना लिया।

आखामनी, यूनानी तथा पह्लवी राज्य—

बेबीलोनिया म उक्त नवीन बाबुली राज्य थोड़े ही दिन चला। शीघ्र ही कुछ विदेशी शक्तियों ने मिलकर उस राज्य की समाप्ति कर दी। इन दिनों ईरान या पारस म आखामनी वंश का राज्य स्थापित हो चुका था। उसके कई राजा बड़े शक्तिशाली हुए तथा उन्होंने अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसी वंश के एक राजा कुरुष (साइरस) ने एक बड़ी सेना लेकर बेबीलोनिया पर आक्रमण कर दिया। बाबुली सेनाएँ उसके आगे न ठहर सकीं। बाबुल के राजा को कैद कर लिया गया तथा समस्त बेबीलोनिया पर पारस के शाह कुरुष का अधिकार हो गया। बाबुल एक बार पुन विदेशियों के हाथ में चला गया। शाह कुरुष ने बेबीलोनिया की प्राचीन इमारतों को जो वहाँ की सभ्यता की द्योतक थीं, ढूँढ-ढूँढ कर नष्ट किया।

पारसी साम्राज्य का अत यूनानियों ने सिकंदर महान के नेतृत्व में किया। तथा बेबीलोनिया भी यूनानियों के अधिकार में चला गया। यूनानियों के पश्चात् एक अन्य विदेशी जाति पार्थियनों अथवा पह्लवों का अधिकार बेबीलोनिया पर हुआ। इन समस्त विदेशी जातियों की सभ्यतायें अलग अलग थीं। उक्त विजेताओं के कारण सुमेरी बाबुली तथा असुर अर्थात मेसोपोटामिया की सभी सभ्यताओं की समाप्ति हो गई तथा कुछ दिन बाद विस्मृत भी होने लगी केवल पुरानी परम्परायें ही जीवित रहीं। बेबीलोनिया की प्राचीन भूमि नई नई सभ्यताओं की भूमि बनी जिन सभ्यताओं के विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक हैं।

बाबुली सभ्यता—भवन निर्माण —

बेबीलोन अथवा बाबुल नगर में जर्मन पुरातत्वविदों ने भूमि की खुदाई का जो कार्य किया उसमें बहुत से मकानों के खण्डहर प्राप्त हुए। अनुमान था कि उस समय के

मकान बहुत सीधे-साधे और कच्चे होते होंगे तथा उनमें ३ ४ कमरे होते होंगे। किन्तु इसके विपरीत खुदाई म प्राप्त अवशेषों से यह ज्ञात हुआ कि हजरत इब्राहिम के समय में भी—जिनका काल १४००,१५०० ई० पू० का अनुमान किया जाता है तथा उससे भी पूर्व (क्योंकि उक्त मकानों का निर्माण काल २१०० तथा १८८५ ई० पू० के बीच का अनुमान किया जाता है) वहाँ के लोग ऐसे मकानों में रहते थे जिनकी दीवारें नीचे की ओर तो पक्की इटों की बनाई जाती थीं, किन्तु ऊपर कच्ची इटों की रहती थीं और इस भेद को छिपाने के लिए उन दीवारों पर पलस्तर कर दिया जाता था तथा उसके ऊपर सफेद पुताई करदी जाती थी। मकान प्राय दो मञ्जिले होते थे और उनमें १३-१४ कमरे होते थे। मकानों के बीच में खुला हुआ आँगन भी रहता था, जिससे सब कमरों में हवा और रोशनी पहुँच सकती थी। मकानों में नालियां भी रहती थीं। मकानों के एक कमरे में एक किनारे पर ईंटों की इकहरी तह का बनाया हुआ एक चबूतरा-सा बना दिया जाता था और इस चबूतरे पर पीछे की दीवार से लगा हुआ वेदी जैसा एक ऊँचा स्थान होता था जो इटों का बना होता था। इस वेदी के ऊपर अथवा बगल में, दीवार में खुदा हुआ एक ताख बना होता था। इसमें सम्भवत देवता का चित्र अथवा उसकी मिट्टी की मूर्ति रखी जाती थी। परन्तु यह वेदी कुछ मकानों में ही होती थी सब में नहीं।

मकानों के फर्श के नीचे ही पक्की इटों का एक तलघर बना रहता था जिसमें उस परिवार के लोग मरने पर गाड़ दिये जाते थे। बाबुल म यह विश्वास था कि परिवार के लोग मृत्यु के पश्चात् भी घर ही में रहते हैं। अत उन्हें मकान के नीचे तलघर में गाड़ देते थे तथा ऊपर के मकान में परिवार के जीवित लोग निवास करते थे।

स्थापत्य-कला की दृष्टि से दजला फरात की घाटियों के लोग मिस्र आदि के लोगों से कुछ भिन्नता रखते थे। मिस्र [redacted] पत्थर का अधिक प्रयोग किया जाता था किन्तु बबीलोनिया के लोग ईंट का ही प्रयोग अधिक करते थे। बेबीलोनिया में स्थापत्य कला के मुख्य नमूने वहाँ के मंदिर हैं।

बाबुली धर्म —

बाबुली धर्म पुराने ढंग के विचारों पर आधारित माना जाता है। इस धर्म का मुख्य अंग दुष्ट आत्माओं, भूत प्रेतादि की स्थिति को मानना और उन पर विश्वास करना था। ये लोग जानते थे कि ये आत्मायें ही बीमारी, दुर्घटनायें, मृत्यु तथा सब प्रकार की मानवी आपत्तियाँ लाती हैं। उन्हें दूर करने के लिये वे जादू टोने का प्रयोग करते थे और गण्डे तावीज बाँधते थे।

ऐसे यह माना जाता है कि बेबीलोनिया के धर्म पर सुमेरी धर्म का विशेष प्रभाव था अथवा एक प्रकार से यह सुमेरी धर्म ही था। बेबीलोनिया के जो सबसे पुराने

अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें एनलिल अथवा बेल एक मुख्य देवता जान पड़ता है। बाद में वह नीचे के लोक अथवा लोक का देवता माना जाने लगा। उसकी पत्नी का नाम बेलेट था। इसी प्रकार समुद्र अथवा जल का देवता 'ईय' माना जाता था जो प्रारम्भ में शायद ईरान की खाड़ी का देवता था।1

बेबीलोनिया में हम्मूराबी के राज्य की स्थापना के बाद वहाँ के धर्म में भी थोड़ा परिवर्तन हुआ। हम्मूर बी बेबीलोन नगर का निवासी था तथा उसी नगर को उसने अपने राज्य की राजधानी बनाया। वह बेबीलोन के नगर देवता मरडक का उपासक था और अपनी प्रत्येक विजय का श्रेय उसने अपने मरडक देवता को ही दिया है। इससे बेबीलोनिया में मरडुक देवता की मान्यता बहुत बढ़ी। कुछ यूरोपिय विद्वानों के अनुसार यह मरडुक देवता एकी का पुत्र था जो सुमेर तथा बाबुल में जल का देवता माना जाता था।2 श्री गोल्ड के मतानुसार यह मरडुक वास्तव में सूर्य देवता था जो पर्वतों और नदियों का शासक माना जाता था।3 अन्य लोगों के मतानुसार बाबुल में सूर्य के प्रकाश का देवता 'शमश' माना जाता था। वह सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि का दाता समझा जाता था।

बेबीलोनिया में मन्दिरों में जो देवताओं की उपासना होती थी उसके मुख्य अंग भजन-कीर्तन थे। देवता की प्रशंसा में लम्बी लम्बी स्तुतियाँ गाई जाती थीं जो सुमेरी भाषा में होती थीं। पश्चातवर्ती काल में इन सुमेरी स्तुतियों के साथ अक्कादी भाषा में उनका अनुवाद भी गाया जाता था जिससे सब साधारण लोग उन स्तुतियों का अर्थ समझ सकें।

बाबुली साहित्य —

असुर राज्य की राजधानी निनेवेह की खुदाई में मिट्टी की ईंटों पर खोदकर लिखी हुई पुस्तकों का जो एक संग्रह प्राप्त हुआ जिसे पुस्तकालय ही कहा जाता है। उसमें दो बाबुली प्राचीन पुराण ग्रन्थों के भी कुछ भाग मिले। एक ग्रन्थ में 'सृष्टि की उत्पत्ति की कथा' दी गई है। इसमें बताया गया है कि मरडुक देवता ने किस प्रकार एक भयंकर राक्षस को—जो प्राचीन काल में अंधकार का प्रतीक माना जाता है—पराजित किया और इस प्रकार विश्व में शान्ति और व्यवस्था स्थापित की। मरडुक ने उस राक्षस

1 *A Concise History of Religion F J Gould*

2 *From the period of first Babylonian dynasty 2169 1870 hither to unimportant local god of Babylon Marduk son of Enki the water God became prominent and since it became capital of Sumer and Akkad and remained so until the end of their civilization he was the principal deity Encyclopedia Brittanica*

3 *A Concise History of Religion-F. J Gould*

वे शरीर को चीर कर दो टुकड़े कर डाले। आधे शरीर से उसने आसमान बनाया और उसमें तारे और चन्द्रमा जड़कर उसे सुन्दर बनाया तथा दूसरे भागसे यह भूमि बनायी। आगे कहा गया है कि इस प्रकार आकाश और भूमि बनाने के बाद मरडुक ने भूमि पर मनुष्य की सृष्टि की जिससे कि मनुष्यों द्वारा देवताओं की पूजा-अर्चना सदा चलती रहे। दूसरे पुराण ग्रन्थमें उस 'प्रलय' की कथा वर्णित की गयी है जिसे परमेश्वरने पापी मनुष्यों को दण्ड देने के लिये भूमि पर भेजा था। इसमें बताया गया है कि ६ दिन और ६ रात तक निरन्तर मूसलधार जल-वर्षण होता रहा और जल ने समस्त भू मण्डल को ढक लिया। भूमि के समस्त निवासी उस जलमें डूब गये। केवल 'नूह' और उसके परिवार के लोग तथा रिश्तेदार ही बच रहे जोकि एक नाव में बैठकर एक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये। बेबीलोनिया की यह पौराणिक जल-प्रलय-कथा लगभग वैसी ही है जैसी कि यहूदियों की 'पुरानी बाइबल' (ओल्ड टेस्टामेंट जेनेसिस) में दी गयी है।

सभ्यता की अन्य बातें—

ऐसा अनुमान है कि बाबुली लोग ज्योतिष विद्या पर विशेष श्रद्धा रखते थे तथा उस विद्यामें उनकी गति भी थी। ग्रहोंका तथा ग्रहणका प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है ऐसा भी वे लोग मानते थे। सूर्य की गति का भी वे हिसाब लगा लेते थे तथा सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण के काल का भी हिसाब लगाकर ठीक ठीक बता देते थे।[1] बाबुल में चन्द्रमास और वर्ष का ही प्रचलन था। सात दिनके चार सप्ताहों का एक मास होता था। ये सात दिन सूर्य, चन्द्र तथा अन्य पाँच बाबुली ग्रहोंके नाम पर रखे जाते थे। कुछ यूरोपीय विद्वान मानते हैं कि ज्योतिष में सिंह, कर्क, वृश्चिक आदि जो राशियां मानी जाती हैं उनका मूल बेबीलोनिया ही है और वहीं से संसार ने ज्योतिष-विद्या सीखी।

कुछ यूरोपीय विद्वानों का यह भी अनुमान है कि सिंचाई तथा इन्जीनियरिंग विद्या का आरम्भ सबसे पहले बेबीलोनिया में ही हुआ। हम्मूराबी आदि के समय में यहाँ नहरों का एक जाल-सा बिछा हुआ था ऐसा माना जाता है तथा इन नहरों की रचना बड़े व्यवस्थित ढंग से की गयी थी। इनमें तीन सुन्दर नहरें थीं जिनके द्वारा फरात नदी का पानी बेबीलोन के बीच से होता हुआ टाइग्रस नदी तक ले जाया जाता था।

कुछ लेखकों के अनुसार हम्मूराबी के समय में लगभग २००० ई० पू० में बेबीलोनिया में कुशल चिकित्सक तथा शल्य चिकित्सक भी थे।[2]

यहां से भी कुछ सुन्दर वस्तुएं इस काल की प्राप्त हुई हैं। उर की खुदाई में एक स्थान पर हाथी दांत के लगभग १०० टुकड़े प्राप्त हुए। जब इन टुकड़ों को यत्नपूर्वक

---

1 History of Mankind Hutton Webster p. 55

2 " " " p. 61

क्रम से जमाया गया तो उनसे एक सुन्दर शृंगारदान बन गया। उस पर चारों ओर नाचती हुई लड़कियों की शक्लें उभारकर बनायी गयी थीं। यह शृंगारदान सम्भवत मेसोपोटामिया में नहीं बना होगा बल्कि सिडोन या टायर के फिनीशियन कारीगरों का बनाया हुआ होगा, क्योंकि हाथी दांत के काम के लिये उन दिनों सिडोन, टायर आदि के फिनीशियन कारीगर ही अधिक प्रसिद्ध थे।

बाबुली लोग व्यापार में भी कुशल थे। ऐसा पता लगता है कि बाबुल का व्यापार पूरब में भारत तक, पश्चिम में मिश्र तथा भूमध्यसागर के किनारों तक चलता था।

पश्चातवर्ती काल में—राजा सिनाक्रिब के काल में बबीलोनिया में बैंकिंग के कार्य का भी प्रारम्भ हुआ माना जाता है।

बाबुली सभ्यता का भारत से सम्बन्ध —

भारत तथा बेबीलोनिया का सम्बन्ध इतना प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट तो नहीं दिखायी देता जितना भारत और सुमेर का दिखाई देता है। जैसा कि पूर्व अध्यायमें बताया गया भारत का सुमेर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखायी देता है तथा यह जान पड़ता है कि भारत के लोगों ने ही सुमेर में पहुँचकर भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था। बेबीलोनिया पर भारत का प्रभाव अप्रत्यक्ष था अर्थात् भारतीय सभ्यताका प्रभाव सुमेरी सभ्यता पर पड़ा और सुमेरी सभ्यता का प्रभाव बाबुली सभ्यता पर। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि बाबुली देवता प्राय सुमेरियों के ही देवता थे और बाबुली मन्दिरों में सुमेरी भाषा के गीत गाकर देवता की स्तुति की जाती थी। बाबुली लोगों ने जिस तिथि पत्र को स्वीकार किया वह भी वास्तव में सुमेरी ही था। सुमेर में प्राप्त हुई मोहरों जैसी मुहरें भी बाबुल में अनेक स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।

बाबुली लोग सामी जाति के थे जिस जाति का केन्द्र-स्थल अरब माना जाता है। इसी कारण बाबुली लोगों की भाषा तथा संस्कृति भी सुमेरी भाषा और संस्कृतिसे भिन्न थी। किन्तु सुमेरी संस्कृति बाबुली संस्कृति से अधिक उच्च होने के कारण बाबुली संस्कृति पर काफी प्रभाव डाल सकी। इस प्रकार भारत का सम्बन्ध बाबुली सभ्यता से अप्रत्यक्ष रूप से था।

बेबीलोनिया के काशी वंश को विद्वान लोग एक भारतीय वंश ही मानते हैं—यह पूर्व में बताया जा चुका है।

बबीलोनिया का भारत के साथ मुख्य सम्बन्ध व्यापारिक था। बावेरु जातक आदि पश्चात् कालिक ग्रन्थों में इस प्रचीन व्यापार का उल्लेख मिलता है। उक्त जातक में भारत से बाबुल देश को मयूर भेजे जाने का उल्लेख मिलता है। बाबुल की प्राचीन भाषा में एक शब्द 'सिन्धु' भी था जिसके सम्बन्ध में विद्वानों का अनुमान है कि 'सिन्धु' शब्द

तथा बाद का यूनानी भाषा का शब्द 'सिंडोन' शब्द सिंधु देश के बने कपास के कपड़े के लिये ही थे।[१] 'सिंधु' का अर्थ था 'सिंधु देश की उपज'। जेम्स केनेडी के अनुसार[२] सातवीं तथा छठीं शताब्दी में ई० पू० में भारतीय द्रविड़ लोगों का एक उपनिवेश बेबीलोनिया में भी था। सातवीं छठवीं शताब्दी ई० पू० में ही नहीं बल्कि पता चलता है कि ई० पू० ३००० से भी पूर्व भारत का तथा भारत के द्रविड़ों का बेबीलोनिया से व्यापार चलता था और इसी के फलस्वरूप अनेक द्रविड़ शब्द पश्चिमी भाषाओं में प्रचलित हो गये। विद्वानों का विचार है कि बेबीलोन तक ही नहीं, भारत के द्रविड़ों का व्यापार यूनान तथा फिलिस्तीन आदि देशों तक भी चलता था। यूनानी लोग चावल और काली मिर्च द्रविड़ों से ही लेते थे। डा० अल्तेकर का विचार है कि चावल के लिये ग्रीक भाषा में 'अराजा' और लैटिन भाषा में 'अरीजा' शब्द की उत्पत्ति तमिल शब्द 'आरिसि' से हुई है, जिसका अर्थ चावल होता है। इसी से बाद में अंग्रेजी का 'राइस' की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यूरोपीय भाषाओं का 'पप्पर' (pepper) शब्द द्रविड़ शब्द 'पिप्पलि' से उत्पन्न हुआ है।

'तमिल साहित्य तथा संस्कृति' के लेखक का मत है कि फिलिस्तीन के साथ दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध कम से कम तीन हजार वर्ष पुराना है। एक हजार ई० पू० में टायर (फिनीशिया) के राजा हिरम तथा हीब्रू (यहूदी) राजा डेविड ने (जो सोलोमन का पिता था) जहाजों का एक बेड़ा तैयार किया था। यह बेड़ा तीन वर्ष में एक बार रवाना होकर मालाबार तट पर मुजरिस के बन्दरगाह में पहुँचता था और भारत से चाँदी हाथी दाँत, बन्दर और मोर पक्षियों को लेकर वापिस आता था। सोलोमन ने भी जिसका समय ईसा से ९५० वर्ष पूर्व माना जाता है अपने उपयोग के लिये उक्त वस्तुएँ भारत से प्राप्त की थीं ऐसा पता लगता है।[३]

उक्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि भारत के द्रविड़ लोग प्राचीन काल में नौकानयन तथा समुद्री व्यापार में कुशल तथा अग्रसर थे। बाहर जानेवाली वस्तुओं में सागौन की लकड़ी भी होती थी। तामिल साहित्य में समुद्र तथा समुद्री व्यापार का काफी उल्लेख मिलता है।

तात्पर्य यह कि भारत तथा बाबुल अथवा फिलिस्तीन देश का व्यापारिक सम्बन्ध ईसा से कम से कम २-३॥ हजार वर्ष पूर्व पुराना है तथा उस समय दोनों देशों में काफी व्यापार चलता था।

---

१ प्राचीन भारतीय वेशभूषा—डा० मोतीचन्द्र पृष्ठ ३

२ जरनल आफ रायल ऐशियाटिक सोसायटी १८९८ में प्रकाशित लेख।
Early commerce of Babylon with India 700-300 B. C.

३ तामिल साहित्य और संस्कृति—भवदत्तानन्द पृष्ठ २०४-५

घोड़ा भारत से ही बाबुल पहुचा—

हम देख चुके हैं कि प्राचीन सुमेर में भारतीय रथ तो बनने लगा था किन्तु घोड़ा वहाँ बहुत बाद में पहुँचा तथा वह भारत से ही पहुँचा। सुमेर से ही घोड़ा बेबीलोनिया में पहुँचा। यूरोपीय लेखकों का अनुमान है कि १७०० ई० पू० के लगभग घोड़ा बेबीलोनिया में और वहाँ से मिस्र तथा यनान आदि देशों में पहुँचा, जहाँ कई शताब्दियों तक उसका उपयोग युद्ध म तथा युद्ध के रथों में होता रहा। इससे पूर्व वह बाबुली लोगों को अज्ञात था तथा उसी प्रकार बारहवें राजवंश के मिस्री लोगों को भी अज्ञात था। दूसरी ओर आर्यों को (ईरान न) वह अत्य त प्राचीन काल से परिचित था। अत यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ये लोग ही घोड़े को अपने साथ पश्चिमी एशिया से लाये। जिस देश में अथवा दिशा से यह घोड़ा पश्चिमी एशिया में पहुँचा उसका संकेत इस बात से मिलता है कि बाबुल से लोग जिन शब्दों को मिलाकर 'घोड़ा' शब्द लिखते थे, उनका वास्तविक अर्थ होता था 'पूरब का गधा' ।§

ऐसा अनुमान होता है कि घोड़ा पश्चिमी एशिया में पारस से पहुँचा तथा पारस के आय लोग ही उसे वहाँ ले गये। पारस अथवा ईरान में निश्चय ही यह भारत से गया होगा। पूव में बताया गया है कि भारत में ही आर्यों की कुछ जातियाँ पारस्परिक सघष के कारण अपना देश छोड़कर ईरान में चली गई थीं। ये लोग अपने साथ घ ड़े भी ले गये होंगे तथा जब इनमें से कुछ लोग पश्चिम की ओर बढ़े तब अपने साथ घोड़ों को भी ले गये और इस प्रकार भारत से ही घोड़ा पश्चिमी एशिया में तथा यूरोप में पहुँचा।

मना शब्द—

पूरब क गधे के समान ही 'मना' शब्द का प्रयोग भी बेबीलोनिया में भारत से ही पहुँचा जान पड़ता है। ऋग्वेद म 'मना' श द आया है। यह 'हिरण्यया' शब्द के साथ मिलता है, जिसका सम्बन्ध सोने की तौल के साथ ज्ञात होता है। बेबीलोनिया तथा असीरिया के इतिहास में 'मना' श द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। यह शब्द ग्रीक और लैटिन भाषाओं में भी पहुँच गया है। ग्रीक भाषा में मना और लैटिन में 'मिना'। कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि यह श द मूलत खाल्दीय है और वहाँ से भारत में आया है तथा आर्य भाषाओं में उसका प्रचार हुआ।× उनका अनुमान है कि यह शब्द या तो मोहेंजोदड़ो की सुमेरी भाषा से आया अथवा आय लोग कोल्डिया से सीधे ही भारत में इस तौल को अपने साथ ले आये।

§ *Encyclopedia Brittanica Vol 17 Persia*

× वेदों में बेबिलियन और पारसी शब्द डा० हेमचन्द जोशी, सगम दि० १७ २-१९५२

परन्तु जैसा कि पूर्व में अनेक स्थलों पर बताया गया है अनेक यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान भारत की प्राचीन सभ्यता सम्बन्धी अनेक बातों को विपरीत दृष्टिकोण से देखते हैं तथा उसी विपरीत विचार धारा का ही परिणाम यह कल्पना भी है।

श्री अविनाशचन्द्र दास का विचार है कि 'मना' प्राचीन भारत में एक सोने के सिक्के का नाम था तथा सम्भवतः भारत के पणि लोग इस सिक्के को भारत से बेबुल देश में ले गये और इस प्रकार इसका वहाँ प्रचार हुआ। वहीं से आगे चलकर यह सिक्का यूनान आदि देशों में पहुँचा। श्री दास का यह भी कथन है कि यह सोचना एक भूल है कि मना बेबीलोनिया का सिक्का था तथा उसे वहाँ से द्रविड़ लोग भारत में लाये तथा सप्त सिन्धु में इसका प्रचार किया।[२]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि बेबीलोनिया की सामी जाति भारतीय आर्य जाति से भिन्न थी, बेबीलोनिया की सामी भाषा तथा सामी संस्कृति भी भारतीय आर्य भाषा तथा आर्य संस्कृति से भिन्न थी, फिर भी सुमेर में प्रचलित आर्य सभ्यता का बेबीलोन की सामी सभ्यता पर काफी प्रभाव पड़ा। साथ ही बेबीलोनिया आदि देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीनकाल से था।

---

2 Ingredic India A C Das pp 141 142

अध्याय ४

असीरिया अथवा असुर देश की सभ्यता

यद्यपि कालक्रम के अनुसार सुमेरी सभ्यता के पश्चात् मिस्र की सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन मानी जाती है, किन्तु भौगोलिक तथा ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से बाबुल तथा असुर देश, (बेबीलोनिया तथा असीरिया) तथा उनकी सभ्यतायें ऐसी मिली जुली हैं कि उन्हें एक दो क्रम में ले लेना उचित जान पड़ता है।

मेसोपोटामिया और बेबीलोनिया का उत्तरी भाग जो शाम (सीरिया) के रेगिस्तान तक फैला हुआ है और रेगिस्तान जैसा ही सूना है 'असीरिया' कहलाता है। परन्तु 'असीरिया' नाम उतना प्राचीन नहीं है जितना कि उक्त देश प्राचीन है। इस देश का प्राचीन नाम क्या था तथा उसके प्राचीन निवासी कौन थे इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता। एक मत के अनुसार असुर देश के सबसे प्राचीन निवासी 'सुबाराई' जाति के थे जो जाति बाद में मेसोपोटामिया के कई भागों में असुर के उत्तर पहाड़ी भागों में तथा जागरोस पर्वत श्रेणियों की घाटियों में बस गई। इसके बाद अगादे के सारगोन के समय से कुछ पूर्व अर्थात् २७०० ई० पू० के लगभग इस दजला नदी की घाटी में एक ऐसी जाति आकर बसी जो अपने को 'असुर' कहती थी। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक बस्ती का नाम भी असुर रखा और जब उन लोगों ने एक बड़े भू भाग पर अधिकार कर लिया तब उनका समस्त देश भी 'असुर' देश कहलाने लगा। बाद में 'यूनानियों' ने इस असुर देश का नाम 'असीरिया' रख दिया और तब से यूरोपीय लेखक उसे इसी नाम से पुकारते हैं।

'असीरिया' एक प्लेटो अथवा ऊँचा भू भाग है। इसकी मुख्य तथा सबसे प्राचीन बस्ती 'असुर' कहलाती थी। आज कल टिगरिस (दजला) नदी के दाहिने किनारे पर 'किलेह शेरघाट' नाम का एक छोटा सा गाँव है उसी के पड़ोस में एक प्राचीन नगर के खण्डहर मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि यही प्राचीन असुर नगर था। इसी को बिगाड़कर 'अशुर' 'औजार' आदि नाम रख दिये गये थे। प्राचीन काल में यहाँ भी बाबुली अथवा ख्याल्दी नगरों के समान पुजारी राजाओं का राज्य था अर्थात् नगर के

असीरिया तथा
पश्चिम एशिया के
[illegible]
(प्राचीन)

[illegible]

शासक ही मन्दिर के पुजारी भी होते थे। किन्तु असुरों को इस भूमि में बहुत समय तक प्रधानता न मिली, क्योंकि अक्काद के राजाओं का शासन सुदृढ़ था फिर भी ये असुर लोग अपनी सभ्यता तथा कला का विकास स्वतन्त्र रूप से करते रहे।

ऐसा पता चलता है कि असीरिया की यह भूमि प्रारम्भ में अपनी प्रधान भूमि बेबीलोनिया का ही एक भाग समझी जाती थी तथा उसी के द्वारा शासित होती थी। सम्भवतः बेबीलोनिया का एक विशेष अधिकारी असीरिया के प्रबन्ध के लिये नियुक्त किया जाता था। बाद में असीरिया ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। यहाँ के कुछ मन्दिरों के खण्डहरों में ऐसी ईंटें मिली हैं जिन पर 'इशामी दागान' और उसके पुत्र 'इश्म दमन' के नाम खुदे हुए मिले हैं। बाद के एक राजा ने भी उक्त नामों का उल्लेख किया है जिससे अनुमान होता है कि उक्त दोनों राजा १८०० ई०पू० के लगभग हुए। बाद में जब बाबुल राज्य कमजोर होने लगा तो असुर राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला तथा असुर देश का नाम प्रकाश में आने लगा। असुरों ने दजला नदी की घाटी में अपनी जो बस्ती बसाई थी वह भी शीघ्रता से बढ़ती गई। धीरे-धीरे आसपास की बहुत सी भूमि पर भी उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और अपना एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य ही बना लिया। इनकी बढ़ती हुई शक्ति देखकर आस पास के लोग इनसे भयभीत होने लगे। १६०० ई०पू० के लगभग जब दक्षिणी राज्य बेबीलोनिया काफी कमजोर हो गया था, असुरोंने दक्षिण की भूमि पर भी अधिकार करना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे उनका राज्य एक साम्राज्य के रूप में बदलने लगा। फिर बढ़ते बढ़ते वह साम्राज्य इतना बड़ा हो गया कि उसका विस्तार ३६० मील लम्बाई और १७५ मील से ३०० मील की चौड़ाई में हो गया तथा कुल भूमि का क्षेत्रफल ७५००० वर्गमील हो गया। इस समय असुर साम्राज्य का विस्तार फारस की खाड़ी से लगाकर कश्यप सागर (कैस्पियन सी) भूमध्यसागर तथा नील नदी तक हो गया था। इतिहास में प्रथम बार मैसोपोटामिया से मिस्र तक एक शासन स्थापित हुआ।

इतिहास—

जब एक ओर बेबीलोनिया राज्य की शक्ति घट रही थी तथा दूसरी ओर असीरिया की शक्ति बढ़ रही थी तो दोनों में अधिक समय तक संघर्ष न होना भी असम्भव था। यद्यपि ऐसा ज्ञात पड़ता है कि असुर लोग धीरे-धीरे भाषा, संस्कृति, आचार व्यवहार आदि में बाबुली लोगों से मिल-जुल गये थे तथा बाबुली लोगों की भाँति वे भी सामी जाति के माने जाने लगे थे किन्तु राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण दोनों में मेल बना रहना कठिन था। दोनों में झगड़े का आरम्भ सम्भवतः सीमा के प्रश्न पर हुआ, किन्तु जब

पड़ता है बिना अधिक लड़ाई झगड़े के दोनों ने आपस में संधि करली। दोनों देशों में पहिली संधि होने का उल्लेख १४५० ई० पू० में मिलता है जबकि असुर और कार दुनियास (बेबीलोन) के राजाओं ने सीमा सम्बन्धी एक संधि करके उसे पालन करने का वचन दिया। इस संधि में यह स्पष्ट है कि लगभग १५०० ई० पू० असुर देश ने स्वतन्त्र प्रभुसत्ता प्राप्त करली थी। इससे पहले असुर देश का जो उल्लेख मिलता है वह मिस्र के सम्बन्ध में है। मिस्र के राजा थुतमेस तृतीय ने मेगिड्डो का युद्ध जीतकर फरात नदी तक के इलाके पर अपना अधिकार कर लिया था (१५०४ ई० पू०)। उसे भेंट देने वाले देशों में असुर का भी नाम है। किन्तु इस समय तक असुर एक स्वतन्त्र राज्य नहीं बना था, क्योंकि वहाँ के शासक का उल्लेख एक सामान्त के रूप में किया गया है।

इसके थोड़े दिन बाद ही स्थिति बदल गई जान पड़ती है, जैसा कि १४५० ई०पू० की उक्त सीमा संधि से स्पष्ट होता है। बेबीलोनिया और असीरिया के राजाओं में १४०० ई० पू० में फिर एक संधि हुई। इस समय तक असुर देश एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य बन गया था तथा दोनों देशोंमें गहरी मित्रता हो गई थी। यहां तक कि बेबीलोनिया के राजा करना बरियाश ने, जो काशीवंश का था असीरिया के राजा की लड़की से विवाह भी कर लिया। किन्तु यह विवाह बेबीलोनिया के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि इसके कारण बेबीलोनिया के मामलों में असीरिया का सैनिक हस्तक्षेप आरम्भ हो गया। कारण यह हुआ कि करना बरियाश की मृत्यु के बाद जब उसका पुत्र—जो असुर स्त्री से उत्पन्न हुआ था—बेबीलोन की गद्दी पर बैठा तो राजवंश के अर्थात् काशी जाति के गर्वीले लोगों ने विद्रोह कर दिया—प्रत्यक्षतः इसी कारण कि वह एक असुर स्त्री का पुत्र था—और अपने नये राजा की हत्या करके अपनी पसन्द के एक दूसरे व्यक्ति को गद्दी पर बिठा दिया। असीरिया का उस समय का राजा—जिसका नाम असुर उबल्लित था—अपने रिश्तेदारों के साथ हुए इस दुर्व्यवहार को सहन न कर सका। उसने अपने भानजे की हत्या का बदला लेने के लिये बेबीलोन पर चढ़ाई कर दी, विद्रोहियों को हराया और करना बरियाश के दूसरे पुत्र को गद्दी पर बिठाया। इस प्रकार बेबीलोनिया के मामलों में असीरिया का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया।

असीरिया का बल ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों आस पास के देशों पर आक्रमण करके वह वहाँ पर अधिकार करता गया। इन दिनों खत्तियों का साम्राज्य बड़ा बलवान था तथा मिस्र आदि देशों से बराबर उसके युद्ध होते रहते थे। असीरिया के साथ भी खत्तियों का संघर्ष आरम्भ हुआ और दीर्घ काल तक चला। अन्त में ७०० ई० पू० के लगभग इन संघर्षों के फलस्वरूप खत्ती या हित्ताइ साम्राज्य का अन्त हो गया।

असीरिया के इतिहास में १३०० ई० पू० का काल महत्वपूर्ण है। इसी समय के लगभग एक असुर राजा द्वारा बेबीलोनिया पर एक बड़ी विजय प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। वह राजा तुकुल्ती निनेब था जो शाल्मानेसेर प्रथम का पुत्र था। इस विजय का पता ७०० ई० पू० के एक उल्लेख से चलता है। निनेवेह तथा अन्य स्थानों में प्राप्त हुए अवशेषों से ज्ञात होता है कि ७०० ई० पू० के लगभग असुर राजा सिनाकिरब ने बेबीलोनिया पर आक्रमण किया था तथा पूर्ण विजय प्राप्त की थी। उसने बाबुल नगर को भी लूटा था। इसी लूट में उसे असीरिया के ६०० वर्ष पूर्व के राजा तुकुल्ती निनेब के नाम की अंगूठी (मुहर) भी प्राप्त हुई जिससे उक्त ऐतिहासिक विजय का पता लगा अर्थात् उक्त मुहर से ज्ञात होता था कि १३०० ई० पू० के लगभग शाल्मानेसेर प्रथम के पुत्र तुकुल्ती निनब ने बेबीलोनिया पर एक महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी। यह मुहर निनवेह में ही रही होगी किन्तु वह किसी प्रकार बाबुल वालों के हाथ लग गई और वे उसे अपने यहाँ ले गये। बाद में जब ७०० ई० पू० के लगभग सिनाकरब ने पुनः बाबुल पर आक्रमण किया और नगर को लूटा तब उसे उक्त मुहर भी प्राप्त हुई और वह उसे असीरिया के लिये गौरवपूर्ण होने के कारण अपने साथ निनेवेह ले आया। इस बात का उल्लेख सिनाकिरब ने बड़े गर्व के साथ अपनी विजय गाथा में किया है।

तुकुल्ती निनेब के पिता शाल्मानेसेर ने ही कल्ह नामक एक नगर बसाया था जो असुर और निनवेह के बाद इस राज्य का तीसरा बड़ा शहर हुआ तथा इसी वंश के कई राजाओं की राजधानी भी रहा।

प्रथम असुर साम्राज्य—

तिगरिस नदी के उद्गम स्थान के समीप एक चट्टान पर एक राजा की मूर्ति बनी हुई है जिस पर लिखा है—'महान ईश्वर असुर, शमश और रमन की कृपा से मैं तुकुल्ती पलेसेरा, असुर देश के राजा ने जो पश्चिम के महासागर से नेरी की भूमि तक का विजेता है, तीसरी बार नेरी की भूमि पर आक्रमण किया'। यह इस प्रदेश के उत्तरी भाग में असुरों की विजय का प्रथम पुराना स्मारक है और एक ऐसे राजा का है जो इस देश का वास्तव में एक महान शासक था। इस तुकुल्ती पेले सेरा का दूसरा नाम तिगलाथ पिलेसर प्रथम भी है। यह बारहवीं शताब्दी के अन्त (११२०-११०० ई० पू०) तक रहा। इसने पश्चिमी नदी के पास हित्ताइट लोगों को भी हराया था तथा इस युद्ध में निसाई लोग (जिन्हें इसका हित्ताइत) भारी संख्या में मारे गये थे। इसने बेबीलोन से भी युद्ध किये परन्तु इन युद्धों में उसे सफलता न मिली। तिगलाथ पिलेसर का राज्य असुरों का प्रथम अथवा पुराना साम्राज्य कहलाता है।

इसकी मृत्यु ११०० ई० पू० में ऊपरी तिगरिस घाटी का देश (असीरिया) पूर्ण शक्तिमान हो गया था। इसके बाद एक भी राजा योग्य और बलवान हुए। ये राजा लगातार

निसी नये राजवंश के थे। १० वीं शताब्दी ई० पू० के मध्य की एक मूर्ति खुदाई में प्राप्त हुई है। यह मूर्ति तुकुल्ती निनेय द्वितीय की है जो इस नये राजवंश का तीसरा राजा था। इसने अपनी मूर्ति तिगलाथ पिलेसर प्रथम के समीप में ही स्थापित करायी थी। उसका पुत्र असुर्नासिरपाल और अधिक शक्तिशाली हुआ। इसने अपने युद्धों में तथा विजयों द्वारा असुर देश को पुराने वैभव पर ही नहीं पहुँचाया, बल्कि उसे और भी अधिक बढ़ाया। इसका काल ९ वीं शताब्दी (८८४ ८६० ई० पू०) समझा जाता है। इसके एक शिलालेख में नैरी भूमि१ पर किये गये आक्रमण का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि असुर्नासिरपाल ने शत्रुओं के सुदृढ़ दुर्ग को जीत कर समस्त रक्षकों का कत्ल कराया और फिर उनके सिरों का एक ऊँचा स्तूप बनवाया। उस नगर के एक राजकुमार को पकड़कर वह अपने घर अरबेल में लाया, वहाँ जिन्दा ही उसकी खाल उतरवाई और उस खाल को नगर की दीवार पर टँगवा दिया। युद्ध में बन्दी बनाये गये सैनिकों तथा अन्य लोगों के हाथ, पैर, नाक कान कटवाना और फिर उनके ढेर लगवाना इस असुर राजा का विशेष शौक था। इसी प्रकार उनकी आखें निकलवाना तथा लड़के लड़कियों को जीवित जलाना उसे विशेष प्रिय था।२

असुर्नासिरपाल ने एक अच्छा कार्य यह किया कि युद्धों के बीच में उसे जो समय मिला उसमें उसने कल्हु नगर को फिर से बसाया। इस शहर की स्थापना पूर्व में शाल्मानेसर प्रथम ने की थी परन्तु बाद में यह नगर अवनति को प्राप्त हो गया तथा उजड़ने लगा था। असुर्नासिरपाल ने उसकी फिर से मरम्मत कराइ तथा नगर को अनेक प्रकार से सजाया। उसने वहा अपनी दूसरी राजधानी भी बनाई। इस प्रकार कल्हु नगर उसके समय में फिर से उन्नति को प्राप्त होगया। नगर में कई नई इमारतें भी बनीं। इसके लिये उसे एक उपाय करना पड़ा। पहले वह जिन युद्धबन्दियों को मरवा देता था तथा उनके कटे हुए हाथ पैर के ढेर लगवाता था अब वह उन बन्दियों को इमारतें बनाने के काम में लगाने लगा। इन्हीं बन्दियों से उसने कल्हु की मरम्मत कराइ तथा अनेक महल भी बनवाये। उसने महलों में लगी हुई लकड़ी पर नक्काशी का अच्छा काम कराया, दीवारों पर चित्रकारी करायी तथा अनेक मूर्तियों से भी महलों को सजाया। उसने पत्थर पर शेरों की जो मूर्तिया महलों में स्थापित करायी वे कला के उत्कृष्ट नमूनों में गिनी जाती हैं।

१ नैरी—सम्भवत सीरिया अथवा शाम का कोई भाग था जहाँ कोई असुर राजा इससे पूर्व न पहुँचा था।

2 *Assyria A Region p 162*

असुर्नी-ज़िरपाल के पुत्र शाल्माने सेर द्वितीय ने ८६० से ८२४ ई० पू० तक अर्थात् लगभग ३६ वर्ष तक राज्य किया। उसके राज्य में असुर देश पूर्ण वैभव तथा उन्नति पर रहा। इस समय असुर साम्राज्य का विस्तार तिगरिस नदी के उदगम से लेब नान देश तक तथा समुद्र तक हो गया था। उसने यहूदियों के देश 'इजराइल' पर भी आक्रमण किया तथा महान 'असुर' की कृपा से उसपर विजय प्राप्त की। उसने भी बगदाद नगर में कुछ नई इमारतें बनवाई तथा पुरानी इमारतों की मरम्मत कराई।

शाल्माने सेर द्वितीय के पुत्र असुर्नी-ज़िरपाल का दूसरा पुत्र शम्सी रमन राजा हुआ और फिर शम्सी रमन का पुत्र रमन निरारी तृतीय राजा हुआ। इसने भी शाम पर हमला किया तथा सफलता प्राप्त करने पर अपने दादा के समान कीर्ति अर्जित की। इस रमन निरारी का विवाह शम्भू रमत नामकी एक राजकुमारी से हुआ। यूनानी लोग इस राजकुमारी को 'सेमीरेमिस' कहते हैं। इस राजकुमारी के सम्बन्ध में अनेक दन्त-कथायें प्रचलित हैं। असुर भाषा में शम्भू रमत का अर्थ फाख्ता (एक चिड़िया) होता है। अत यह कथा प्रचलित हुई कि यह राजकुमारी अपने अन्त समय में फाख्ता बन गई।

असुर देश में फाख्ता एक बड़ी पवित्र चिड़िया मानी जाती है क्योंकि यह देवी इश्तर की प्रिय चिड़िया समझी जाती है। शम्भू रमत के फाख्ता बन जाने के कारण उसकी भी पूजा एक देवी के समान होने लगी। एक अन्य कथा यह भी प्रचलित है कि यह रानी शम्भू रमत अथवा सेमिरेमिस ने ८०० ई० पू० के लगभग एक बड़ी समुद्री सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया था, उसके बेड़े में चार हजार सशस्त्र नौकाएँ थीं किन्तु सिन्धु के वीरों ने उसका डटकर मुकाबिला किया और सब की सब नौकाएं नष्ट कर दीं।

यूनानी इतिहासकार ऐरियन के कथनानुसार सिकन्दर जब भारत पर आक्रमण करने आ रहा था तब मन्त्रियों ने उसे भारत पर आक्रमण न करने की सलाह देते हुए बताया था कि किस प्रकार सेमिरेमिस की विशाल सेना में से केवल २० सैनिक जीवित बच पाये थे और किस प्रकार सेमिरेमिस स्वयं बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचा सकी थी।

इस वंश के राजाओं में सारगोन द्वितीय अधिक प्रसिद्ध हुआ है। उसने आस पास के कई देश जीते। उसने यहूदी इजराइल के राजा पर—जिसने विद्रोह कर दिया था—आक्रमण किया और ७२२ ई० पू० में उसकी राजधानी समरिया पर अधिकार कर लिया। उसने बैबीलोन के मार्दुक राजा पर भी विजय प्राप्त की। कुछ वर्ष पूर्व सन् १६१२ में फ्रांसीसी पुरातत्व शास्त्रियों के एक दल को बगदाद स्थान की खुदाई में पक्की हुई बड़ी ईंट पर लिखा हुआ एक लम्बा लेख प्राप्त हुआ जिसमें इस सारगोन

द्वितीय की विजय यात्रा का लम्बा वर्णन था—किस प्रकार उसने आस पास के अनेक देशों को—जिनमें से कुछ थोड़े समय पूर्व ही असुर साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये थे—विजित करके पुनः अपने अधिकार में किया, किस प्रकार अनेक स्थानों पर उसे नज़रें, भेंटें प्राप्त हुईं। किस प्रकार उसने अनेक नगरों को लूटा तथा अग्नि के समर्पण किया तथा किस प्रकार अपार सम्पत्ति उसके हाथ लगी।

यह सारगौन द्वितीय 'असुर देश का गौरव' कहलाता है क्योंकि अक्काद के राजा सारगौन के समान ही उसने भी अनेक सफलतायें प्राप्त कीं। किन्तु किसी व्यक्ति ने—अनुमानतः उसकी ही प्रजा में से किसी मनुष्य ने उसकी हत्या कर दी और इस प्रकार उसके बढ़ते हुए प्रभाव का अन्त किया।

सारगौन का पुत्र सिनाकिरिब (सिन आकी-इरिब) अब गद्दी पर बैठा। यह अपने पिता से भी अधिक बलवान तथा वीर हुआ तथा असुर राजाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ७०५ ई० पू० से ६८१ ई० पू० तक रहा। इसने निनवाह में—जो कि बहुत समय से उपेक्षित पड़ा थी—पुनः राजधानी स्थापित की। उसने वहाँ कई महल बनवाये और पुरानी इमारतों की मरम्मत कराई। इसने बेबीलोन और एलाम की सम्मिलित सेनाओं से कई युद्ध किये। जागरोस पहाड़ियों में बसी हुई युद्धप्रिय तथा बलवान काशी जाति से भी इसने युद्ध किये। मिद जाति के लोगों को भी इसने पराजित किया।

इसके बाद के राजाओं में असुर बानीपाल अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसका काल ६६८ ई० पू० से ६२६ ई० पू० तक का समझा जाता है। उसने अपने पड़ोसी एलाम पर हमला किया और विजय प्राप्त की। इस युद्ध में उसने बड़ी क्रूरता दिखाई। गाँव के गाँव और नगर के नगर जहाँ जहाँ वह गया, नष्ट कर दिये गये, मकान गिराये गये लूटे गये और फिर उनमें आग लगा दी गई। शत्रु पक्ष के पकड़े गये योद्धाओं को क्रूरतापूर्वक मार डाला गया। एलाम की राजधानी सुषा भी—जो एक पवित्र नगरी गिनी जाती थी और जहाँ एलाम वालों के प्रधान मन्दिर थे—लूट पाट से न बची। वहाँ के मन्दिर अपवित्र किये गये, मुख्य देवता सुशिनाक तथा अन्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ असीरिया में ले जाई गई तथा मन्दिर खण्डहर कर दिये गये। बर्बरता की सीमा यहाँ तक पहुँची कि एक राजा की मूर्ति के होंठ और हाथ इसलिये काट डाले गये कि उसके हाथों में असीरिया से युद्ध करने के लिये एक धनुष-बाण दिया हुआ था। ये कृत्य करने के पश्चात् असुर बनीपाल ने बड़े गर्व से लिखा—मैंने पानी पीने के सब कुएँ सुखा दिये, एलाम का जिला मैंने नष्ट भ्रष्ट कर दिया, दासता, अकाल और विनाश मैंने शत्रुओं के जिम्मे दिये। एलाम के हजारों नागरिकों को जिन्होंने युद्ध में कुछ भी भाग लिया था वह पकड़कर असीरिया में ले गया।

इस प्रकार एलाम राज्य तथा उसकी सुप्रसिद्ध एवं समृद्ध राजधानी सूसा नगरी का अन्त हो गया। देशों की सूची में आगे से उसका नाम मिट गया, एलाम का राजा जंगलों में भाग गया। उसके साथ खाल्दिया के एक राजा का एक नाती भी था, जिसका नाम नेबू बेल जिकरी था। असुर बनीपाल के दूत इन दोनों को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। नेबू पकड़े जाने का परिणाम जानता था। अतः उसने अपने हथियार ले चलनेवाले नौकर से कहा कि अपनी तलवार से तू मुझे मार डाल। किन्तु नौकर ने भी ऐसी ही इच्छा प्रकट की। अतः नेबू और नौकर दोनों ने एक दूसरे के शरीर में तलवार भोंक कर एक दूसरे की हत्या कर दी। एलाम के राजा ने उन दोनों की लाशें असुर बनीपाल के दूतों को सौंप दीं। शायद इस आशा से कि उसके इस कार्य से शायद असुर बनीपाल उससे प्रसन्न हो जायगा। असुर बनीपाल की क्रूरता यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि उसने राजकुमार की लाश को दफनाया नहीं बल्कि उसका सिर कटवा कर एक पेड़ से टंगवा दिया। असीरिया में बनी हुई पत्थर की ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें बताया गया है कि असुर बनीपाल अपने शाही महल के बाग में बहुत से लोगों के साथ दावत उड़ा रहा है परन्तु उसकी निगाह एक पेड़ पर टंगी हुई एक बीभत्स वस्तु—कटे हुए सिर—पर लगी हुई है। यह सिर खाल्दिया के राजकुमार नेबू बेल जिकरी का ही जान पड़ता है और राजा असुर बनीपाल अपने शत्रु के इस प्रकार अपमानित देखकर चित्त में प्रसन्न हो रहा है तथा दावत का आनन्द बढ़ा रहा है।

अमुर राज्य का अन्त—

असुर बनीपाल के शासन-काल में असुर राज्य का वैभव चरम सीमा पर पहुँचा। परन्तु इस राज्य का अन्त भी अधिक दूर नहीं था। असुरों का अंतिम महान राजा यह असुर बनीपाल ही हुआ तथा उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी क्रूरता। उसने अपने राज्य काल की समस्त मुख्य मुख्य घटनाओं को पत्थरों में लिखो के रूप में खुदवाया। युद्ध, घेरे, लड़ाइयाँ, युद्ध के दृश्य सभी पत्थरों पर खुदे हुए मिलते हैं। इतिहास की दृष्टि से ये वस्तुएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे सुन्दर चित्र राजा की भेंट में प्राप्त होने वाले जानवरों के तथा शिकार के दृश्यों के हैं।

असुर बनीपाल की मृत्यु के बाद असुर राज्य की अवनति बड़ी तीव्र गति से हुई। सम्भवतः इस अवनति का प्रारम्भ उसके जीवन काल में ही हो गया था जिसका मुख्य कारण उसकी क्रूरता ही थी। उसकी मृत्यु होते ही परिस्थिति एकदम बदल गया। अभी तक असुर राज्य अपने पड़ोसियों पर आक्रमणकारी बना हुआ था परन्तु अब आसपास के देश असुर राज्य पर उल्टे आक्रमण करने लगे। मिस्र ने सामटीकी के समय में स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। मिस्र या सिरिया राज्य भी असुर राज्य के अधिकार में था

तथा कुछ समय से अपनी शक्ति बढ़ा रहा था अपनी बिखरी हुई शक्तियों में एकता स्थापित कर अधिक शक्तिशाली बन गया तथा उसने असुर देश पर इतने प्रबल आक्रमण शुरू किये कि वे असुर राज्य के लिये एक बड़ा संकट ही बन गये। किंतु गिरते हुए



असुरों की शिल्पकला का एक नमूना—(श्री रागोज़िन कृत असीरिया से साभार)

असुरों में भी इतनी शक्ति अभी बाकी थी कि अपने एक छोटे पड़ोसी का कुछ समय तक सामना कर सकें। कई बार मिद लोगों को हराकर असुर राज्य से बाहर भगा दिया गया। किन्तु फिर भी मिद लोग बार बार असुर राज्य पर आक्रमण करते रहे। सन् ६०८ ई० पू० में मिदिया के राजा ने जिसका नाम उवाक्षतारा बताया जाता है तथा जो फ्रवरतिश का पुत्र था—बेबीलोन की सेनाओं को भी अपने साथ मिलाकर असुर राज्य पर पुन प्रबल आक्रमण किया तथा असुर राजधानी निनवाह को घेर लिया। कई भयकर युद्ध हुए तथा भयकर विनाश भी हुआ। दो वर्ष तक यह घेरा पड़ा रहा तथा युद्ध चलता रहा। परन्तु आगे अधिक दिन तक निनवाह न ठहर सका। असुर राजा सारो-कोस ने जब देखा कि शत्रु सेनायें राजधानी में घुस आई हैं तथा अपनी पराजय हो चुकी है तो उसने अपने शाही महल में आग लगवा दी और स्वयं भी उसी में जलकर भस्म हो गया। असुर राजधानी महान निनवाह नष्ट हो गई और उसके साथ ही असुर साम्राज्य का भी अ त हो गया। यह विनाश इतना पूर्ण था कि असुर राज्य फिर कभी सिर न उठा सका। दो शताब्दी बाद से लोग यह भी भूलने लगे कि यहाँ निनवाह नाम का कोई पुराना प्रसिद्ध नगर था। असुर लोग अपनी क्रूरताओं से तथा अपनी ही मूर्खताओं से विनाश को प्राप्त हुए, ऐसा इतिहासकारों का मत है। इस प्रकार

सातवीं शताब्दी ई० पू० का अन्त होते होते महान् असुर साम्राज्य का भी अन्त हो गया तथा इतिहास के पृष्ठों से उसका नाम सदा के लिये मिट गया।

असुर जाति की सभ्यता—

मेसोपोटामिया के उत्तरी भाग में असुरों का साम्राज्य ५-६ शताब्दियों तक रहा तथा यह एक शक्तिशाली साम्राज्य था, जिससे आस पास के लोग भयभीत रहते थे। असुरों की अपनी एक अलग सभ्यता भी जो बाबुल वालों से कई बातों में समानता रखते हुए भी कई बातों में भिन्नता रखती थी। उनमें कुछ अच्छी बातें थीं और कुछ बुरी भी।

क्रूरता—

असुर राजाओं की जो एक विशेषता सबसे अधिक स्पष्ट दिखाई देती है वह है उनकी क्रूरता तथा निर्दयता। वे जिस देश पर आक्रमण करते उस देश पर मानो घोर संकट ही उपस्थित हो जाता। युद्ध में भी वे लोग बड़ी निर्दयता दिखाते। युद्ध में मारे गये सैनिकों के अतिरिक्त वे जिन सैनिकों को जीवित पकड़ पाते उनकी बड़ी दुर्गति करते। प्राय उनके सिरों को काट कर स्तूप बनवाते, अथवा उनके हाथ, पैर नाक, कान कटवाकर अलग अलग ढेर लगवाते। उन्हें कैद करके अपने देश को ले जाना और उनसे मेहनत मजदूरी कराना तो इनकी अनुकम्पा थी ही। सैनिकों के अतिरिक्त नागरिकों को भी वे बड़ी क्रूरता से लूटते और मारते और उनके घरों को जलाते। जीते हुए नगरोंको वे पूर्णतया नष्ट भ्रष्ट कर डालते थे। यहाँ तक कि शत्रुओं के देव मन्दिरों को भी नष्ट भ्रष्ट कर डालते तथा मूर्तियों को अपमानित करते अथवा तोड़-फोड़ डालते थे।

असुर राजाओं ने अपनी इन विजयों तथा क्रूरताओं का उल्लेख प्राय अपने शिला लेखों में भी किया है। ऐसे ही एक शिलालेख में कहा गया है —युद्ध तथा भयंकर हत्याकाण्डके साथ मैंने आक्रमण करके नगरको ले लिया। तीन हजार योद्धाओं को मैंने तलवार के घाट उतारा, बहुतों को जीवित पकड़ लिया। इनमें से कुछ के मैंने हाथ-पैर कटवाये, दूसरों के नाक कान कटवाये और बहुतों की आँखें निकलवा लीं। नगरको मैंने ध्वस्त कर दिया और फिर उसे आग लगाकर विनष्ट कर दिया।

हम देख चुके हैं कि असुरी—निरपाल ने नेरी में बहुत से राजकों को कत्ल कराये उन सबके सिर कटवाये और उन सिरों का एक स्तूप सा बनाया गया यहाँ के राजकुमार की जीवित अवस्था में ही खाल उतार कर सार्वजनिक प्रदर्शन के लिये उसे एक दीवार पर टगवा दिया। युद्ध बन्दियों के नाक कान कटवाकर उनके ढेर लगवाने में उसे आनन्द आता था। अभिमानवर्धन राजा असुर बानीपाल ने तो क्रूरता की चरम सीमा तक

पहुँचा दिया था। उसने न जाने कितने नगरों और गांवों को उजाड़ा और उनमें आग लगवाई। इसी ने एक खल्दी राजकुमार का सिर कटवाकर दावत में अपने सामने टंगवाया और दावत के बीच उसे सब लोगों को दिखा दिखाकर आनन्द प्राप्त किया। इसी राजा की क्रूरता का एक और उदाहरण वहाँ के इतिहास में मिलता है। एक बड़ा शक्तिशाली अरब सरदार, जिसका नाम याहतेह था तथा जिसका राज्य असुर राज्य की सीमा से मिला हुआ था, असुर बानीपाल द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। असुर राजा ने कृपापूर्वक उसकी जान तो बख्श दी किन्तु अन्य प्रकार से उसे दुःखी तथा अपमानित करने में कोई कसर न छोड़ी। उसने बन्दी अरब सरदार के लड़के को अपने सामने बुलवाया और सरदार के सामने ही लड़के का सिर स्वयं अपने हाथ से उड़ा दिया। इसके बाद राजधानी निनवाह से लौटने पर उसने विजय के उपलक्ष में एक धार्मिक उत्सव का आयोजन बड़ी धूम धाम से किया। इस अवसर पर जो जुलूस निकाला गया उसमें असुर बानीपाल के रथ को उसका रथ खींचने के लिये एलाम के अन्तिम तीन राजाओं तथा उस अरब सरदार को जोता गया। ये राजा तथा सरदार लोग उसका रथ सड़कों पर खींचते हुए देव मन्दिर तक लाये जहाँ असुर राजा ने रथ से उतरकर समस्त सेना के सामने अपने हाथ उठाकर अपने ईश्वर 'असुर महान' को धन्यवाद समर्पित किया।

इन असुर राजाओं की एक विशेषता यह भी कि वे लोग अपने समस्त क्रूर कृत्य अपने ईश्वर 'असुर' के नाम पर ही करते थे। अरब सरदार के लड़के का सिर 'महान ईश्वर असुर तथा उनकी पत्नी की आज्ञा से' ही धड़से उड़ाया गया था। ऐसे ही अन्य लेखों में कहा गया है—'असुर' और बेल की आज्ञा से और अपने रक्षक देवताओं की आज्ञा से मैंने उन्हें (दासों की) कुचल डाला अथवा उनकी जीभें बाहर निकलवालीं अथवा उन्हें जीवित ही एक गहरे गड्ढे अथवा खाद में फेंक दिया अथवा उन्हें कुत्तों रीछों, गिद्धों आदि से खाने के लिये छोड़ दिया।

राजचिन्ह—

असुरों का राजचिन्ह था एक मानवी मूर्ति जिसके आधे निचले भाग में चिड़िया की पूँछ की तरह के पंख लगे होते थे और जो मूर्ति गोलाई में बन्द होती थी। कभी कभी मानवी मूर्ति के स्थान में केवल चिड़िया की पूँछ के साथ पंखों का घेरा होता था जो सम्भवतः सूर्य का प्रतीक था। भूमि की उर्वरा शक्ति की देवी इश्तर थी और उसकी प्रिय चिड़िया थी फाख्ता। असुरों की मुख्य देवी इश्तर ही थी। उसके दो बड़े मन्दिर निनवाह और अरबेला में थे जो असीरिया के सबसे प्रमुख मन्दिरों में थे। इस देवी के दो रूप थे—अरबेला में उसकी पूजा युद्ध तथा वीरता की देवी तथा विजयदात्री के

रूप में होती थी और निनवाह में उसकी पूजा प्रेम तथा प्रसन्नता की देवी के रूप में होती थी।

धर्म—

ऐसा माना जाता है कि असुरों का कोई अलग धर्म नहीं था। उन्होंने अपना धर्म अपनी पड़ोसी सामी जाति—असुर लोग स्वयं भी समेटिक अथवा सामी जाति के माने जाते हैं—बेबीलोन वालों से लिया किन्तु उन्होंने उस धर्म में एक बड़ा परिवर्तन किया। उन्होंने बाबुली लोगों के अनेक देवी देवताओं को तो स्वीकार किया, किन्तु इन सबके ऊपर अपने एक देवता को बिठाया। अपने इस देवता को ये लोग 'असुर' कहते थे। इसी देवता के नाम पर उन्होंने दजला नदी की घाटी में बसाए हुए अपनी बस्ती का भी नाम 'असुर' रखा। यही उनका मुख्य नगर था तथा इसी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। उनका राज्य बढ़ने पर उनके अधिकार में जो भूमि आई वह भी 'असुर' भूमि कहलाई जिसका उल्लेख वाइबिल में भी हुआ है। बाद में यूनानवालों ने इस भूमि का नाम 'असीरिया' कर दिया।

असुर लोग अपने मुख्य देव को जिसे वे 'असुर' कहते थे बहुत मानते थे। असुर राजाओं के झण्डे पर इसी देवता का चिह्न रहता था। अपनी समस्त विजयों, सफलताओं तथा देश-प्राप्ति का श्रेय वे असुर को ही देते थे। उनके विजय के लेख प्रायः इस प्रकार प्रारम्भ होते थे—मेरे स्वामी महान असुर ने शत्रुओं को पराजित किया, शत्रु लोग मेरे पास आये और चरणों को चूमा इत्यादि। उनके समस्त शिलालेखों में जहां अनेक देवताओं का स्मरण किया गया है—सर्वप्रथम असुर का ही नाम आता है। असुर देश के एक बलवान राजा तिगलाथ पिलेसर प्रथम ने जो एक महान विजेता भी था अपनी विजय-गाथा का उल्लेख इस प्रकार किया है—महान ईश्वर असुर जो समस्त देवताओं में प्रमुख है, जो राजदण्ड तथा छत्र देता है तथा राजा को स्थापित करता है, बेल जो समस्त देवताओं का पिता है तथा देशों का मालिक है, बुद्धिमान सिन जो तारों का मालिक है, महान रमन जो शत्रुओं के देश में बाढ़ भेजता है, बलवान निनेव जो शत्रुओं और कुकर्मियों का नाश करता है, देवी इस्तर जो (देवी देवताओं में) प्रथम जन्मा है और जिसने तिगलाथ पिलेसर को महानता प्रदान की है । इत्यादि। इस प्रकार समस्त देवी देवताओं में प्रथम नाम 'असुर' का ही रहता था जो सर्वोच्च देवता था।

कानून—

प्राचीन नगर असुर के खण्डहरों में कुछ मिट्टी पर ऐसी तीन तख्तियाँ प्राप्त हुई जिन पर कानून की ९० के लगभग धारायें खुदी हुई थीं। ये कानून की धारायें उस कानून ग्रन्थ (दण्ड-संहिता) से उद्धृत की गई थीं जो असुर देश में ११ वीं शताब्दी ई० पू० में

प्रचलित था। इससे यह प्रकट होता है कि असुरों के कानून उस पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए थे जो उससे कई शताब्दी पूर्व बेबीलोन में हम्मूराबी के कानून प्राप्त कर चुके थे। असीरिया में यद्यपि हम्मूराबी के कानूनों का अध्ययन किया जाता था, परन्तु असुर राजाओं ने अपने कानून स्वतन्त्र रूपसे बनाये। इसी कारण वे बाबुली कानूनों के समान पूर्ण नहीं थे।

असुरों के कानूनों में विवाह, विवाह विच्छेद, सम्पत्ति के उत्तराधिकार आदि अनेक विषयों का समावेश किया गया है। ऋण के कारण ऋणदाता को यह अधिकार दिया गया था कि वह ऋण ग्रहीता अथवा उसके किसी बच्चे को प्रतिभूति (जमानत) के रूपमें अपने यहाँ रख सकता था। न्याय प्राय स्थानीय अधिकारियों के द्वारा किया जाता था तथा राजा समस्त न्याय का स्रोत समझा जाता था, किन्तु असीरिया के कानूनमें लोगों को न्याय का परिशोध व्यक्तिगत रूपसे भी कर लेने का अधिकार था। परिवारके पिता को परिवारके सदस्योंके विरुद्ध सबप्रकार का अनुशासन-कार्य करने का अधिकार प्राप्त था—चाहे वह कार्य कड़से कड़ा ही क्यों न हो। असुर कानूनमें क्रूरता पूर्ण दण्डकी भी व्यवस्था थी तथा दूसरे के शरीरको घायल तथा क्षत विक्षत करने की आज्ञा थी। मनुष्यको जलमें डुबाकर अपराधी अथवा निरपराधी होने की जाँच करने की विधि भी बाबुल तथा असुर राज्यों में प्रचलित थी। कथित अपराधी को किसी भरी हुई नदी में फेंक दिया जाता था—यदि वह डूब जाता तो समझा जाता था कि वह अपराधी था और उसे अपराध का दण्ड मिल गया। तथा यदि वह किसी प्रकार तैर कर या उतराता हुआ किनारे पर आ जाता था तो समझा जाता था कि वह निरपराध है तथा उसे छोड़ दिया जाता था। अवश्य ही ये कानून सभ्यता की पिछड़ी हुई अवस्था को प्रगट करते हैं। कानून के मामले में बेबीलोनिया देश असीरिया से आगे था।

साहित्य—

बाबुल का अंतिम राजा नेबूचाद नेजार तथा असुरों का अंतिम बड़ा राजा असुर बानीपाल पुस्तकों के बड़े शौकिन थे और उन्होंने साहित्य तथा इतिहास की पुस्तकों का एक बड़ा संग्रह अपने यहाँ इकट्ठा कर लिया था। वे पुस्तकें कागज पर छपी हुई अथवा लिखी हुई नहीं थीं बल्कि मिट्टी की पट्टियों अथवा ईंटों पर लिखी जाती थीं और फिर उन्हें पका लिया जाता था। इसका पता तब लगा जब असीरिया के कई पुराने शहरों की खुदाई होने पर उनके खण्डहरों में बहुत सी ईंटें ऐसी मिलीं जिन पर अक्षरों की लिखावट थी। तभी यह ज्ञान हुआ कि ये ईंटें अथवा पट्टियाँ पुस्तकों के पन्ने हैं जिन्हें क्रम से जमाने पर पुस्तकें बन जाती हैं। इन पुराने शहरों पर यद्यपि कई आक्रमण हुए, कई बार उन्हें नष्ट भ्रष्ट किया गया परन्तु ये आक्रान्ता लोग उन पट्टियों को व्यर्थ समझकर—सम्भवत उनकी लिखावट उनकी समझमें न आने के कारण वैसी ही छोड़

गये तथा उनका उद्धार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में आधुनिक यूरोपीय पुरातत्वविदों द्वारा किया गया। तभी यह प्रकट हुआ कि ये असुर लोग स्थापत्य तथा मूर्तिकला के तो प्रेमी थे ही, इसके अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, कानून, ज्योतिष आदि विषयों के भी प्रेमी थे तथा उनका एक भण्डार रखते थे।

असीरिया के खण्डहरों की खोज में राजा असुर बानीपाल के समय के दो पुस्तकालयों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन्हें 'पुस्तकालय' नाम इसलिये दिया गया है कि इनमें अनेक पुस्तकें रखी गई थीं जो सभी मिट्टी की पट्टियों पर लिखी गई थीं। इन्हीं तख्तियों अथवा पट्टों पर विभिन्न विषय लिखे जाते थे और फिर उन पट्टियों का संग्रह कर बड़े बर्तनों में रख लिया जाता था। ज्ञात होता है कि इस प्रकार पट्टियों पर पुस्तकें लिखना काफी समय पूर्व प्रचलित हो गया था किन्तु इन पुस्तकों का संग्रह एक पुस्तकालय के रूप में रखने का कार्य असुर बानीपाल ने ही प्रारम्भ किया। उसके समय के जो दो पुस्तकालय मिले हैं उनमें से एक एक मन्दिर में था तथा दूसरा स्वयं राजा के महल में था। इससे उसका साहित्य प्रेम स्पष्ट होता है।

मूर्तिकला —

असुर सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट रूप उनकी मूर्तिकला में दिखाई देता है। असुर राजाओं ने अनेक सुन्दर महल बनवाये तथा उन्हें पत्थर की मनुष्य तथा पशुओं की अनेक प्रकार की सुन्दर मूर्तियों से सजाया। प्राचीन सभ्यता की खोज करने वाले इतिहासकारों तथा पुरातत्वशास्त्रियों को जब असुरों के विशाल खण्डहरों का पता लगा तो वे उनकी भव्यता, उनकी कलापूर्ण सजावट, वेशभूषा, वस्त्र पहिनने में राजाओं की रुचि, उनका सैनिक साज सामान तथा अन्य अनेक वस्तुओं को देखकर आश्चर्य चकित रह गये। यह देखकर कि उस प्राचीन समय के असुर राजाओं ने इन बातों में कितनी उन्नति कर ली थी। इन सब वस्तुओं में कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे अधिक आकर्षक की वस्तु इन राजाओं के भवन की दीवार शिल्प-कला है जिसमें राजा द्वारा किये गये शिकार इत्यादि के दृश्य पत्थर में अंकित किये गये हैं। शिकार के लिये लेकर खड़े हुए शिकारी कुत्तों की मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। ये कुत्ते बिल्कुल सजीव तथा भौंकते हुए से जान पड़ते हैं। ज्ञात पड़ता है असुर राजा कुत्तों के बड़े प्रेमी थे। अतः उन्होंने कुत्तों की मूर्तियाँ विशेष रूप से बनवाईं अथवा शिल्पकारों ने ऐसी मूर्तियाँ बनाकर उन्हें भेंट कीं। इस प्रकार शेर के शिकार की भी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ हैं और उनमें विभिन्न स्थितियों में शेरों को बड़े सुन्दर रूप से अंकित किया गया है। इनमें से कुछ मूर्तियों को सर्वश्रेष्ठ कला के सुन्दरतम नमूनों के रूप में लिया जाता है। शिकार में घायल एक प्राण त्यागती हुई शेरनी की मूर्ति भी बड़ी सुन्दर है। इसमें दिखाया गया है कि बाण के लगने से शेरनी

की पीठ टूट गई है पिछला भाग निष्क्रिय हो गया है। वह अपने अगले पंजों से कष्टपूर्वक उठने का तथा अपने शत्रु को चुनौती देती हुई अंतिम दहाड़ मारने का प्रयत्न कर रही है। कला और सौंदर्य का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले कारीगरों द्वारा ही ऐसी कला का सृजन हो सकता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि असुर राजा कलाकारों तथा शिल्पकारों को शिकार में अपने साथ ले जाते होंगे।

असुर राज्य में भवनों के निर्माण का आरम्भ देवताओं के मंदिर से हुआ। ये मंदिर सभी देवताओं की आराधना के हेतु बनाये गये थे। निनवाह नगर के मार्गों तथा गलियों में चिकनी सड़कें तथा पक्की बंदी होने के चिह्न मिले हैं। इस शहर की चहारदीवारी में आठ फाटक (प्रवेश द्वार) थे जिनके नाम मुख्य देवताओं के नाम पर रखे गये थे। प्रत्येक प्रवेश द्वार पर दोनों ओर दो बैलों की पत्थर की बड़ी सुंदर मूर्तियाँ बनी हुई थीं। ये बैल बड़े ऊँचे तथा पखदार बनाये गये थे—मानों वे उन फाटकों की पूर्ण रक्षा करने में सब प्रकार समर्थ हों।

सारगौन द्वितीय के महल के जो अवशेष मिले हैं उनसे भी ज्ञात होता है कि महल में प्रत्येक छोटी से छोटी बात में सुंदरता का ध्यान रखा गया था। महल में प्रत्येक वस्तु में ही अद्भुत कारीगरी दिखायी देती है। महल की बाहरी दीवारों पर विशालकाय बैलों के ७४ जोड़े पत्थरों में उभारकर बनाये गये हैं जिनकी सुंदरता दर्शनीय है। महल के विशालकाय कमरों के अन्दर की दीवारें लगभग दो मील की लम्बाई में सुंदर शिल्पकारी से सज्जित हैं।

इस प्रकार असुर राज्य में शिल्प, स्थापत्य, चित्रकला आदि कलाओं की अच्छी उन्नति हुई तथा इसी कारण उनकी सभ्यता—उनमें क्रूरता आदि कुछ दुर्गुणों के रहते हुए भी अन्य समकालीन देशों से काफी ऊँची समझी जाती है।

असुर राज्य का भारत से सम्बन्ध—

असुर राज्य में 'असुर' शब्द की प्रधानता स्पष्ट है। ये लोग अपने को 'असुर' कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे तथा अनेक राजाओं के नामों में भी प्रायः 'असुर' शब्द जोड़ते थे यथा असुर-उबल्लित, असुरना जिरपाल, असुर बानीपाल आदि। उनका सब प्रधान देवता तो 'असुर' था ही तथा युद्धों में सेना के आगे 'असुर' का झण्डा रहता था। इन्होंने अपनी सबसे पहली बस्ती का नाम भी 'असुर' रखा था तथा राज्य बढ़ जाने पर भी 'असुर' में ही अपनी राजधानी रखी। इसी कारण उनके विशाल राज्य का नाम भी 'असुर' ही प्रसिद्ध हुआ। बाद में यूनानियों ने अपनी शैली के अनुसार 'असुर' को 'असीरिया' बना दिया।

प्रश्न यह है कि यह असुर शब्द कहाँ से आया? असुर देश के अतिरिक्त दो ही अन्य देश ऐसे हैं जहाँ के प्राचीन साहित्य में 'असुर' शब्द मिलता है। ये हैं 'भारत' तथा 'ईरान'। भारत के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में जो संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है 'असुर' शब्द अनेक स्थानों पर आया है और प्रारम्भ में उसका अर्थ बलवान, पराक्रमी आदि होता था, बाद में यह अर्थ बदल गया। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में प्रारम्भ में 'असुर' शब्द का प्रयोग आर्यों के देवता अथवा ईश्वर के अर्थ में ही होता था।[२]

इसी प्रकार 'असुर' शब्द देवों के लिये भी प्रयुक्त होता था, परन्तु जब आर्यों की दो मुख्य जातियों—देवों और असुरों में वैमनस्य अधिक बढ़ा तब यह शब्द देवों के शत्रुओं के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा। यह भी सर्वविदित है कि ईरान में प्राचीन लोगों में—जिन्हें सभी विद्वान आर्यों की एक शाखा मानते हैं 'असुर' शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था, यहाँ तक कि वे अपने सर्वोच्च देवता अथवा ईश्वर को भी 'असुर महत्' (अहुर मज्द) के नाम से पुकारते थे। ईरानी आर्यों को समस्त यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान भारतीय आर्यों के भाई बन्धु मानते हैं। इस बात में अवश्य मतभेद है कि ये दो विभाग आर्यों के किस प्रकार हुए। जैसा कि पूर्व में अनेक बार बताया गया है तर्क पूर्ण अनुमान यही है कि भारत में आर्यों की दो शाखाओं में अनेक कारणों से मतभेद उत्पन्न हुए। एक शाखा अपनेको 'देव' कहती थी तथा दूसरी 'असुर'। यह मतभेद इतना बढ़ा कि शीघ्र ही वह 'देवासुर संग्राम' में परिवर्तित हो गया तथा यह देवासुर संग्राम दीर्घकाल तक चलता रहा जैसा कि भारत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों से प्रकट होता है। इस संग्राम के फलस्वरूप आर्यों के अनेक दल जो असुरोपासक थे भारत से बाहर जाने के लिये बाध्य हुए तथा ईरान में जाकर बस गये और वहाँ उन्होंने अपने पुरानी उपासना पद्धति को जारी रखा तथा अपने ईश्वर को वे 'असुर' कहते रहे। इन्हीं आर्यों की कुछ शाखायें —सम्भवतः उनमें भी आपसमें कुछ मतभेद या झगड़े उत्पन्न हो गये हों—ईरानसे और

१ एक विद्वान ने गणना करके बताया है कि ऋग्वेद में 'असुर' शब्द १०५ बार आया है। इनमें से ९० बार तो उसका प्रयोग बलवान, प्राणवान, पराक्रमी तथा ऐसे ही अच्छे अर्थों में किया गया है। केवल १५ बार उसका अर्थ होता है—देवों के शत्रु। इससे यह प्रकट होता है कि 'असुर' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में किस अर्थ में किया जाता था यह बाद में सम्भवतः देवों और असुरों में संघर्ष तथा शत्रुता बढ़ जाने के कारण बदल गया तथा यह इस अर्थ में देवों के शत्रुओं के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा।

२ *An alternative designation for deity in Rigveda is Asura—Encyclopaedia Brittanica Vol. 23 under Asura*

अधिक पश्चिम की ओर गईं तथा वहाँ बस गई । ईरान से पश्चिमोत्तर में बसे हुए मित लोगों को—जिनका देश मिदिया कहलाता है तथा जिन्होंने असुर राज्य को नष्ट करने म योग दिया सभी यूरोपीय विद्वान इरानी आर्यों की ही एक शाखा मानते हैं। इसी प्रकार ल्घु एशिया व मितन्नी आदि स्थानों म बसे हुए लोगों को भी—जिनका लेख बोगज कोइ में प्राप्त हुआ—इतिहासकारों ने असंदिग्ध रूपसे आर्य जातिका स्वीकार किया है। उन्होंने यह मान लिया है कि भारत से आये—उनके कुछ दल—द्वितीय शताब्दी अथवा तृतीय शताब्दी ई० पू में भारत से चलकर मेसोपोटामिया तथा शाम (सीरिया) तक पहुँचे थे तथा इन्हीं लोगों ने खुर्री और मितन्नी को अपना केन्द्रस्थल बनाया था 1 उनका यह भी अनुमान है कि इन लोगों में ईरान के लोग भी शामिल हुए होंगे।2

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत से अथवा ईरान से आर्यों की कुछ जातियाँ पश्चिम की ओर गई और भिन्न भिन्न स्थानों पर बस गईं। इन्हीं में से एक या अधिक दल उन लोगों के रहे होंगे जिन्होंने 'असुर' राज्य की स्थापना की। असीरिया की खोज करनेवाले विद्वानों का कथन है—जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ म बताया गया है कि २७०० ई० पू० से लगभग दजला नदी की उत्तरी घाटी में एक ऐसी जाति आकर बसी थी जो अपने को 'असुर' कहती थी तथा जिन्होंने अपनी प्रारम्भिक बस्ती का नाम भी 'असुर' रखा। इससे भी स्पष्ट है कि असुर लोग मूलत. असीरिया के निवासी नहीं थे बल्कि किसी दूसरे स्थान से आकर वहां बसे थे। यह स्थान भारत अथवा ईरान ही हो सकता है जहां से वे लोग यहाँ पहुँचे।

इतिहास के अनेक विद्वानों ने भी—जो लोग आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया मानते हैं यह स्वीकार किया है कि भारत अथवा ईरान से ही असुर लोग असीरिया में जाकर बस थे। श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि जो प्राक् हिन्दी-यूरोपीय जाति नव पाषाण युग में—ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी म एशिया से चलकर यूरोप में पहुँची थी, उसी के बाद म दो विभाग हो गये थे जो आर्य और शक कहलाये। फिर इन दोनों जातियों में भी संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप आर्यों का एक भाग

---

1 *It is to be supposed that in the course of their wandering in India the earliest Indians or at least a part of them touched Mesopotamia and Syria where Khurri Mitanni kingdom was their centre in the 2nd and even in the 3rd millennium B C—Encyclopedia Brittanica Vol XI Hittites*

2 *The Iranians may have also taken part in immigration of Aryan stock in the Near Asia Encyclopedia Brittanica Vol XI Aryans in Syria and Mesopotamia*

कास्पियन सागर के पश्चिम में काकेशश पर्वतमाला में होता हुआ लघु एशिया (या तुर्की) और उत्तरी ईरान की तरफ बढ़ता हुआ असीरिया व मिस्र देश की सीमा पर पहुँचा था।१ परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि यही इतिहास प्रसिद्ध असुर जाति बनी। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का मत है कि ईसवी सन् से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व बाहर से जो आर्य लोग भारत में आये थे तथा जो अपने को 'ऐल' कहते थे उन्हीं की एक शाखा गान्धार देश से पश्चिम और उत्तर की तरफ हिन्दूकुश और उसके पार के प्रदेशों में चली गयी थी।२ आचार्य नरेन्द्र देव का भी मत है कि सप्तसिन्धु प्रदेश से निकाले गये इन असुरों के निष्कासन का कारण धार्मिक मतभेद तथा आचार भेद ही प्रतीत होता है। पश्चिम की ओर जाकर वे वहाँ की तूरानी जाति में मिल गये। यहाँ तक कि उनसे रक्त सम्बन्ध भी कर लिया।३ तात्पर्य भारतीय विद्वान भी यह स्वीकार करते हैं कि आर्यों की एक शाखा पश्चिम की ओर गई तथा ईरान और असीरिया तक पहुँची थी।

इस मत का समर्थन पुराणों में भी मिलता है। पुराणों में भी 'देवासुर संग्राम' का वर्णन है (यथा मत्स्य पुराण अध्याय १४६ तथा १७५) तथा त्रिपुरासुर, तारकासुर आदि अनेक 'असुर' वीरों के नाम गिनाये गये हैं। पुराणों में देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व आदि सभी जातियों की उत्पत्ति दक्ष प्रजापति से बताई गई है और इस प्रकार असुरों को भी देवों का भाई बन्धु बताया गया है। पुराणों में ऐसे सकेत भी कई स्थानों पर मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि प्राचीनकाल में भारत की बहुत-सी जातियाँ विदेशों में चली गई थीं तथा वे वहीं बस गई। मत्स्य पुराण ५ में कहा गया है कि नारदजी की बातें सुनकर उन लोगों (दक्ष के हर्यश्व नामक पुत्रों) ने विभिन्न दिशाओं की ओर प्रस्थान किया और जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाने के पश्चात् फिर नहीं लौटतीं, वे आज तक उन अपने अपने स्थानों से नहीं लौटे। आगे कहा गया है कि दक्ष प्रजापति ने अपने हर्यश्व नामक पुत्रों के इस प्रकार अदृश्य हो जाने पर शबल नामक पुत्रों को उत्पन्न किया और इन विख्यात पुत्रों ने भी अपने बड़े भाइयों के मार्ग से यात्रा की और उनकी भी अपने ज्येष्ठ भाइयों की सी ही गति हुई अर्थात् वे भी वापिस नहीं लौटे। आगे उसी पुराण के अध्याय ४८ में बताया गया है कि द्रुह्यु के वंश के सौ पुत्रों ने भी इसी प्रकार यात्रा की और वे सब के सब म्लेच्छ राष्ट्रों के अधीश्वर हुए।

---

१ मध्य एशिया का इतिहास—खण्ड १ पृष्ठ ५५८-५५९

२ भारत भूमि और उसके निवासी—पृष्ठ १४०-१४२

३ ऋग्वेदालोचन पृष्ठ ६१ ६२

असुर लोग भी ऐसे ही लोगों मे जान पड़ते हैं जो भारत से अथवा इरान से पश्चिम की ओर गये और जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाने के पश्चात् फिर नहीं लौटतीं वैसे भारत नहीं लौटे बल्कि वहीं के लोगों में घुल मिल गये। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत से जो आर्य जातियाँ पश्चिम के देशों में गइ वे या तो उन देशों के साथ युद्धों में मारी गइ या फिर उन्ही देशों में बस कर उन लोगों में घुल मिल गइ और अपना अस्तित्व खो बैठीं।

असीरिया के असुर लोग यूरोपीय इतिहासकारों के कथनानुसार सामी जाति के थे तथा सामी भाषा बोलते थे। इसका कारण यह हो सकता है कि दीर्घ काल तक अपने भाई बन्धुओं से अलग हो जाने तथा एक सुदूर देशमें जा बसने के कारण उन्होंने धीरे धीरे वहीं की भाषा तथा सभ्यता को अपना लिया हो तथा इस प्रकार वे सामी बन गये हों। उनके नामों—असुर बानीपाल, असुर उबल्लित आदि में आर्य तथा सामी दोनों ही भाषाओं की झलक मिलती है। किन्तु सामी बन जाने पर भी उन्होंने अपना प्राचीन 'असुर' नाम न छोड़ा तथा 'असुर' को ही अपना ईश्वर मानते रहे।

श्री भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि असुरों से लड़नेवाले मध्य एशिया के हत्ती मितन्नी आदि थे जो सम्भवत द्रुह्यु राजाओं के वंशधर थे। सम्भव है असुर भी बाद में आने वाले आर्यों के ही एक दल हों और भूमि के लिये उनमें परस्पर समय समय पर युद्ध होता रहा हो३। इस प्रकार अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि जब देवों तथा असुरों—आर्यों की ही दो शाखाओं में मतभेद अधिक बढ़ गया तथा दोनों में 'संग्राम' अथवा युद्ध होने लगे और पराजय असुरों की होने लगी तब ये असुर भारत छोड़ने के लिये बाध्य हुए हों और ये पहले गांधार होते हुए ईरान पहुँचे तथा फिर किसी कारण से वहाँ से भी आगे बढ़ गये और ईरान के पश्चिम की ओर के देशों में जा बसे। सम्भवत इन्हीं लोगों की कोई टोली जागरोस पर्वत श्रेणी के नीचे बस गई और ये लोग अपने को आर्यों की अपेक्षा 'असुर' कहलाना अधिक पसन्द करने लगे। ये लोग उन लोगों से भिन्न थे जो इससे बहुत काल पूर्व भारत से जाकर सुमेर में पहुँचे थे तथा जिन्होंने वहाँ पर अपनी बस्तियाँ स्थापित कर सुमेरी सभ्यता का विस्तार किया था।

देव तथा असुरों में भारत में संघर्ष किन कारणों से बढ़ा इस विषय पर भारतीय सभ्यता वाले अध्याय में अधिक विचार किया गया है। संक्षेप में ऐसा जान पड़ता है कि

---

१ वायु पुराण अध्याय ६५—सृष्टि विस्तार वर्णन,

२ मत्स्य पुराण आदि सर्ग ५ वा अध्याय २—११

३ प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय,

प्रारम्भ में आर्य लोगों में 'असुर' शब्द अच्छे अर्थों में प्रयुक्त होता था तथा इन्द्रादि देवताओं को भी असुर कहा जाता था, किन्तु बाद में यह अर्थ बदल गया और इसी परिवर्तन पर कुछ मतभेद भी हुआ। एक दल 'असुर' शब्द हेय अर्थमें प्रयुक्त करने लगा, दूसरा उसे पुराने अच्छे अर्थ में ही प्रयुक्त करता रहा तथा उसी नाम पर गर्व करता रहा। मतभेद के अन्य कारण भी रहे होंगे यथा आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया जाय अथवा भौतिक ऐश्वर्य को, उपासना विधि में किन किन बातों को महत्व दिया जाय, किस को प्रधान देवता माना जाय आदि। यह झगड़ा बढ़ता गया और अन्त में असुर उपासकों को पराजित होना पड़ा तथा अपना देश भारत छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा।

ये लोग भारत से इरान पहुँचे तथा फिर इरानसे भी आगे बढ़ गये। इन्होंने असुर देशकी स्थापना की जिसने कालान्तर में एक साम्राज्यका रूप ग्रहण किया जैसा कि भारत से बाहर गई हुई अन्य जातियों ने भी किया।

अध्याय ५

इजिप्त अथवा मिस्र को प्राचीन सभ्यता

आज अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर पूर्व में विशाल नील नदी की घाटी में बसा हुआ मिस्र देश संसार के अति प्राचीन देशों में है तथा उसकी सभ्यता भी अति प्राचीन है। भौगोलिक दृष्टि से इस देश के दो भाग किये जाते हैं—दक्षिणी मिस्र जो उपजाऊ भूमि का एक पतला हिस्सा है तथा जो लम्बाई में ५०० मील है किन्तु चौड़ाई में औसत केवल ८ मील है और उत्तरी मिस्र जो नील नदी के मुहानों का चौड़ा भाग है। नील नदी तीन मुहानों से भूमध्यसागर में मिलती है तथा इन मुहानों पर डेल्टा बनाती है। नील नदी वास्तव में संसारकी सबसे बड़ी नदी है, क्योंकि उसकी दोनों धाराओं—श्वेत नील और नीली नील—की सम्मिलित लम्बाई ४००० मील से भी अधिक है। इसी नील नदी की कृपा से मिस्र का देश संसार में सबसे अधिक उपजाऊ समझा जाता है। यहाँ की भूमि वर्ष में तीन फसलें दे सकती है।

मिस्र एक ऐसा देश माना जाता है जहाँ सभ्यता बहुत अधिक प्राचीन काल में विकास की उच्च स्थिति पर पहुँच चुकी थी। जहाँ कुछ विद्वान उर तथा अन्य स्थानों की खुदाई में प्राप्त प्राचीन सामग्री के आधार पर मेसोपोटामियाँ (सुमेर तथा बेबीलोन) की सभ्यता को आदि भूमि मानते हैं वहाँ कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि सबसे पहले सभ्यता का आरम्भ मिस्र में हुआ। उनका कथन है कि मिस्र की सभ्यता मेसोपोटामियाँ की सभ्यता से भी अधिक पुरानी है तथा मेसोपोटामियाँ के लोगों ने बहुत सी बातें मिस्रसे ही सीखी थीं। ऐसे इतिहासकारोंमें श्री डब्ल्यू जे० पैरी मुख्य हैं। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संसार की आदि सभ्यता मिस्र की ही है। यही संसार की अन्य सभ्यताओं का केन्द्र स्थल है अर्थात् यहीं से सभ्यता एक ओर जहाँ पश्चिम में यूनान और रोम होती हुई समस्त यूरोप में फैली वहाँ दूसरी ओर मेसोपोटामियाँ, ईरान, भारत, हिन्देशिया आदि होती हुई अमेरिका तक पहुँची।[1]

श्री पेरी का कथन है कि कृषि का आरम्भ सबसे पहले मिस्रमें ही हुआ क्योंकि नील नदी में प्रति वर्ष ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जोर की बाढ़ आती है तथा जब यह बाढ़ कुछ हफ्तों में हट जाती है तब उस नम तथा कीचड़ युक्त भूमि में जो कुछ अनाज आदि

---

1 *The Growth of Civilization W J Perry p 48-49*



मिस्र का साम्राज्य
१४५० ई. पू.

डाल दिया जाता है वह सूर्य की प्राकृतिक गर्मी पाकर इस प्रकार उग आता है जैसे कोई बाजीगर देखते देखतेही पेड़ों को उगा देता है। यह प्रक्रिया वहाँ प्रति वर्ष दुहराई जाती है। यहीं से मनुष्यने नदी के पानी से भूमि की सिंचाई करके अन्न उपजाने की कला सीखी होगी। श्री पेरीने यह भी मत प्रकट किया है कि मिस्र के लोगों ने ही ऊनसे वस्त्र बनाने, धातुओं से हथियार औजार बनाने और सोने चाँदीकी वस्तुएँ बनाने का काम आरम्भ किया। उन्होंने भाषा तथा लिपि का, तिथि-पत्र तथा सौर वर्ष का, धर्म तथा शासन तन्त्र का आविष्कार किया। अर्थात् प्रति वर्ष निश्चित समय पर नील में आनेवाली बाढ़ से वर्षों का माप करना सीखकर बाद में सूर्य की गति-विधियों का अध्ययन कर उन्होंने सौर वर्ष को स्वीकार किया। उन्हीं ने समुद्र पर चलने वाला सबसे पहला जहाज बनाया, उन्हीं ने इमारत बनाने का काम आरम्भ किया। कुर्सी, चारपाई लैम्प आदि अनेक प्रकार की वस्तुएं तैयार कीं। तात्पर्य सभ्यता की विभिन्न दिशाओं में होनेवाली प्रगति का जन्म मिस्र देश में ही हुआ।

किन्तु अन्य इतिहासकारों ने इस दावेको अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि सुमेरी सभ्यता मिस्र की सभ्यता से निश्चित रूप से अधिक प्राचीन हो चुकी थी। उदाहरणार्थ मिस्र के प्राचीन भवनों की ईंटें तथा इनों की दीवारें सुमेरी शैली की ईंटों की नकल मात्र दिखाई देती हैं। केवल इतना अन्तर है कि मिस्र की ईंटें अधिकतर आयताकार हैं जबकि सुमेरी ईंटें प्रायः वर्गाकार होती थीं। मिस्र की बेलनाकार मुहरें भी सुमेरी ढंग की दिखाई देती हैं और इन मुहरों की आदि भूमि मेसोपोटामियां ही है, मिस्र नहीं।

फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन के अनुकूल प्राकृतिक स्थितियों के कारण मिस्र में भी बाबुल तथा सुमेर आदि देशों के समान मनुष्य ने घर बनाकर रहना शुरू किया होगा तथा यहाँ भी अन्य देशों के समान ही कृषि, हथियार निर्माण, भाषा, धर्म, तिथि पत्र आदि का आरम्भ हुआ होगा।

श्रेय जाता है पुरातत्वविदों को—

प्राचीन मिस्र के सम्बन्ध में हमें जो विस्तृत जानकारी आज उपलब्ध है, उसका श्रेय सुमेर तथा बाबुल के समान पुरातत्व शास्त्रियों तथा इतिहास के अन्वेषकों को ही है। वास्तव में अन्वेषकों तथा पुरातत्व शास्त्रियों को सबसे अधिक सफलता मिस्र में प्राप्त हुई क्योंकि इन्हीं अन्वेषणों के कारण आज प्राचीन मिस्र के जनजीवन की और वहाँ की सभ्यता की जानकारी हमें स्पष्ट रूप से होती है। इन खोजों के कारण अनेक नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है। अनेक प्राचीन मान्यताएँ असत्य सिद्ध हुई हैं तथा अनेक मान्यताओं में परिवर्तन करना पड़ा है। सुमेर तथा बाबुल में इतिहास के

लेखों, नाम की मुहरों आदि से प्राप्त हुए थे, मिश्र में वे आधार कुछ प्राचीन समाधियों (कबरों), तथा स्तूपों से ही प्राप्त हो गये। पुरानी वस्तुएँ इतने दीर्घ काल तक यहाँ सुरक्षित रूप में रह सकीं इसका बहुत कुछ श्रेय वहाँ की गर्म तथा सूखी जलवायु को भी है, जिसमें किसी वस्तु को बहुत समय तक विकृत तथा नष्ट होने से बचाने की शक्ति है। उक्त पुरातत्व सम्बन्धी खोजों में यूरोप के प्राय सभी देशों—जर्मनी, इटली, रूस आदि तथा अमेरिका ने भी भाग लिया है। इन लोगों ने अनेक स्थानों पर उत्खनन करके बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की।

कुछ पुराने लेखकों की कृतियों से भी मिश्र का इतिहास तैयार करने में यूरोप के लेखकों को बड़ी सहायता मिली। यूनानी इतिहासकार हैरोडोटस (हैरोदात) ने मिश्र का बहुत सा वर्णन अपने समय तक का (पाचवीं शताब्दी ई० पू० तक का) लिखा है जो बड़ा बहुमूल्य समझा जाता है फिर मिस्र के ही एक पुजारी 'मोनेथो' का योग भी महत्वपूर्ण रहा है। उसी ने मिश्र के राजवंशों की नामावलियाँ तैयार की तथा उन्हें क्रमबद्ध किया। इन वंशावलियों तथा उनमें दिये हुए नामों ने कालों या अन्य प्रमाणों से भी समर्थन प्राप्त हुआ है। अत इतिहासकार उन्हें प्रामाणिक मानते हैं तथा मोनेथो के आधार पर ही राजवंशों के क्रम को स्वीकार करते हैं।

इन खोजों से पता चलता है कि ईसा से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व भी मिश्र में नव पाषाण युग के लोग निवास करते थे। वे लोग पत्थर के औजारों के अतिरिक्त मिट्टी के बर्तन भी बनाते थे और उन पर लाल तथा काली पालिश करते थे। इस काल में भी वे लोग केवल शिकार करने वाले तथा इधर उधर से अन्न संग्रह करनेवाले न थे बल्कि खेती करने लगे थे और सामूहिक रूप से गावों में बसना सीख गये थे। वे धातुओं की वस्तुएँ भी बनाने लगे थे और वास्तव में धातुओं से काम लेना ही सभ्यता का आरम्भ है। नील नदी की घाटी में कच्चा ताम्बा पाया जाता था और इसी ताम्बे से ये लोग हथियार औजार तथा अन्य वस्तुएँ बनाने लगे थे। वे लोग कई प्रकार की कलापूर्ण तथा सौन्दर्य वर्द्धनकी वस्तुएँ भी बनाने लगे थे। इस प्रकार ४ हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग ही यहाँ के लोग बर्बरता के युग से निकलकर सभ्यता के युग में प्रवेश कर चुके थे।

ऐसा भी पता लगता है कि इन लोगों ने वहाँ कई छोटे छोटे राज्य भी स्थापित कर लिये थे। बाद में इन छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर दो बड़े राज्य बने—एक नील नदी के डेल्टा में तथा दूसरा दक्षिणी भाग में। ये उत्तरी तथा दक्षिणी राज्य कहलाते थे। यह काल राजवंश पूर्व का काल कहलाता है।

इतिहास—

मिश्र के इतिहास काल का आरम्भ प्रथम राजवंश की स्थापना के समय से माना जाता है। इस प्रथम राजवंश की स्थापना का काल ३४०० ई० पू० के लगभग अनुमान

किया गया है। कोई कोई लेखक इस काल को ४५०० ई० पू० मानते हैं।[1] किन्तु इनके लिये कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं है। इस प्रथम राजवंश के ८ राजाओं का पता अबीदोस नामक स्थान की कबरों से तथा अन्य प्राचीन स्मारकों से लगा है। इस वंश के संस्थापक का नाम 'मनेस' (मैन) माना जाता है। यह दक्षिणी मिश्र का राजा था परन्तु उसने उत्तरी भाग को भी जीतकर उस पर अधिकार कर लिया था और फिर उसने दोनों राज्यों को संयुक्त कर एक बड़ा राज्य बनाया। इस प्रकार वह सम्पूर्ण मिश्र देश का राजा बन गया। इसी कारण उसे मिश्र का प्रथम राजा माना जाता है तथा उसका वंश प्रथम राजवंश कहलाता है। यह मनेस पहले केवल दन्त कथा का व्यक्ति माना जाता था परन्तु हाल में उसकी कब्र मिल गई बताई जाती है जिससे वह ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाने लगा है।

मिश्र राज्य की राजधानी प्रारम्भ में थिन स्थान पर थी जो नील घाटी के मध्य में एक पुराना शहर था। बाद में चतुर्थ राजवंश के काल में (२६०० ई० पू० के लगभग) यह राजधानी मेम्फिस स्थान पर स्थापित हुई जो आज के काहिरा नगर के समीप डेल्टा में स्थित था। मेम्फिस में राजधानी लगभग ७ शताब्दियों तक २६०० से २९०० ई०पू० तक रही।

प्रथम राजवंश के पश्चात् द्वितीय, तृतीय तथा अन्य राजवंश हुए। इन वंशों के राजाओं को पुरानी बाइबल में 'फराओह' अथवा 'फरोहा' कहा गया है। इन्हें 'फरहून' भी कहते हैं। फरोहा का शाब्दिक अर्थ है 'महान घर'। मिश्र के प्रायः सभी प्राचीन राजाओं को जिन्होंने बड़े बड़े पिरामिड अथवा स्तूप बनवाये यही पदवी थी जो बाद के काल तक भी चलती रही। इस प्रकार इन फरहूनों ने लगभग तीन हजार वर्ष तक मिश्र पर राज्य किया। इनमें से तृतीय राजवंश के समय से छठवें राजवंश की स्थापना तक का काल मिश्र में पिरामिडों का काल माना जाता है।

पंचम राजवंश के समय में मिश्र के राजा लोग अपने को 'सूर्य का पुत्र' भी कहने लगे थे।

इस प्रकार मिश्र शान्तिपूर्वक उन्नति की ओर बढ़ता रहा। धीरे धीरे पुराने शहर मेम्फिस का महत्व गिरता गया और दक्षिणी मिश्र के मध्य में स्थित थीब्स शहर २७०० ई० पू० के लगभग राजधानी बना।

इस समय के राजाओं ने पिरामिड खड़े करने में अपनी शक्ति तथा सम्पत्ति का व्यय करना व्यर्थ तथा अनुचित समझा। अतः उन्होंने अपना समय राज्य को सुधारने में

---

1 History of Religion. I J Gould

लगाया। इन राजाओं के समय में मिस्र में धन, सम्पत्ति तथा सभ्यता की भी अच्छी उन्नति हुई।

मिस्र के इतिहास को इतिहास लेखकों ने तीन बड़े भागों में विभाजित किया है। प्रथम राजवंश से लेकर ११ वें राजवंश तक का काल (२७७८ ई० पू० तक का) प्राचीन काल अथवा प्राचीन सभ्यता का काल कहलाता है। २७७८ ई०पू०से ११०२ ई०पू० तक तक का अर्थात् ग्यारहवें राजवंश से उन्नीसवें राजवंश का काल मध्य साम्राज्य का काल कहलाता है तथा बीसवें राजवंश से लेकर तीसरे राजवंश तक का काल ११०२ ई०पू० से लेकर ३४२ ई० पू० तक का काल नये साम्राज्य का काल कहलाता है।

मध्य साम्राज्य काल में अर्थात् १८०० ई० पू०के लगभग जबकि मिस्र की राजधानी थीब्स में आ चुकी थी मिस्र की शान्तिपूर्ण प्रगति को एक बड़ा धक्का लगा। यह था मिस्र पर विदेशियों का आक्रमण। इस समय पश्चिमी एशिया शाम, फिलिस्तीन आदि की कुछ जातियाँ जिनमें हित्ताइट (हिताइत) तथा कुछ अन्य सामी जातियाँ मुख्य थीं, स्वेज के स्थल डमरूमध्य से होकर मिस्र में घुस आईं और वहाँ के उत्तरी भाग अर्थात् नील नदी के डेल्टा में बड़ी संख्या में बस गईं। उनका यह प्रवेश प्रारम्भ में शान्तिपूर्ण ही था, परन्तु शीघ्र ही उनके सशस्त्र आक्रमण भी होने लगे। यह लोग मिस्री इतिहासकार मोनेथो के शब्दों में 'हाइक्सोस' कहे गये हैं। उनका यह नाम तिरस्कारपूर्वक रखा गया था, क्योंकि 'हाइक्सोस' का अर्थ गड़रिया होता है। इन हाइक्सोस लोगों ने धीरे-धीरे समस्त मिस्र पर अपना अधिकार जमा लिया तथा मिस्री राजवंश का अन्त कर दिया। इन्होंने मिस्र की बहुत सी बातों को तथा उनकी सभ्यता को अपना लिया। उनके राजा भी अपने को 'फरोहा' कहने लगे और मिस्री फरोहाओं जैसी ही शान शौकत से रहने लगे। लगभग १५० वर्ष तक मिस्र पर इन्हीं विदेशियों का राज्य रहा। उसके बाद थीब्स में ही उनके विरुद्ध विद्रोह खड़ा हो गया। यह विद्रोह समस्त मिस्र में शीघ्र ही फैल गया, यद्यपि उसका नेतृत्व थीब्स के लोगों के ही हाथों में था। दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् विद्रोही सफल हुए तथा विदेशियों को हार माननी पड़ी। थीब्स के एक राजा ने इन विदेशियों को मध्य मिस्र से निकाल बाहर किया तथा उसके उत्तराधिकारी ने जिसका नाम अहमेस प्रथम था, मिस्र का उत्तरी भाग अथवा डेल्टा भी अपने अधिकार में कर लिया और इस प्रकार विदेशियों को समस्त मिस्र खाली करना पड़ा। मिस्र में एक बार पुनः मिस्री राज्य स्थापित हुआ। यह नया वंश मिस्र का अठारहवाँ राजवंश कहलाता है। इस राजवंश ने अपनी राजधानी थीब्स में ही स्थापित की क्योंकि विद्रोह का नेतृत्व थीब्स ने ही किया था।

हाइक्सोसों के निष्कासन के बाद मिस्र में एक नये युग का आरम्भ हुआ समझा जाता है। १८ वें राजवंश के शासन-काल में मिस्रियों ने जो अब तक शान्तिप्रिय बने हुए थे तथा बाहरी आक्रमणों के शिकार होते रहे थे, युद्ध-प्रिय तथा आक्रामक का रूप धारण किया। वे अब अन्य देशों पर विजय लाभ कर कीर्ति की आकांक्षा करने लगे। राजाओं ने शक्तिशाली सेना खड़ी की तथा अपने पड़ोसियों—इथियोपिया और शाम पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया और मिस्र ने उन देशों पर अपना अधिकार भी जमा लिया और इस प्रकार मिस्र का देश एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। मिस्री साम्राज्य का यह काल १६०० ई० पू० से ११०० ई० पू० तक अर्थात् लगभग ५०० वर्ष तक चला। यह साम्राज्य नील नदी से लगाकर मेसोपोटामिया की फरात नदी तक पहुँच गया। पश्चिमी एशिया के शाम, फिलिस्तीन आदि देशों पर जिस प्रकार पहले बेबीलोनिया ने अधिकार कर लिया था उसी प्रकार अब मिस्र ने अपना आधिपत्य जमा लिया। इस साम्राज्य का काल मिस्र के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण काल है। इस युग में अमेनोफिस तृतीय एक प्रतापी राजा हुआ। उसके समय में मिस्री साम्राज्य विस्तार, समृद्धि तथा ऐश्वर्य की दृष्टि से चरम सीमा पर पहुँचा। अमेनोफिस तृतीय का पुत्र अमेनोफिस चतुर्थ बहुत कम उम्र में गद्दी पर बैठा। यह रागी तथा दुर्बल भी था। उसका विवाह मितन्नी के राजा दशरथ की पुत्री के साथ १३७६ ई० पू० में हुआ था। यह राजा मिस्र में सूर्यदेव की पूजा को प्रधानता देना चाहता था किन्तु पुजारियों ने उसका विरोध किया। थीब्स के इन पुजारियों के प्रभाव से बचने के लिये उसने एक नई राजधानी बनाना शुरू किया जिसका नाम अखेतातन रखा। बाद में यही स्थान तेल-अल अमर्ना कहलाया। राजधानी यहाँ आ जाने से थीब्स नगर प्रायः उजाड़ हो गया। वह 'अमेन' शब्द के स्थान पर 'अतेन' शब्द का प्रेमी था, तथा उसने अपना और अपने पुत्र का नाम भी बदल लिया था, परन्तु उसके बाद फिर 'अमेन' की प्रधानता हो गयी। इसी अमेनोफिस चतुर्थ का पुत्र तूतानखामेन हुआ जो मिस्र का एक ऐसा राजा है जिसके सम्बन्ध में आज हम बहुत कुछ जानते हैं यद्यपि वह कोई प्रतापी राजा न था। यह छोटी अवस्था में ही (१३६२ ई० पू० में) गद्दी पर बैठा तथा केवल १२ वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् युवावस्था में ही (२३ वर्ष की अवस्था में) मृत्यु को प्राप्त हुआ। यद्यपि उसके पिता अमेनोफिस चतुर्थ का विवाह मिस्र के राजा दशरथ की पुत्री से हुआ था, किन्तु यह स्वयं इस पुत्री से उत्पन्न न हुआ था। यह अमेनोफिस की किसी दूसरी रानी का पुत्र था। राजाओं को वहाँ एक से अधिक विवाह करने का अधिकार था। तूतानखामेन के समय में पुजारियों के प्रभाव से राजधानी पुनः थीब्स में

तूतानखामेन राजा का पता संसार को सन् १९२२-२३ में लगा जबकि मिस्र में पुरातत्त्व सम्बन्धी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज हुई। यह खोज श्री हावर्ड कार्टर ने की जो वहाँ पर इंग्लैण्ड के एक रईस द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से खुदाई का कार्य कर रहे थे। श्री कार्टर को थीब्स स्थान के पास 'राजाओं की घाटी' में भूमि के अन्दर एक ऐसी कब्र मिली जो हजारों वर्षों तक अछूती बनी रही थी। प्रायः बाबुल तथा मिस्र की कब्रों को लुटेरे और चोर खोदकर लूट लिया करते थे, क्योंकि उनमें प्रायः बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती थीं, किन्तु तूतानखामेन की कब्र कुछ इस तरह छिपाकर बनायी गयी थी कि उसका पता चोरों को न लग सका और वह हजारों वर्षों तक जैसी की तैसी बनी रही। खुदाई करने पर कब्र के भीतर की समस्त वस्तुएँ भी ज्यों की त्यों रखी हुई मिलीं। इस कब्र में बड़ी बहुमूल्य सामग्री थी—बड़ी सुन्दर सजावट की कुर्सियाँ और मेजें, सोने के आभूषण और बर्तन, सोने और लोहे की तलवारें तथा अनेक कलापूर्ण वस्तुएं। इनमें राजा का सिंहासन भी था जो बड़ा सुन्दर और बहुमूल्य था। यह सिंहासन जो कब्र से प्राप्त हुआ है सोने के पत्तर से मढ़ा हुआ है। इसकी बैठक पर, पीठ पर तथा हाथों पर रंग बिरंगे नग जड़े हुए जो आज भी नये जैसे चमकदार हैं। इसके पीछे एक राजा का चित्र है जिसकी रानी हाथ में एक पात्र लिये सुगन्धि लगा रही है। यह समस्त बहुमूल्य सामग्री आज भी कैरो के अजायबघर में वर्तमान है। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही इनमें से कुछ वस्तुएं किन्हीं लोगों द्वारा चुरा ली जाने की खबर आई थी।

मितन्नी से वैवाहिक सम्बन्ध—

इस १८ वें राजवंश के काल की एक महत्वपूर्ण घटना है—मितन्नी के राजाओं से मिस्र के राजाओं के वैवाहिक सम्बन्ध। इसका एक विशेष कारण था। इन दिनों मिस्र का साम्राज्य पश्चिमी एशिया तक फैला हुआ था। इस एशिया साम्राज्य में शान्ति बनाये रखने, उस ओर से निश्चिन्तता प्राप्त करने और मिस्र में जो आर्थिक उन्नति हो रही थी उसे स्थायी बनाये रखने के लिये मिस्र को पश्चिमी एशिया में किसी बलवान मित्र की आवश्यकता थी। उसकी निगाह मितन्नी राज्य पर पड़ी। मितन्नी राज्य मिस्र के एशियाई इलाके के उत्तर में स्थित था, तथा एक बड़ा राज्य था जिसका विस्तार फरात नदी के दोनों ओर अर्थात् भूमध्य सागर तथा दजला नदियों के बीच था तथा मिस्र पर किसी एशियाई शत्रु का आक्रमण मितन्नी राज्य में होकर ही हो सकता था। ऐसी खबरें मिलती रहती थीं कि खित्ताइयों (हित्ताइतों) का शक्तिशाली राजा मिस्र पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में करना चाहता है। अतः मिस्र ने मितन्नी के साथ सुहृद् मैत्री का विचार किया। उधर मितन्नी के राजा को भी खित्ताइयों से डर था तथा वह भी मिस्र से मित्रता स्थापित करना चाहता था। वह जानता कि मिस्र इन दिनों एक शक्तिशाली साम्राज्य है। वह यह भी देख चुका था कि मिस्र की सेनाओं

ने किस प्रकार पश्चिमी एशिया में विजय प्राप्त की। मितन्नी राज्य मिस्र के उत्तर में उसकी सीमा से लगा हुआ ही था। फिर मितन्नी को पूर्व की ओर उठती हुई नई शक्ति —असुर राज्य—से भी डर उत्पन्न हो रहा था। अतः दोनों में संधि तथा मित्रता होना आवश्यक हो गया था।

मितन्नी में इन दिनों एक नया राजवंश गद्दी पर बैठा जिसके संस्थापक का नाम सौस्तर बताया जाता है। शीघ्र ही मितन्नी और मिस्र में सुदृढ़ मैत्री स्थापित करने के उद्देश्य से उनमें विवाह सम्बन्ध होने लगे। मिस्र के राजा थुतमोस चतुर्थ ने मितन्नी के राजा अर्तातम से प्रस्ताव किया कि वह अपनी पुत्री का विवाह उसके थुतमोस के साथ कर दे। बार बार आग्रह करने पर अर्तातम ने प्रस्ताव स्वीकार करके अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। जब मिस्र के सिंहासन पर अमेनोफिस तृतीय गद्दीपर आया और मितन्नी में अर्तातम का पौत्र राजा दशरथ गद्दी पर बैठा तब इन दोनों राजवंशों में वैवाहिक सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ हो गये तथा राजा अमेनोफिस तृतीय का विवाह दशरथ की बहिन गिलुखिया के साथ हो गया। बाद में अमेनोफिस चतुर्थ का विवाह दशरथ की पुत्री से हुआ जिसका नाम तदुखिया बताया जाता है। राजकुमारी गिलुखिया अपने साथ तीन सौ सत्रह परिचारिकायें लेकर मिस्र के राजमहल में आई थी।[1]

तूतानखामेन का उत्तराधिकारी होरमहेब हुआ जो तूतानखामेन के समय में उसका सेनापति था। इसके पश्चात् मिस्र में एक नया राजवंश गद्दी पर बैठा जो १९ वां राजवंश कहलाता है। इस वंश का संस्थापक राम २ प्रथम था।[2] इस राजवंश के समय में भी मिस्र ने अपनी उन्नति की। राम प्रथम ने अफ्रीका के लीबिया और इथोपिया प्रदेश तथा पश्चिमी एशिया के शाम, सिंध, फारस आदि अनेक देश जीतकर उन पर अधिकार कर लिया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा राम द्वितीय हुआ।[3] जिसने १२९२ ई० पू० से १२२५ ई० पू० तक अर्थात् लगभग ७० वर्ष तक राज्य किया। उसके अनेक स्मारक मिस्र के अबूसंबल में आज भी मौजूद हैं। उसके सम्बन्ध में अनेक दन्त कथायें भी प्रचलित हैं। उसने हित्ताइ राज्य पर चढ़ाई की किन्तु बाद में दोनों में समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार मिस्र के राजाने उत्तरी शाम देश पर हित्ताइ राजा का अधिकार स्वीकार कर लिया। इसकी संधि का विवरण थीब्स के एक मन्दिर की दीवार के शिलालेख में खुदा हुआ है जो आज भी देखा जा सकता है। बोगजकोइ में प्राप्त लेखों में इस संधि का वर्णन मिलता है।

---

1 Private Life of Tutankhamen by G. P. Tabouis P. 93

2 Ramesses I

3 Ramesses II

नील नदी के पश्चिमी तट पर इस राम द्वितीय ने एक मन्दिर बनवाया था जो रामेशियम कहलाता था। इस मन्दिर में उसने अपनी एक ५७ फीट ऊँची बैठी हुई विशाल मूर्ति रखवाई थी। इस मूर्ति के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए मिले थे। यह राम द्वितीय मिस्र के महान् फरोहाओं में अंतिम बड़ा राजा समझा जाता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही मिस्री साम्राज्य का ह्रास होता गया और मिस्र की शक्ति घटती गई। साम्राज्य के एशियाई देश भी शीघ्र ही उससे अलग होते गये और फिर कभी वापिस न आ सके। ११०० ई० पू० के लगभग मिस्र पुन अपनी पुरानी सीमाओं पर—मिस्र देश तक लौट आया। कुछ शताब्दियों पश्चात् (छठवीं शताब्दी ई०पू० में) फारसी साम्राज्य ने जो उन दिनों उन्नति करता जा रहा था मिस्र को भी जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। फिर यूनान (मेसेडोन) का प्रसिद्ध राजा सिकन्दर अपनी विजय यात्रा पर पूरब की दिशा में बढ़ा और मिस्र के लोगों ने उसे पारसियों की कठोर हुकूमत से छुटकारा दिलानेवाला समझकर उसका स्वागत किया। सिकन्दर ने मिस्र में एक नगर की स्थापना की जो यूनानी सभ्यता का केन्द्रस्थल बन गया। इस नगर का नाम सिकन्दरिया पड़ा जो आज तक मौजूद है। सिकन्दर के बाद उसका साम्राज्य उसके मुख्य-मुख्य सेनापतियों में बँट गया। मिस्र पर उसके एक सेनापति टालेमी (बतली मूसी) का अधिकार हुआ। इस टालेमी वंश के राजा लोग मिस्र की जलवायु में घुल मिल गये और मिस्र के पुराने फरोहाओं के समान ठाट बाट से राज्य करते रहे। इस वंश की अन्तिम रानी क्लियोपेट्रा थी जो इतिहास तथा कथाओं में प्रसिद्ध है। उसके बाद रोम की बढ़ती हुई शक्ति ने मिस्र को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया।

मिस्र की सभ्यता—

जैसा कि ऊपर बताया गया है मिस्र में ऐसे अनेक चिह्न मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि यहाँ राजवंशों के काल से पूर्व ही अर्थात् ईसा से लगभग ३॥ हजार वर्ष पूर्व या उससे भी पहले सभ्यता का आरम्भ हो गया था। यहाँ के लोग खेती और सिंचाई अच्छी तरह जानते थे। नील डेल्टा के पश्चिम दलदलों में एक ऐसे बड़े गाँव – मेरिंडे का पता चला है जिसके निवासियों ने बहुत पहले एक गाँव के रूप में अपनी झोपड़िया बना कर रहना तथा अपने खेतों की सिंचाई मिलकर करना सीख लिया था। इसी कारण कुछ लोग मिस्र को कृषि तथा सिंचाई की आदि भूमि मानते हैं।

ताम्र आदि धातुओं का काम करना भी ये लोग उसी समय जान गये थे। तांबे के कुछ तिकोने खंजर, आरे तथा अन्य औजार राजवंश पूर्वकाल के प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग आवश्यकता तथा विलासिता की अनेक वस्तुएँ सोना, हाथी दांत, सुगन्धित द्रव्य, शृङ्गार सामग्री आदि दूर-दूर के देशों से लाकर अपने व्यवहार में लाने लगे

थे। चकमक पत्थर के चाकू, पत्थर के कुंडे तथा अन्य बर्तन, मिट्टी के तरह-तरह के बर्तन हाथी दांत के चम्मच, कंघियाँ तथा प्राचीन समयकी शृङ्गार की अन्य सामग्रियाँ जितनी मिस्र में मिलती हैं उतनी अन्य किसी देश में नहीं। इसी कारण कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि सभ्यता का तथा समस्त प्रकार के कला-कौशल का प्रारम्भ मिस्र में ही हुआ। किन्तु यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हुई है। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि सभ्यता की यह लहर मिस्र में प्रथम राजवंश काल से पूर्व ही पूरब की दिशा से आई थी और पूरब की यह सभ्यता अपने साथ एक विशेष लिखावट (लिपि) वर्णमाला, तांबे की छैनियां, बेलनाकार मुहरें तथा अन्य वस्तुएँ लाई थी। इन विद्वानों के अनुसार यह प्रभाव सुमेर अथवा एलाम से आया था तथा सामी जाति के लोगों—फिनीशियनों आदि के द्वारा यह मिस्र में पहुँचाया गया।

यह भी माना जाता है कि प्रथम राजवंश से छठे राजवंश तक लगभग ६०० वर्ष के काल में—मिस्र का लालसागर के मार्ग से अन्य देशों के साथ खूब व्यापार चलता था और इस लम्बे समय में ये लोग अरब के किनारे तथा फारस की खाड़ी के किनारे होते हुए भारत तक पहुँचे थे जहाँ मालाबार के किनारे पर मोती, सोना तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के भण्डार पाये जाते थे। इसी प्रकार भारत के व्यापारी मिस्र तक पहुँचे थे। मिस्र के लोग अपनी आवश्यकता की भिन्न भिन्न वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये दूर दूर तक जहाज भेजा करते थे। उस समय के कुछ बर्तनों पर जहाजों की आकृतियाँ भी बनी हुई मिली हैं जिससे उक्त अनुमान का समर्थन होता है। उन जहाजों अथवा नावों में कमरे और खेने के डांड भी दिखायी देते हैं।

धर्म—

पुरातन काल में अनेक देशों के लोग एक ही ईश्वर को सर्वेश्वर नहीं मानते थे, बल्कि भिन्न भिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न कार्यों और विभागों का अधिपति मानते थे। भारत में जिस प्रकार इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र आदि अनेक देवता माने जाते थे उसी प्रकार मिस्र में सूर्य के देव, चन्द्रमा के देव, अन्धकार के देव, विद्या के देव आदि अनेक देवता थे। कुछ देवताओं का रूप मनुष्यों का-सा था। कुछ का पशुओं का सा। इसिस एक गौ देवी थी और हैथर मेढक के रूप की देवी थी। सूर्य को ये लोग 'रा' अथवा 'री' कहते थे और 'पताह' ब्रह्मा की भाँति एक देवता था। ये देवता प्रेम और घृणा भी करते थे अर्थात् मनुष्यों के समान किसी से घृणा करते और किसी को अपना प्रिय पात्र भी बना लेते थे। ऐसा माना जाता था कि ये देवता मनुष्य का उपकार अपने प्रिय पात्रों के द्वारा ही करते थे। उदाहरणार्थ यहाँ यह विश्वास था कि रात्रि के पश्चात् प्रभात तभी हो सकता है जब सूर्य देवता (री) को [illegible] बाद उनके

प्रिय-पात्र बड़े पुजारी जी प्रार्थना करके उन्हें भूलोक के नीचे से मनाकर भूलोक में लायें। अत भूमण्डल पर सवेरा लाने के लिये पुजारी जी प्रतिदिन प्रात काल से पूर्व 'री' देवता की प्रार्थना करते थे कि वे भू लोक में आवें।

मिश्र के लोगों का यह भी विश्वास था कि देवताओं की मूर्तियों में उन देवताओं की आत्मायें निवास करती हैं तथा उन मूर्तियों के मन्दिरों के पुजारी उन देवताओं की आत्माओंसे सम्पर्क रखते हैं। इसी कारण वहाँ पुजारियों की बड़ी मान्यता थी तथा बड़े बड़े शक्तिशाली राजा—फरोह भी—बिना पुजारियों की सम्मति के—जिसे वे देवताओं की आज्ञा मानते थे—कोई नया तथा महत्वपूर्ण कार्य—युद्ध अथवा संधि आदि—करने का साहस न कर सकते थे। दक्षिणी मिश्र में थीब्स नगर के समीप करनाक स्थान पर एक प्राचीन मन्दिर था जो पुराने राजाओं का बनवाया हुआ था तथा जिसकी मरम्मत राम द्वितीय ने कराई थी। यह मन्दिर सम्भवत अमेन (सूर्यदेव) का था जो मिश्र के एक प्रमुख देवता थे। मिश्र में सूर्य की पूजा की ही प्रधानता थी और उनके अनेक रूप थे जैसे प्रात काल के सूर्य, मध्याह्न के सूर्य, सायंकाल के सूर्य आदि। इनके नाम रा, री, होरस, अमेन, ओसिरिस आदि थे। मिश्र के राजा भी बाद में अपने को सूर्य का पुत्र कहने लगे थे। इसिस (उषा) प्रात काल की देवी थी।

आत्मा की अमरता मे विश्वास—

मिश्रवासी अपने पड़ोसियों के समान यह विश्वास करते थे कि मनुष्य के शरीर में एक आत्मा रहती है जो शारीरिक मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है और शरीर के पास ही चक्कर लगाती रहती है। मनुष्यकी मृत्यु के बाद भी यदि उसका शरीर सुरक्षित रहेगा तो आत्मा उसमें प्रवेश करेगी तथा निवास भी करेगी और यदि शरीर गलकर मिट्टी हो जायेगा तो आत्मा भी नष्ट हो जायेगी। इसी कारण वे लोग मृत शरीर को सुरक्षित रखना आवश्यक समझते थे जिससे वह शरीर अनन्त काल तक आत्मा के घर के रूप में बना रहे। यदि ऐसा न होगा तो या तो आत्मा मर जायेगी या अशान्तिपूर्ण अवस्था में इधर उधर भटकती फिरेगी तथा घर के अन्य लोगों को कष्ट देगी। इसी विचार से उन्होंने मृत शरीर को अधिक से अधिक दिनों तक सुरक्षित रखने के उपाय निकाले और ऐसे लेप का आविष्कार उन्होंने सम्भवत तृतीय राजवंश के काल में कर लिया था। मृत शरीर में से आँतें, हृदय जिगर आदि निकाल लिये जाते थे तथा शरीर के भीतर कोई अन्य वस्तु भरदी जाती थी। फिर समस्त शरीर पर गाढ़ा लेप किया जाता था। इस प्रकार के लेप युक्त शरीर को 'ममी' कहा जाता था। ममी की यह क्रिया मिश्र के लोगों की अपनी एक विशेषता है जो किसी अन्य देश में नहीं पाई जाती। मिश्र वालों के विचार से मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर भी उसकी वास्तविक मृत्यु 'दूसरी मृत्यु' तभी होती थी जब शरीर गलकर नष्ट हो जाय और उसमे आत्मा का सम्बन्ध टूट जाय।

इस लेपयुक्त शरीर को लकड़ी आदि के कई सन्दूकों में बन्द कर दिया जाता था और फिर उस सन्दूक को किसी पहाड़ी अथवा सूखी जमीनमें गाड़ दिया जाता था जिससे उसके भीतर नमी न पहुँच सके। ये कब्रें ऐसी बनाई जाती थीं जिनमें कई कमरे होते थे। बाद में ये कब्रें जमीन के नीचे प्राय ठोस चट्टानों को काटकर बनायी जाने लगीं और उनके ऊपर भूमि पर एक छोटा सा मन्दिर धार्मिक कृत्यों के लिये बना दिया जाता था। प्राय एक कमरे में मृतक की मूर्ति भी पधराई जाती थी। बड़े राजाओं की कब्रों के ऊपर बड़े बड़े मन्दिर या पिरामिड बनाये जाते थे।

यह भी माना जाता था कि शरीर की मृत्यु के बाद भी आत्मा को खाने पीने की तथा इन्द्रिय जनित सब प्रकार की इच्छायें होती हैं। अत उस आत्माको सन्तुष्ट रखने के लिये खाने-पीने का सामान, अनाज, शराब, पानी व स्वच्छ सुगन्धित घड़े आदि अनेक वस्तुएँ शरीर के पास ही रख दी जाती थीं। राजाओं के साथ उनके हथियार, रथ, घड़े सोने-चांदी के बरतन, मेज कुर्सी, सुगन्धित द्रव्य और कभी कभी सिंहासन भी रख दिये जाते थे। तूतानखामेन की कब्र में इतनी वस्तुएँ सुरक्षित अवस्था में मिलीं कि उनसे उस समय के मिस्र के जन-जीवन का सम्पूर्ण इतिहास ही तैयार किया जाना सम्भव हो गया है। यह माना जाता था कि इन वस्तुओं से यदि आत्मा सन्तुष्ट रहगी तो घर के लोगों को आशीर्वाद देगी और ऐसी शक्ति प्रदान करेगी जिससे वे लोग मुसीबत पड़ने पर भी उसका सामना कर सकें।

पिरामिड—

ममी के समान मिस्र वालों की एक दूसरी विशेषता उनके पिरामिड अथवा स्तूप हैं। ये पिरामिड राजाओं की मृत्यु होने पर उनकी कब्र के ऊपर पत्थर के विशाल स्तूप के रूप में बनाये जाते थे और उनका उद्देश्य यह था कि मृत्यु के पश्चात् राजाओं की कब्रें इन विशाल स्तूपों के भीतर दीर्घकाल तक सुरक्षित बनी रहें। एक अंग्रेज लेखक ने यह सत्य ही लिखा है कि सम्भवत अन्य किसी देश के राजाओं ने इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम ऐसी अमिट स्याही से अंकित नहीं किया जैसा कि पिरामिडों के निर्माता मिस्र के इन फराऊनों ने।

सबसे पहिला राजा जिसने पिरामिड बनवाया जोसेर माना जाता है जो तृतीय राजवंश का प्रथम राजा था। यह पिरामिड पत्थर का बना हुआ अपने ढंग का प्रथम ही बड़ा स्मारक है जो सक्कारा स्थान पर बनवाया गया था। चतुर्थ राजवंश के समय में और भी बड़े बड़े पिरामिड बने। इनमें सबसे बड़ा तथा प्रसिद्ध पिरामिड इस वंशके राजा खूफू का बनवाया हुआ है जो गिजेह स्थान पर है। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस के

पहुँचा माना जाता है, क्योंकि कई बड़े बड़े पिरामिड इसी समय में बने—यह काल ईसा से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का है जबकि मिश्र की राजधानी मेम्फिस में थी।

इन पिरामिडों की विशालता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि खूफू के पिरामिड में—जो पिरामिडों में सबसे बड़ा है लगभग तीस लाख टन बड़ी-बड़ी शिलायें लगी हैं। ये शिलायें दूर दूर से लाई जाती थीं शिलाओं का कुल वजन १७ करोड़ मन अनुमान किया जाता है। इनकी बराबरी के पत्थरके भवन न तो प्राचीन काल में किसी अन्य देश के लोग बना सके और न आज तक ही कहीं बना सके हैं। ये पिरामिड संसार के सात महान आश्चर्यों में गिने जाते हैं।

शिल्प-कला—

ये विशाल पिरामिड ही—जिन्हें देख संसार के लोग आज भी आश्चर्य करते हैं तथा जो संसार की दर्शनीय वस्तुओं में गिने जाते हैं मिश्र के लोगों की शिल्प-कला के अद्भुत तथा सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन्हीं के कारण बहुत से लोग यह मानते हैं कि स्थापत्यकला का आरम्भ वास्तव में मिस्र देश में ही हुआ जहाँ इतनी विशाल इमारतें बन सकीं।

ऐसा अनुमान होता है कि राजवंश काल के आरम्भ में ही अथवा उससे भी पूर्व ही मिस्र के लोगों ने शिल्प-कला में अच्छी उन्नति करली थी। वे लोग पत्थर के खम्भे महरावें, मीनारें आदि बनाने लगे थे।

उन लोगों के प्राचीन काल के मिट्टीके बर्तनों पर भी अनेक कलापूर्ण चित्र मिलते हैं। हाथी दांत पर भी चित्रकला मिलती है। हाथी दांत के बने कंघों पर मनुष्यों तथा जानवरों की आकृतियां खुदी हुई पायी गयी हैं। चकमक पत्थर के चाकुओं के हत्थों पर सोने का काम भी मिलता है। लकड़ी के काम के सुन्दर नमूने सक्कारा की कबरोंमें मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्रथम राजवंश के काल में ही लकड़ी का सामान बड़ा सुन्दर बनने लगा था और उस पर खुदाई नक्काशी जड़ाई का काम भी होने लगा था। इस प्रकार तीन साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व ही मिस्र के लोगों में कला के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई थी। इतना ही नहीं उन्होंने कलापूर्ण वस्तुएँ बनानेमें निपुणता भी प्राप्त करली थी।

वर्ष या तिथि पत्र—

प्राचीन देशों के लोग प्राय चन्द्रमा से महीनों तक वर्षों की गणना करते पाये जाते हैं। यह विधि सरल भी थी। किन्तु अनुमान होता है कि मिस्र वालों ने ३००० ई० पू० में अथवा इससे भी पूर्व के समय में ही चान्द्र महीनों से वर्ष की गणना करना छोड़कर सूर्य का तिथि-पत्र स्वीकार कर लिया था। इस सौर वर्ष में ३० दिन का महीना तथा बारह महीनों का वर्ष होता था तथा वर्ष के अन्त में ५ दिन और जोड़ दिये जाते

थे। पाचवें और छठे राजवंश के राजाओं के पिरामिडों के साथ जो लेख प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि वर्ष में अतिरिक्त ५ दिन वाला अर्थात् ३६५ दिन वाला तिथि-पत्र उस समय भी मिस्र में प्रचलित हो चुका था। कुछ लोग वहाँ सौर वर्ष का प्रारम्भ राजवंश काल से भी पूर्व अर्थात् ४००० ई० पू० के लगभग हुआ मानते हैं।1

साहित्य—

श्री गोल्ड का कथन है कि मिस्र में नैतिक उपदेशों की एक पुस्तक की रचना ४००० ई० पू० में हुई थी 2 जिसके कुछ भाग आज भी मिलते हैं। दूसरी पुस्तक 'ताहटाटेप के उपदेश' लगभग ३५५० ई० पू० की कही जाती है जिसमें बड़ों के प्रति कर्तव्य-पालन, माता पिता के प्रति आदर आदि के उपदेश दिये गये हैं। मिस्र की कबरों के साथ खुदे हुए अथवा एक प्रकार के कागज पर जो 'पपीरस' कहलाता था × लिखे हुए अनेक प्रकार के उपदेश मिलते हैं जो वहाँ की नैतिक उच्चता के उदाहरण हैं। ये उपदेश प्राय 'मृतकों की पुस्तक' से जो मिस्रवासियों द्वारा बड़ी पवित्र पुस्तक मानी जाती थी—लिये गये हैं। यह पुस्तक २००० वर्ष पूर्व भी 'प्राचीन' समझी जाती थी। इसमें उन गीतों, भजनों, प्रार्थनाओं और मंत्रों का संग्रह है जिन्हें मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा को मृतक लोक की यात्रा के समय पढ़ना आवश्यक समझा जाता था। अत मिस्रवासी प्राय इस पुस्तक को कण्ठस्थ कर लेते थे जिससे आत्मा को उस दुर्गम में कठिनाई न हो। इनमें से कुछ गीत ऐसे हैं जो ३५०० ई० पू० की कबरों में खुदे हुए पाये गये हैं अत कुछ विद्वान इस पुस्तक को ४००० ई० पू० से भी पुरानी समझते हैं।

भारत से सम्बन्ध—

प्राचीन भारत तथा प्राचीन मिस्र में व्यापारिक सम्बन्ध था तथा दोनों देशों के जहाज एक दूसरे में आते जाते थे इसके कई प्रमाण मिले हैं। ३००० अथवा ४००० ई० पू० की मिस्र की कबरों में जो विभिन्न वस्तुएं पायी गयी हैं वे सब की सब मिस्र की स्थानीय उपज नहीं हैं ऐसा माना जाता है। उदाहरणार्थ सोना, हाथी दाँत आदि मिस्र की उपज नहीं समझी जाती। ये वस्तुएं बाहर के देशों से अधिकतर भारत से ही वहाँ पहुँचती थीं। मिस्र की पुरानी कबरों में भारत की नील तथा कुछ अन्य वस्तुएं भी

1 History of Mankind—Hutton Webster P 23
2 A concise history of Religion. F J Gould
× पेपीरस—मिस्र में एक पौधे से तैयार किया जाता था और लिखने के काम में आता था। इसी से अंग्रेजी का 'पेपर' शब्द बना है।

गए गई हैं।1 अनेक ममियों पर जो हजारों वर्ष पुरानी समझी जाती हैं लिपटा हुआ जो वस्त्र पाया गया है वह भी भारत का ही बुना हुआ माना जाता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी तक मिस्र के राजा लोग दक्षिणी भारत से मलमल, आबनूस, दालचीनी आदि वस्तुएं मगाते थे। इस प्रकार प्राचीन मिस्र का दक्षिणी भारत से—तथा भारत से— व्यापारिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

किन्तु व्यापारिक सम्बन्ध के अतिरिक्त ऐसा भी जान पड़ता है कि मिस्र के प्राचीन निवासियों का भारत से जातीय सम्बन्ध भी था। सुमेर तथा बाबुल के समान मिस्र की सभ्यता भी अधिक प्राचीन समझी जाती है। कुछ लोगों की दृष्टि में तो यह सुमेर तथा बाबुल की सभ्यता से भी अधिक प्राचीन है, किन्तु यह भी माना जाता है कि जिन लोगों ने मिस्र में अति प्राचीन काल में एक उच्च कोटि की सभ्यता का विकास किया, वे लोग मिस्र के मूल निवासी न थे बल्कि बाहर के किसी देशसे ही वहाँ पहुंचे थे। अंग्रेज इतिहासकार गोल्ड का कथन है कि मिस्र में जिन लोगों ने राजवंशों का आरम्भ किया वे लोग फिलिस्तीनी अथवा फिनीशियन (पणि) लोगों से सम्बन्ध रखते थे। तथा वे लोग पुन या पुन्त देश से चलकर मध्य मिश्र देशमें पहुँचे और फिर थीब्स नगर के पास तथा नील नदी तक पहुँचे।2

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि फिनिशियन लोग जो प्राचीन काल में भारत, पश्चिया तथा दक्षिणी पूर्वी यूरप में अपने व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे मूल में भारत के निवासी ही जान पड़ते हैं। ऋग्वेद में प्राय उनका उल्लेख मिलता है। मिस्र में राजवंश की स्थापना करने वाले यही लोग थे तथा वहाँ पर ये लोग पुन्त नामक देश से पहुँचे थे। मिस्र के लोग जिस देश को पुन्त कहते थे वह अरब का एक भाग था जिसमें उत्तराफ भाग भी सम्मिलित था। फिनीशियन लोगों के सम्बन्ध में इतिहासकारों का यह भी मत है कि सीरिया या शाम का वह समुद्र तटवर्ती भाग जिसमें टायर, सिडोन आदि नगर बसाये गये, उनका मूल स्थान न था बल्कि वे वहाँ अरब तट से चलकर आये थे। ऐसा अनुमान है कि ये लोग भारत से चलकर पहिले अरब के दक्षिण में लाल सागर के तट पर बस गये थे और वहां से चलकर शाम के पश्चिमी तटों पर बसे जहाँ उन्होंने अपनी कई प्रसिद्ध बस्तियाँ—सिडोन टायर आदि—बसाई। वहीं से आगे बढ़कर वे

1 *Ancient Egypt—Prof Wilkinson*

2 *The high class race which founded the historic dynasties of Kings seems to have been allied to the Philistines and Phoenicians and to have come from Punor Punt at the South end of the Red Sea The immigrants crossed from the Punt coast to middle Egypt reaching the river Nile near Thebes A Concise history of Religion —F J Gould*

लोग मिस्र में पहुँचे होंगे। उन्हीं की एक शाखा बाद में अफ्रीका के उत्तरी तट पर पहुँची थी जिसने कारथेज नगर बसाया। वहां पर ये लोग 'प्यूनिक' कहलाते थे जो 'पणि' का ही एक रूप जान पड़ता है। मिस्र के प्रथम राजवंश के संस्थापक का नाम 'मेनेस' अथवा मेन होना भी उसका भारत से कुछ सम्बन्ध होने का द्योतक है, क्योंकि भारत में प्रथम राजवंश के संस्थापक 'मनु' माने जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी उल्लेखनीय है। भारत के पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में संसार का जो भूगोल दिया गया है उसमें संसार को सात द्वीपों में बांटा गया है जिनके नाम जम्बू द्वीप, प्लक्ष द्वीप, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर हैं। इनमें जम्बू द्वीप निःसन्देह एशिया अथवा उसका कुछ भाग था जिसके अन्तर्गत नव वर्षों में एक भारतवर्ष गिना जाता था। कुश द्वीप आज का अफ्रीका महाद्वीप अथवा उसका कुछ भाग था। यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन मिस्र में भी नील घाटी का दक्षिणी भाग अर्थात् मध्य अफ्रीका जिसमें नूबिया, इथोपिया आदि देश सम्मिलित थे 'कुश' कहलाता था। मिस्र के राजाओं ने दक्षिण का यह समस्त प्रदेश अपने एक 'विशेष प्रतिनिधि (वायसराय) के अधीन कर दिया था और उसकी उच्च उपाधि 'कुश का शाही पुत्र' थी।[1]

भारत के प्राचीन निवासी मिस्र के भूगोल से भलीभांति परिचित थे। इसका एक प्रमाण हाल ही में मिला है। अंग्रेजी के 'इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया'[2] में प्रकाशित एक लेख में बताया गया है कि मिस्र की नील नदी का स्रोत कहां था इसका वर्णन भी भारत के पुराणों में मिलता है। नील नदी के उद्गम स्थान दो हैं—एक धारा इथोपिया की एक झील से निकलती है तथा दूसरी युगाण्डा प्रान्त की एक झील से। ये दोनों धारायें सूडान की राजधानी खारतूम के पास मिलकर आगे बढ़ती हैं। इनमें से एक धारा श्वेतनील कहलाती है और दूसरी नीली नील। नीली नील के उद्गम का पता जेम्स ब्रूक नामक एक स्काटलैण्ड वासी ने १७७० ई० के लगभग इथोपिया की एक झील में लगा लिया था, परन्तु श्वेत नील का उद्गम उसके बाद भी रहस्यमय बना रहा। सन् १८५८ में भारतीय सेना के एक अधिकारी कनल जान हनिंग स्पेक श्वेत नील के उद्गम की खोज में गए। भारत में अनेक वर्षों तक रहकर उन्होंने यह सुन रखा था कि भारत

1 *Nubia had been partly conquered by Amenemhet I who had made all southern Egypt into a Viceroyalty The Viceroy was given the dignity of "Royal son of Kush" (Nubia and Ethiopia) as if he had the blood of the gods in his veins*

2 *The Story of the Nile Private life of Tutenkhamen Illustrated*

के पुराणों में नील के उद्गम का विवरण दिया हुआ है तथा भारत के लोग बहुत प्राचीन काल से उस देश से व्यापार करते आये हैं। स्पेक ने पुराणों में से नील नदी का वर्णन निकलवाया, उसका अनुवाद अंग्रेजी में कराया गया तथा उसके आधार पर एक नक्शा भी तैयार कराया। फिर वह यह सामग्री अपने साथ लेकर जंजीबार तथा केनिया होता हुआ उगान्डा पहुँचा और नक्शों के सहारे आगे बढ़ता गया। उसे यह देखकर बड़ा हर्ष तथा आश्चर्य हुआ कि आगे बढ़ने पर उसे पुराणों में वर्णित एक बड़ी झील मिली और उससे एक नदी को धारा भी बह कर निकल रही थी। उसे श्वेत नील का उद्गम मिल गया था। इसका वर्णन उसने अपनी पुस्तक 'नील के उद्गम की खोज' (Discovery of the source of Nile) में पूर्ण स्पष्टता के साथ किया है। यह पुस्तक लन्दन से सन् १८६३ में प्रकाशित हुई थी—ऐसा उक्त लेख के लेखक श्री हरीचरण छाबरा ने अपने लेख में बताया है।

मिश्र में भारतीय रथ और घोड़े—

मिस्र का प्राचीन भारत के साथ सम्बन्ध होने के और भी कई प्रमाण मिलते हैं। मिस्र में रथ और घोड़े निश्चित रूप से भारत से ही पहुँचे। पिछले अध्यायों में बताया गया है कि सुमेर, बाबुल, असुर, शाम आदि देशों में घोड़े तथा रथ बाहर से ही पहुँचे थे। मिस्र के इतिहास से भी यही बात सिद्ध होती है। यहाँ लगभग २००० ई० पू० तक घोड़ों तथा रथों के कोई चिह्न नहीं मिलते। इसके बाद ही यह दोनों वस्तुएँ वहाँ दिखाई देने लगती हैं तथा कई राजाओं की कबरों में भी घोड़ों की अस्थियाँ तथा रथों के अवशेष मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि अब राजाओं की कबरों में आवश्यकता की अन्य वस्तुओं के साथ रथ और घोड़े भी गाड़े जाने लगे थे।

इस समय मिस्र में घोड़ों तथा रथों का इतना अधिक प्रचलन हुआ कि वे वहाँ की सेना के सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग बन गये तथा यह रथ सवार सेना मिस्र के शत्रुओं के लिये भय की वस्तु बन गई।1 मिस्र की सेना में अब घुड़सवार सेना का मुख्य अधिकारी एक बहुत बड़ा आदमी समझा जाता था। इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि मिस्र में रथ और घोड़े शाम या सीरिया से पहुँचे और शाम में ये चीजें बेबीलोनिया

1 *With a deafening jingling of metal the tiny chariots bristling with spears and javelines dashed up at a furious pace drawn by little Syrian horses and driven by princes of the Empire dagger in belt It was the furious chariotry of Egypt the terror of the ancient world Private Life of Tutankhamen* ■ *A Tabouis p 120*

होती हुई भारत से पहुँची जैसा कि पूर्व के अध्यायों में बताया जा चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि १८०० ई० पू० के लगभग शाम के 'हाइक्सोस' लोगों ने मिस्र पर हमला किया था और इन लोगों के पास घुड़सवार सेना भी थी। इन लोगों ने मिस्र वासियों को सहज में पराजित कर लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक मिस्र पर शासन किया था। सम्भवतः उसी समय में मिस्र में घोड़ों तथा रथों का प्रचलन हुआ।[1] बाद में मिस्र वासी रथ अपने यहां तैयार करने लगे थे और ये रथ बहुत हल्के होते थे।

मिस्र पर आक्रमण करके उसे पराजित करने वाले ये हाइक्सोस कौन थे? इतिहास से पता चलता है कि ये लोग सीरिया (शाम) के खुर्री मितन्नी तथा हित्ताइट जातियों के ही मिले जुले दल के थे। इन सभी जातियों का भारत के आर्यों से सम्बन्ध था जैसा कि पूर्व के अध्यायों में बताया जा चुका है। आगे 'भारतीय सभ्यता का दूर देशों में विस्तार' शीर्षक अध्याय में भी इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार पणि लोगों के पश्चात् भारत के ही आर्यों की कुछ अन्य शाखायें एक बार फिर मिस्र में शासन करने पहुँची। ये लोग अपनी सेना में रथ और घोड़े रखते थे जिनकी युद्ध में उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। इसी कारण पश्चिम के देशों में रथ और घोड़े अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए।

मिस्र और मितन्नी—

यह एक ऐसा समय था जब पश्चिमी एशिया तथा आस-पास की चार शक्तियाँ—खुर्री, मितन्नी, हित्ताइट, मिस्र तथा असुर—आपस में अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रतिद्वन्द्विता कर रही थीं। खुर्री तथा मितन्नी राज्यों को इतिहासकारों ने आर्यों का राज्य माना है। मितन्नी एक बड़ा राज्य था जिसका विस्तार फरात नदी के दोनों ओर था। यह राज्य १५ वीं शताब्दी ई० पू० में पूर्ण उन्नति पर था तथा यह मैसोपोटामिया और शाम का एक सम्पन्न राज्य समझा जाता था। असुरों की शक्ति भी इन दिनों वृद्धि पर थी तथा हित्ताइट राज्य भी सम्पन्न था। अतः उक्त सभी शक्तियाँ एक दूसरे को गिराने की चिन्ता में थीं तथा उसके लिये उद्योग-रत थीं। कभी-कभी दो शक्तियाँ किसी तीसरी के विरुद्ध आपस में सन्धि भी कर लेती थीं। हित्ताइट तथा असुरों की बढ़ती हुई शक्ति से मितन्नी और मिस्र दोनों को ही खतरा उत्पन्न हो गया था। हित्ताइट राजा मिस्र पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में करने की भी योजना बना रहा

1 *The chariots for warfare and for peacetime travel were introduced from the East in the time of the Hyksos about 1800 B C with horses - Encyclopedia Brittanica Egypt*

The horse was unknown in Egypt before the invasion of Hyksos who introduced it from Syria It first appears in the Tomb of Paten shortly after that time - Private Life of Tutenkhamen Foot note p 126

था। अतः मितन्नी और मिस्र दोनों को ही एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता जान पड़ी। अतः इन दोनों में सन्धियाँ ही नहीं हुईं—वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगे। विवाह के प्रस्ताव प्रायः मिस्र की ओर से आये तथा इसके लिए उन्हें मितन्नी से बार-बार आग्रह भी करने पड़े। अन्त में मितन्नी के राजा अपनी कन्यायें मिस्र के राजाओं को देने को तैयार हो गये तथा उनके कई विवाह हुए। अमेनोफिस तृतीय का विवाह मितन्नी के राजा दशरथ की पुत्री के साथ तथा अमेनोफिस चतुर्थ का विवाह दशरथ की पुत्री से हुआ। इन कन्याओं के नाम गिलुखिपा तथा तदुखिपा बताये जाते हैं। सम्भव है उनके संस्कृत नाम कुछ और हों, क्योंकि मितन्नी के राजा आर्य थे और उनके नाम भी वैसे ही होते थे।

मितन्नी के राजा का नाम ऋतोरम (जिसे आर्तम भी लिखा जाता है) तथा उसके पौत्र का नाम 'दशरथ' यह सिद्ध करता है कि ये राजा आर्य जाति के थे। मितन्नी और खित्ताइ राजाओं में जो सन्धि हुई जिसका लिखित विवरण बोगजकोई में प्राप्त हुआ है—उसमें इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं का सन्धि के साक्षी रूप में आवाहन किया जाना भी यही सिद्ध करता है कि मितन्नी के लोग आर्य थे तथा इस प्रकार खित्ताइ लोग या तो आर्य थे या कम से कम आर्य सभ्यता से प्रभावित अवश्य थे। तात्पर्य १७ वीं १८ वीं शताब्दी ई० पू० में पश्चिमी एशिया में आर्य लोग पहुँच चुके थे तथा वहाँ अपने राज्य भी स्थापित कर चुके थे। तब उससे पूर्व मिस्र में भी भारत के आर्यों की कुछ शाखाओं ने अपना राज्य स्थापित किया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मिस्र में तूतानखामेन के १८ वें राजवंश के पश्चात् जो १६ वाँ राजवंश स्थापित हुआ उसके संस्थापक का नाम 'राम' से यही सिद्ध होता है कि यह लोग भी आर्य थे—यह सम्भव है कि अधिक समय तक भारत से दूर के देशों में निवास करने के कारण उनमें आर्य संस्कारों की शुद्धता न रही हो तथा उन देशों की सभ्यता का कुछ प्रभाव पड़ चुका हो। कर्नल टाड तथा श्री सुधांशु कुमार राय ने इस 'राम' का सम्बन्ध अवध के राजा 'राम' से माना है और कहा है कि मिस्री संस्कृति के निर्माता किसी सुदूर अतीत में भारत से ही मिस्र में पहुँचे थे।

रूसी विद्वान कर्नल अल्काट का भी कथन है कि आज से कोई आठ हजार वर्ष पहले भारत ने अपने यहाँ के प्रवासियों का एक दल बाहर भेजा था जो अपने साथ भारत की कलायें और ऊँची सभ्यता उस स्थान में ले गये जो आजकल इजिप्ट अथवा मिस्र के नाम से प्रसिद्ध है। 'इण्डिया इन ग्रीस' के लेखक श्री प्राकोक का भी विचार है कि उत्तरी पश्चिमी हिन्दुस्तान तथा हिमालय प्रान्त के लोगों ने ही मिस्र का उपनिवेश बसाया था।

पणियों के सम्बन्ध में—

मिस्र में राजवंश की स्थापना करनेवाले लोगों का सम्बन्ध विशेष रूप से पणियों से बताया जाता है। पणि लोग प्रसिद्ध तथा कुशल व्यापारी थे तथा अत्यन्त प्राचीन काल में भी वे व्यापार के लिये दूर दूर के प्रदेशों में पहुँच गये थे। पश्चिमी एशिया के तटों पर तथा उसके बाद भूमध्यसागर के तटों पर उनकी अनेक बस्तियाँ बसी होने का पता लगा है। अतः यदि वे लोग मिस्र देश तक भी पहुँचे हों तो आश्चर्य की बात नहीं है। प्रो० पिल्डस नामक एक यूरोपीय विद्वान का भी मत है कि मिस्री और पणि एक ही थे। ये लोग लालसागर पार करके नील नदी के प्रदेश में आये और वहीं बस गये। लालसागर का यह देश पुनपापुन्त कहलाता था।

पणियों के सम्बन्ध में भी अविनाशचन्द्र दास का मत है कि यह सप्तसिन्धु प्रदेश में बसी हुई आर्यों की एक जाति थी जो व्यापारी जाति होने के कारण जल और थल दोनों पर व्यापार करती थी। ये लोग अपने क्रूर कर्मों के कारण तथा वैदिक धर्म और देवताओं में अविश्वास के कारण अत्यन्त घृणित माने जाते थे। आर्यों ने युद्ध द्वारा इनको इतना तंग किया कि कुछ तो सप्त सिन्धु छोड़कर नाविक रूपमें समुद्र में रहने लगे। ये लोग पहले गुजरात में और फिर दक्षिणी तट पर पहुँचे और वहाँ से बढ़ते बढ़ते ये लोग पेलिस्ता अरब आदि देशों में पहुँचे। इन्हीं में से एक दल जिसमें दास व दस्यु लोग भी शामिल थे ईरान और अरब की ओर बढ़ गया फिर वहाँ से मिस्र अथवा इजिप्त में जाकर बस गया।[1]

प्राचीन मिस्र वालों की कुछ अन्य बातें भी भारतवासियों से मिलती जुलती थीं। ये लोग सूर्य के अनन्य उपासक थे। दिन में दो बार स्नान करते, मृगचर्म पर बैठते तथा पूजा पाठ करते। ऐसी ही बातों को देखकर भी अविनाशचन्द्र दास का कथन है कि भारत के आर्यों ने ही मिस्र में पहुँचकर वहाँ अपनी सभ्यता का विस्तार किया था।

'हिन्दू अमेरिका' के लेखक श्री चमनलाल का कथन है कि मिस्र तथा भारत दोनों ही देशों में कमल एक पवित्र तथा राजकीय पुष्प माना जाता था—यह बात भी विशेष महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यही जान पड़ता है कि किसी सुदूर अतीत-काल में भारत के ही लोगों ने पश्चिमी देशों में होते हुए मिस्र तक पहुँचकर अपनी बस्तियाँ बसाई थीं तथा अपनी सभ्यता का प्रसार किया था।

---

1 Rigvedic Culture — Abinas Chandra D.. P. 182

अध्याय ६

चीन की प्राचीन सभ्यता

चीन देश आकार में जितना लम्बा-चौड़ा है, सभ्यता में भी उतने ही लम्बे काल का है। उसकी सभ्यता विश्व की इनी गिनी सबसे लम्बी सभ्यताओं में गिनी जाती है। विशेषत इस कारण कि भारत और चीन दो ही देश संसार में ऐसे हैं जिनकी सहस्रों वर्ष पुरानी सभ्यतायें आज तक बहुत कुछ अविच्छिन्न रूप में जीवित चली आ रही हैं। संसार की अन्य प्राचीन सभ्यतायें—सुमेर, बेबिलोनिया, असुर, मिस्र आदि की—कभी की नष्ट हो चुकीं—मिस्र को छोड़कर आज उन देशों के नाम भी इतिहास के पृष्ठों में ही रह गये हैं, किन्तु भारत और चीनकी सभ्यतायें आज भी प्राय वैसी ही हैं—वही धर्म, प्राय वही सामाजिक जीवन, वे ही आचार विचार और वैसे ही विवाहादि संस्कार। चीन के लोग भी यह मानते हैं कि भारत, मिस्र तथा बेबीलोनिया की सभ्यताओं के बाद उनकी सभ्यता ही संसार में सबसे अधिक पुरानी है—चार पाँच हजार वर्ष अथवा इससे भी अधिक काल की। चीनी परम्पराओं के अनुसार उनके इतिहास का स्वर्णकाल अब से पाँच हजार वर्ष अथवा ईस्वी सन् से ३ हजार वर्ष पूर्व था। यूरोप के देशों से तो उसकी सभ्यता बहुत अधिक पुरानी है ही। 'प्राचीन यूनान जब जवान था तब भी चीन सभ्यता में बूढ़ा हो चुका था।' यूनान ने जब सिकन्दर महान् पैदा किया उससे कई शताब्दियों पूर्व चीन कनफ्यूशियस महान् को जन्म दे चुका था। चीनी लोग अपनी सभ्यता को बहुत पुरानी ही नहीं बहुत उच्चकोटि की भी मानते हैं।

चीन की सभ्यता की भाँति ही चीन का इतिहास भी काफी पुराना है। यद्यपि उसका वर्तमान नाम 'चीन' जो वहाँ के चिन राजवंश के कारण पड़ा—बहुत बाद का है। चीन का पुराना नाम 'सिरिका' मिलता है जो मंगोल शब्द 'सिरिक' से बना है। सिरिक का अर्थ होता है 'रेशम'। इसका अर्थ यह है कि चीन अपने रेशमके उद्योग के लिये बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। रेशम का उद्योग उसकी एक विशेषता थी जो किसी अन्य देश में नहीं पायी जाती थी। इसी कारण चीन का नाम ही 'सिरिका' अर्थात् रेशम का देश पड़ गया। यूरोप में उसे 'मिडिल किंगडम' अर्थात् मध्यवर्ती राज्य भी कहा जाता था। चीनी लोग स्वयं भी अपने देशका नाम 'चुंग हुआ' अथवा 'चुंग कुओ' कहते हैं जिसका अर्थ होता है—फूलों से भरी हुई मध्यवर्ती भूमि।

सीथिया
सेरिका
(प्राचीन चीन)

चीन की प्राचीनता—

यूरोपीय विद्वान भी यह मानते हैं कि आदि मानव सृष्टि एशिया में ही हुई होगी क्योंकि पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति के प्रमाणस्वरूप जिन प्राचीन कंकालों तथा कपालों का पता लगा है उनमें एक कपाल 'पेकिंग मानव' का भी है, जिसका काल लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व का अनुमान किया जाता है। यह खोपड़ी पेकिंग नगर के उत्तर में एक प्राचीन गुफा में प्राप्त हुई थी। यह मनुष्य सदृश प्राणी सम्भवतः प्लाइस्टोसीन अर्थात् निकटतम जीवन के युग का है जो पुरा पाषाण युग से भी पूर्व का समझा जाता है। इन लोगोंके पास पत्थर के तथा हड्डियों के भद्दे हथियार होते थे। चीन में पुरा पाषाण युग तथा नव-पाषाण युग के भी चिह्न मिले हैं। हड्डियों के और चकमक पत्थर के औजार उत्तरी चीन में कई जगह मिले हैं। मिट्टी के बर्तन सुन्दर आकृतियों में चित्रित मिले हैं। ये आग पर पकाये हुए हैं। ये वस्तुएँ कम से कम २००० वर्ष ई०पू०की समझी जाती हैं।

जहाँ तक पता लगाया गया है चीनी लोगों की मुख्य बस्तियाँ सबसे पहले तो उत्तर पूर्वी चीन में ह्वांगहो अथवा पीली नदी के आस पास पाई गई हैं। यहीं से ये लोग यांगत्सीक्यांग नदी के आस-पास तथा अन्य दिशाओं में फैल गये। ये लोग पीली नदी की घाटी में कहाँ से आये इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। यूरोप के कुछ विद्वान यह मानते हैं कि संसार के प्रत्येक भाग में आजकल जो लोग बसे हुए हैं वे सभी प्राचीन काल में कहीं न कहीं बाहर से आकर यहाँ बसे थे। अतः चीनके निवासियों के सम्बन्ध में भी उनका विचार है कि वे विभिन्न स्थानों से विभिन्न समयों में आकर चीन में बसे। कुछ लोग पश्चिम की ओर से तरिम उपत्यका के मार्ग से आये, कुछ उत्तर से आये और कुछ दक्षिण से। इस प्रकार वे लोग कई स्थानों से आकर ह्वांगहो नदी के आस पास बस गये। कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि चीनके सबसे पुराने निवासी दक्खन पठार की घाटियों से आये होंगे और वहाँ से वे सुमेरी सभ्यता अपने साथ लाये थे। इस मत के समर्थक प्रो० टेरीन डी लेकूपरी हैं जिन्होंने अनेक प्रमाणों सहित बताया है कि चीन के लोग २३ वीं शताब्दी ई० पू० में कैस्पियन सागर के दक्षिणी भाग से पूरब की ओर बढ़कर इस भूमि में आये। इसके समर्थन में उन्होंने चीन और अक्काद की प्राचीन लिपियों में बहुत सी समानताएँ बताई हैं तथा दोनों देशों के धार्मिक और सामाजिक रीति रिवाजों और विश्वासों में भी समानता दिखाई है। उनका यह भी कहना है कि चीन के सम्राट याओ (२१ शताब्दी ई०पू०) ने चीन को जो १२ भागों में बाँटा था। यह विभाजन सुसियाना (एलम) के १२ प्रान्तों के अनुकरण में ही किया गया था।[1] कुछ लोग उन्हें तिब्बत के पठार से आया हुआ भी बताते हैं।

---

1 China by Robert K. Douglas

इसके विपरीत कुछ लोग अनुमान करते हैं कि चीनी और सुमेरी दोनों के पूर्वज मध्य एशिया में रहते थे—उनमें से कुछ लोग पश्चिम दक्षिण में गये और वे सुमेरी कहलाये तथा कुछ पूर्व की ओर आ गये जो वर्तमान चीनियों के पूर्वज थे। कुछ लोग मानते हैं कि चीनी सभ्यता दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व से आई तथा कुछ अन्य लोगों का मत है कि चीनी लोग कहीं बाहर से नहीं आये और न चीन की सभ्यता ही बाहर से आई है।

वास्तव में यह अन्तिम मत सबसे अधिक युक्ति सगत तथा ठीक जान पड़ता है। हाल में भूगर्भिक सर्वेक्षण विभाग के सर्वेक्षण में होनान प्रान्त में तथा अन्य स्थानों पर ऐसे अवशेष मिले हैं—औजार बर्तन आदि—जो उन वस्तुओं से मिलते-जुलते हैं जिन्हें चीनी लोग ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ में काम लाते थे। 1 इसके अतिरिक्त चीनियों के पास जो पुराना साहित्य है उसमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि वे कहीं बाहर से आये हों। 2 इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि चीनी लोग कहीं बाहर से नहीं आये और न उनकी सभ्यता ही कहीं बाहर से आई। उसका विकास चीन में ही स्वतन्त्र रूप से हुआ। शाग राजवंश के काल में जो द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त में समाप्त हुआ यहाँ काँच की वस्तुएँ भी मिलने लगती हैं। इसके पश्चात् चाऊ कालीन कांस्य कला की काफी उन्नति हुई।

चीनी लोग अपनी सभ्यता पर तथा अपने इतिहास पर काफी गर्व करते हैं। अपने इतिहास के सम्बन्ध में वे मानते हैं कि संसार में सबसे पहिला मनुष्य चीन में ही हुआ था। उसका नाम पानकू था और उसे दैवी शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह चीन का ही नहीं संसार भर का राजा था। उसकी बहुत पीढ़ियों बाद यूचाओ हुआ जिसने लोगों को सुखपूर्वक रहने के लिये मकान बनाना सिखाया। फिर सुइ जन हुआ जिसने अग्नि का आविष्कार किया। फिर फू हसी हुआ जिसने मनुष्यों को शिकार करना, मछली पकड़ना और पशुओं को पालना सिखाया। उसी ने विवाह की प्रथा चलाई, उसी ने गान के यन्त्रों का आविष्कार किया और चीनियों को गायन सिखाया। उसी ने लिपि में सुधार कर चित्र लिपि का प्रचलन किया। उसने समय के माप का भी उपाय निकाला जिससे बाद में तिथि-पत्र प्रचलित हुआ। इस प्रकार फू हसी चीन के प्राचीन इतिहास अथवा अनुश्रुतियों का एक प्रसिद्ध व्यक्ति है जिसका काल ३ हजार ई० पू० के लगभग का बताया जाता है। चीन के लोग फू हसी को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि इसी काल में चीनी लिपि तथा लिखित साहित्य की खूब उन्नति हुई—धर्म और दर्शन ने भी उन्नति की।

---

1 Encyclopaedia Brittanica Vol V China p 590
2 History of the Far East Hutton Webster p 33

चीनी अनुश्रुतियों के अनुसार फू-हुसी के बाद शेन नग हुआ जिसने लोगों को खेत जोतना और फसलें बोना सिखाया। उसी ने पेड़ पौधों में औषधियों के गुणों का भी पता लगाया। शेन नग के बाद हुआगती हुआ जिसका अर्थ है पीला सम्राट। इसका यह नाम इस कारण पड़ा कि उसे पीला रंग बहुत पसन्द था। वह पीले रेशमी वस्त्र पहनता था तथा उसके महल की छतें भी पीले रंग से रंगी जाती थीं। इसने अपने देश की सीमायें बहुत बढ़ाई, तिथि-पत्र में सुधार किया, लोगों के रहने के लिये मकान और नगर बनवाये और व्यापार भी शुरू कराया। इसी की पत्नी ने रेशम का आविष्कार किया और रेशमी वस्त्रों को तैयार करना लोगों को सिखाया। इसके काल के सम्बन्ध में जो अनुमान किये गये हैं उसके अनुसार उसे ३ री सहस्रा ब्दी ई० पू० (२७०० अथवा २८०० ई० पू०) बताया जाता है।[1] बहुत से लोग इस हुआगती को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं परन्तु यूरोपीय इतिहास लेखक यहाँ तक के काल को अनुश्रुतियों अथवा दंत कथाओं का ही काल मानते हैं।

इतिहास—

चीनियों में एक कहावत है कि भूतकाल के ज्ञान द्वारा ही वर्तमानकाल को समझा जा सकता है। यह उनके प्राचीनता प्रेम का द्योतक है। परन्तु चीनियों के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में ऐसे दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं होते जिनके आधार पर प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सके। इसी कारण चीन के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ कहाँ से किया जाय इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग ३००० ई० पू० के काल को ऐतिहासिक काल मानने के पक्ष में हैं, कुछ लोग २५०० ई० पू० के काल को और कुछ लोग छठवीं शताब्दी ई० पू० से ही वहाँ के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ मानते हैं। चीनी लोग अपनी परम्पराओं के अनुसार मानते हैं कि उनके देश का 'स्वर्णकाल' ईसा से लगभग ३ सहस्र वर्ष पूर्व था जबकि चीन में फू हुसी तथा हुआगती का राज्य था तथा देश सुखी और समृद्ध था।

लगभग २५०० ई० पू० से चीन के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कुछ विश्वसनीय आधार मिलने लगते हैं। चीन में प्राचीन इतिहास सम्बन्धी एक पुस्तक है जो 'शु किंग' कहलाती है। इसमें याओ शुन और यू नाम के राजाओं का उल्लेख किया गया है और यह माना गया है कि ये राजा लोग सम्राट हुआगती की चार पीढ़ियों बाद तथा उसके आगे हुए। चीन के सुप्रसिद्ध विद्वान दार्शनिक कनफ्यूशियस (कुंग-फू-त्से) ने भी चीन का प्राचीन इतिहास उस समय प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है और उन्होंने यह इतिहास याओ नाम के राजा से ही शुरू किया है। कनफ्यूशियस ने याओ

1 Encyclopedia Brittanica Vol. 5 China P. 520

को बड़ा विद्वान और बुद्धिमान बताया है और लिखा है कि उसके समय में चीन की सीमाओं का काफी विस्तार हुआ तथा प्रान्तों को सुव्यवस्थित किया गया। उ होंने शुन और यू नाम के राजाओं का भी उल्लेख किया है और इन तीनों राजाओं को आदर्श राजा बताया है।

शुन के समय में ही (लगभग २३ वीं या २४ वीं शताब्दी ई० पू०) चीन में एक भयंकर बाढ़ आने का उल्लेख मिलता है जिससे चीन में भारी हानि पहुँची। अनुमान किया गया है कि यह बाढ़ ह्वागहो नदी (पीली नदी) में आई होगी जिसमें प्राय सदा से बाढ़ें आती रही हैं। इस बाढ़ को रोकने के लिये यू नाम के एक अधिकारी को नियुक्त किया गया था। जिसने ९ वर्ष तक निर तर परिश्रम करके नदी को पुरानी धारा में लौटा दिया। उसकी इस सेवा तथा सफलता से चीन के लोग उससे इतने प्रसन्न हुए कि शुन की मृत्यु के बाद उन्होंने यू को ही राजगद्दी पर बैठाया। उन्होंने चीनमें हुसी राजवंश की स्थापना की। उसने जनहित के बहुत से काम किये और उ हें पत्थरों पर खुदवाया भी। इन्हीं कारणों से याओ, शुन तथा यू नाम के राजाओं को ऐतिहासिक मानना उचित है।

यू के हुसी वंशका राज्यकाल २२०५ ई०पू० से १७६६ ई०पू० तक माना जाता है इस वंश का अन्तिम राजा चिऐहकोइ था जो अत्यन्त दुष्ट, अत्याचारी तथा दुराचारी था। अत लोगों में उसके विरुद्ध विद्रोह फैल गया। इस विद्रोहका मुखिया ताग नाम का एक व्यक्ति था जिसने राजा को पराजित कर गद्दी से उतार दिया और स्वय गद्दीपर पर बैठकर एक नया राजवंश चलाया यह शाग या यिन राजवंश कहलाया। यह वंश १७६६ ई०पू० से ११२२ ई०पू० तक चलता रहा तथा इस वंश में २८ राजा हुए। हाल में प्राप्त पुरातत्व सम्बन्धी खोजों से भी शाग वंश के अस्तित्व का समर्थन हुआ है। इस समय चीन में काफी सांस्कृतिक उन्नति हुई। इन राजाओं के पास कांसे के बड़े बड़े सुन्दर बरतन थे जिनसे ज्ञात होता है कि कांसे की कला उस समय काफी उन्नति कर चुकी थी। इन राज ओं के समय की कुछ लिखावट भी मिली है जो चीनी लिपि का पूर्व रूप मानी जाती है। पत्थर व शिल्प के कुछ नमूने भी इस काल के मिले हैं। पिछले वंश के समान इस वंश का २८ वां राजा भी बड़ा विलासी तथा अत्याचारी था। उसने अपनी एक प्रेयसी के लिए एक बड़ा सुन्दर महल बनवाया था। उसकी विलासप्रियता से प्रजा तग आ गई। एक बार फिर विद्रोह खड़ा हुआ और इस बार विद्रोह का नेतृत्व चाऊ नामक एक छोटे राज्यके राजकुमार ने किया। राजा फिर पराजित हुआ तथा गद्दी से उतार दिया गया। ग्लानि के कारण उसने आत्म-हत्या कर ली।

चाऊ राजवंश—

चाऊ राजवंशका काल ११२२ ई० पू० से २२१ ई० पू० तक रहा। चीनके इतिहास का यह एक महत्त्वपूर्ण काल है। इस समय की घटनाओं के भी अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलने लगते हैं। इस वंशके कई राजा बलवान तथा प्रजा हितैषी तक हुए। उन्होंने आसपास के इलाकों पर विजय प्राप्त करके चीन का विस्तार बढ़ाया। चीन के सुप्रसिद्ध धर्म संस्थापक कनफ्यूसियस और लाओत्से इसी कालमें हुए। चीनी साहित्यका पुनरुत्थान का भी यही समय माना जाता है। स्वयं कनफ्यूशियस ने ही बहुत से साहित्य का पुनरुद्धार किया। पहले की कला का भी इस काल में आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ।

किन्तु इस वंश के पिछले राजा कमजोर और अयोग्य हुए और उनके समय में साम्राज्य में अनेक छोटे छोटे राजा सिर उठाने लगे और अशान्ति फैलाने लगे। प्रत्येक सामन्त राजा सम्राट बनने की धुन में रहता। अतः उनमें आपस में भी बहुत से लड़ाई-झगड़े चलने लगे। इससे समस्त देशमें अशान्ति फैली रही। कनफ्यूशियस ने इस काल के सम्बन्ध में लिखा है—'यह सामन्त प्रथा की उन्नति का युग था, राज्य सामन्त प्रथा पर ही टिका हुआ था और इन छोटे छोटे राज्यों के अधिकारी एक प्रकार से स्वतन्त्र शासक बन गये थे। वे अपनी-अपनी सेना भी रखते थे। हाँ, सम्राट द्वारा आवश्यकता के समय बुलाये जाने पर उन्हें अपनी सेना लेकर केन्द्रीय राजधानी में आना पड़ता था।

इस सामन्त प्रथा के कारण ६०० ई० पू० से ही इस वंश का भाग्य सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगा था। राजा के अधिकार से दूरस्थ प्रान्त निकल गये थे। राजा की शक्ति भी नाम मात्र की रह गई थी। अन्तिम राजा नाम मात्र का ही सम्राट था। चीन के अनेक सामन्त उससे भी अधिक शक्ति रखते थे और राजा पूर्णतया उन्हीं के हाथ में रहता था। इसी कारण इन सामन्तों ने देश भर में लूट मार मचा रखी थी। प्रजा उनके अत्याचारों से त्राहि त्राहि कर रही थी। वे लोग आपसमें ही लड़ते रहते थे जिससे चारों ओर अशान्ति छाई रहती थी। इस काल का चीन का इतिहास इन्हीं आपसी लड़ाई झगड़ों का इतिहास है। इन युद्धों में अनेक राजाओं और राजकुमारों ने बड़ी वीरता के काम किये जिनकी कथायें चीन में गाई जाती हैं।

चिन राजवंश—

चीन की प्रसिद्ध दीवार—यह सामन्तियों के प्रकार इन आपसी लड़ाइयों का अन्त हुआ। चिन प्रान्त का राजा अन्य सब सामन्तों से अधिक शक्तिशाली हो गया। उसने कई लड़ाइयाँ जीतीं। अन्त में उसने सम्राट के विरुद्ध भी युद्ध छेड़ दिया और कई लड़ाइयों में उसको पराजित किया। अन्त में उसने सम्राट को गद्दी से उतारकर चाऊ वंश का अन्त कर दिया। चिन प्रान्त का यह विजयी राजा जिसका नाम चीह

छागली था अब गद्दी पर बैठा और इस प्रकार चीनमें 'चिन' राजवंश की स्थापना हुई। इसी वंश के नाम पर देश का नाम भी 'चीन' पड़ा जो अब तक चला आ रहा है।

शीह के रूप में संसार का एक महान् व्यक्ति चीन की गद्दी पर बैठा और उसने एक महान तथा ऐतिहासिक राजवंश की स्थापना की। उसने कई महान् कार्य किये। जिनमें से एक चीन की महान् दीवार है। भूमि के ऊपर स्थापत्य के एक अमर स्मारक के रूप में यह आज तक विद्यमान है।

चीन के सामंतवाद की बुराइयों को शीह भलीभाँति देख चुका था। अतः उसने सबसे पहले चीन को सुदृढ़ बनाने की ओर ध्यान दिया। उसने सामंतों के अधिकार कम किये और फिर सामंती प्रथा को ही समाप्त कर दिया तथा देश भर में फैले हुए अनेक छोटे छोटे राज्यों को साम्राज्य में मिला दिया।

चीन की एक विशेषता यह रही है कि यहाँ के लोग अपनी पुरानी प्रथाओं के बड़े पक्षपाती होते हैं। सामंतवाद की बुराइयों को सभी लोग जानते और समझते थे। किन्तु जब शीह ने सामंतवाद को मिटाने का प्रयत्न किया तो चीन के अनेक पण्डितों और विद्वानों ने सम्राट का विरोध किया तथा पुराने लेखों दिखा दिखा कर सामंत प्रथा का समर्थन करना आरम्भ किया। कनफ्यूशियस की भी दुहाई दी गई। यह सब देख कर सम्राट बड़ा क्रुद्ध हुआ। इस क्रोध में उसने निश्चय किया कि पुराने जिन लेखों और प्रमाणों के आधार पर सामंत प्रथा का समर्थन किया जाता है तथा उसके सुधार का विरोध किया जाता है उन उन प्रमाणों को ही क्यों न नष्ट कर दिया जाय। वह यह भी नहीं चाहता था कि उससे पहिले का कोई राजा 'सम्राट' कहलाये। अतः उसने अपनी पदवी 'प्रथम सम्राट' रखी जिसका अर्थ यह हुआ कि उससे पहिले चीन में कोई 'सम्राट' नहीं हुआ, सब साधारण राजा ही हुए हैं और वही सर्वप्रथम 'सम्राट' है। उसने अपनी इस पदवी की घोषणा सार्वजनिक रूपसे करा दी। फिर उसने पुराने लेखों को नष्ट करने के उद्देश्य से यह आज्ञा प्रसारित की कि पुरानी समस्त पुस्तकें को अग्नि के समर्पण कर दिया जाय। यदि किसीके पास पुरानी पुस्तकें पाई जायेंगी तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जायगा। इस आज्ञा से चीन में बड़ी हलचल मची, चारों ओर भारी असंतोष फैला परन्तु राजा अपनी आज्ञा पर दृढ़ था, अतः हजारों प्राचीन ग्रंथ जलाकर नष्ट कर दिये गये। परन्तु ऐसे भी कुछ लोग थे जिन्हें अपने प्राचीन साहित्य का मोह अपने प्राणों से भी अधिक था। ऐसे लोग अपने बहुमूल्य ग्रंथों को लेकर जंगलों तथा पहाड़ों में जा छिपे अथवा उन ग्रंथों को कन्दराओं तथा ऐसे अन्य अगम्य स्थानों में छिपा आये जहाँ उनका पता न लगे। इस प्रकार बहुत-सा महत्वपूर्ण साहित्य नष्ट होने से बच गया।

देश में एकता तथा शान्ति स्थापित हो जाने पर शीह ने उत्तरी सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। इन दिनों चीन की उत्तरी सीमा पर बसे हुए मंगोल अथवा तातार लोग अपनी घुड़सवार सेना लेकर बार-बार चीन की भूमि पर आक्रमण करते रहते थे तथा लूट मार और बरबादी फैलाते थे। इन आक्रमणों को रोकने के लिये सम्राट ने अपने राज्य की उत्तरी सीमा पर एक बड़ी तथा सुदृढ़ दीवार बनाने का निश्चय किया जो मंगोलों की घुड़सवार सेना को रोक सके। २१४ ई० पू० के लगभग उसने इस दीवार का काम आरम्भ कर दिया। कहते हैं कि इस दीवार के बनाने में लगभग ५ लाख मनुष्य लगे थे तथा उन्होंने कई वर्षों तक निरन्तर श्रम करके यह विशाल दीवार तैयार की। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस दीवार के कुछ भाग पहले से ही विद्यमान थे। शीह ने उन्हें सुदृढ़ किया तथा विस्तृत भी किया। कुछ भी हो चीन की यह प्रसिद्ध दीवार शीह की ही बनवाई हुई मानी जाती है।

यह विशाल दीवार पेकिंग नगर के उत्तर पश्चिम में कनचाऊ नामक स्थान से शुरू होकर पूर्व में समुद्र तक अर्थात् शान हाइ क्वान नामक स्थान तक चली गई है। इसकी कुल लंबाई १५०० मील के लगभग है। यह मिट्टी और पत्थर की बनी हुई है तथा कहीं-कहीं ईंट भी लगा दी गई है। पूर्वी छोर के समीप यह २० से तीस फुट तक ऊंची तथा आधार पर १५ से २५ फीट तक मोटी है। बीच बीच में बुर्ज बने हुए हैं जिनपर बैठकर चौकीदार लोग उत्तर की ओर शत्रुओं की हलचलों की देखभाल रखते थे। जब शत्रु दल आता दिखायी देता तो उन बुर्जों पर अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती थी जिससे संकेत पाकर चीन की सेनायें तैयार हो जायें।

चीन की यह विशाल दीवार मिस्र के पिरामिडों की तरह संसार के ७ आश्चर्यों में गिनी जाती है यद्यपि यह इतनी विशाल है कि इसके सामने मिस्र के पिरामिड बौने ही दिखाई देते हैं।

इस प्रकार सम्राट शीह ह्वांगती ने कमजोर और टुकड़ों में बटे चीन को सुदृढ़ तथा सुसंगठित बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया। उसने कुछ सड़कें भी बनवाई तथा सुरंगें। नदियों पर पुल बनवाए तथा यातायात के साधनों में उन्नति की। उसने प्रान्तों की शासन-व्यवस्था में भी सुधार किया। इन्हीं कारणों से वह आधुनिक चीन का निर्माता कहा जाता है।

२१० ई० पू० इस महान 'प्रथम सम्राट' का देहावसान हुआ। उसका सबसे छोटा पुत्र गद्दी पर बैठा जो 'द्वितीय सम्राट' कहलाया। कुछ दिन बाद उसकी हत्या कर दी गई। फिर हान वंश के राजा गद्दी पर बैठे।

ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से ही चीन के सम्राट अपने को 'स्वर्ग का पुत्र' कहने लगे। उनका विश्वास था कि वे ईश्वर की इच्छा से पृथ्वी पर राज्य करते हैं तथा पृथ्वी

पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। चिन वंश के राजाओं ने भी अपनी यही उपाधि धारण की थी।

हान वंश—

२०६ ई० पू० में एक नया वंश चीन की गद्दी पर बैठा जो 'हान वंश' कहलाया। इसका संस्थापक एक किसान था जिसका नाम था काओ-त्सी। यह वंश लगभग ४०० वर्ष तक अर्थात् २२० ई० तक राज्य करता रहा। यह भी चीन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल है। इस समय में चीन के प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार हुआ। जो साहित्य 'प्रथम सम्राट' के समय में जंगलों और पहाड़ों में छिपाकर रख दिया गया था वह अब प्रकट होने लगा क्योंकि अब उसके रखने पर प्राण-दण्ड का भय नहीं रह गया था। इन पुस्तकों की प्रतिलिपियां अब तैयार करायी गयीं तथा प्रसारित की जाने लगीं। कनफ्यूशियस के कानूनों की पुस्तकें भी पुनः प्रकट हुईं। जो प्राचीन पुस्तकें नष्ट हो गई थीं वे पुराने लोगों की स्मृतियों के आधार पर पुनः लिखी गईं। जिन लोगों ने अपने प्राण संकट में डालकर पुराना बहुमूल्य साहित्य सुरक्षित रखा था उनका अब बड़ा आदर होने लगा।

इन राजाओं के समय में चीन पर उत्तर के मंगोलों के निरंतर आक्रमण होते रहे तथा अनेक भयंकर युद्ध भी हुए। चीन की विशाल दीवार भी इन आक्रमणों को पूर्णतया न रोक सकी। एक बार तो मंगोल सैनिक इतनी बड़ी संख्या में चीन में घुस आये कि उन्होंने चीनियों की तीन लाख की विशाल सेना को घेर लिया। चीनी सम्राट भी घिर गया और उसे अनेक अपमानजनक शर्तें स्वीकार कर संधि करनी पड़ी। शर्तों के अनुसार चीन को रेशम, जवाहरात, चावल, अंगूरी शराब तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ अपनी एक राजकुमारी भी मंगोल राजा को देनी पड़ी। इस प्रकार चीनी राजकुमारियों का शक्तिशाली तातार राजाओं से विवाह करने की प्रथा चल पड़ी जो आगे बहुत काल तक चलती रही।

परन्तु कुछ समय पश्चात् यह क्रम बदल गया। दूसरी शताब्दी ई० पू० में हान राजाओं ने तातारों के ऊपर तीन प्रबल आक्रमण करके उनके 'उर्दू' (लश्कर) को छिन्न भिन्न कर दिया। इन आक्रमणों के फलस्वरूप तातारों तथा हूणों की सैनिक शक्ति तोड़ दी गई। सहस्रों तातार तथा हूण बन्दी बनाये गये और उन्हें चीन के निर्माण कार्यों में लगाया गया। इसके कुछ समय पश्चात् ही मंगोल तथा हूण शक्ति सदा के लिये छिन्न भिन्न हो गयी।

इस प्रकार हान वंश का भी चीन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है तथा अमिट प्रभाव है। यह लगभग चार सौ वर्ष का लम्बा काल चीन के इतिहास में 'स्वर्ण काल'

कहलाता है। साहित्य, कला, व्यापार सभी की उन्नति इस काल में हुई। चीन का विस्तार भी बढ़कर मंगोलिया, मंचूरिया और कोरिया तक हो गया। इसी कारण चीनी लोग अपने को 'हान पुत्र' कहलाने में गौरव तथा गर्व का अनुभव करते हैं।

चीन की सभ्यता—

चीनी लोगों का कथन है कि उनकी सभ्यता मिस्र तथा बेबीलोन के समान ही पुरानी है अथवा इन दो तीन सभ्यताओं के बाद संसार में सबसे अधिक पुरानी है। चीनी लोग फुह्सी को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं और यह मानते हैं कि उसी ने लोगों को पशु-पालन सिखाया तथा विवाहादि के नियम प्रचलित किये। फिर शेन नंग ने कृषि सिखाई, बाजार बनाये और जड़ी बूटियों के चिकित्सा-सम्बन्धी गुणों की खोज की। फिर ह्वांगती ने लकड़ी तथा धातु की कलापूर्ण वस्तुएँ तैयार करना सिखाया तथा मुद्रा का भी आविष्कार किया।

उद्योगों में चीन वालों ने सबसे पहले रेशम का काम सीखा। यह चीनका अत्यन्त प्राचीन तथा प्रमुख उद्योग माना जाता है। चीन का पुराना नाम 'सिरिका' भी यही प्रकट करता है कि रेशम चीन का अति प्राचीन उद्योग है। कहा जाता है कि सम्राट ह्वांगती की पत्नी सीलू ने रेशम के कीड़ों के कोशों में से रेशम निकालने और उसे बुनकर कपड़ा बनाने की कला का आविष्कार किया था। बहुत काल तक रेशमी वस्त्र तैयार करना चीनियों का ही एकाधिकार रहा और वे उन्हें दूर दूर के देशों में भेजकर अच्छा लाभ कमाते थे। चीन में रेशम के कीड़े उत्तरी भाग के बागों में अपने आप पैदा होते थे। मनुष्य की बुद्धि ने उनका व्यावहारिक उपयोग निकाल लिया। भारत तथा यूरोप के देशों में रेशम का उद्योग चीन से ही आया।

प्राचीन चीनियों के अन्य व्यवसाय शिकार करना, मछली पकड़ना खेती करना आदि थे। लकड़ी का सामान, कुर्सी मेज बनाना आदि भी सम्भवतः वे बहुत पहले सीख गये थे।

लिपि तथा साहित्य—

लेखन कला का विकास भी चीन में काफी समय पूर्व हो गया जान पड़ता है। चीन में सबसे पुराने लेख १८०० ई० पू० तक के मिलते हैं। उस समय वहाँ चित्र लिपि का प्रचार था जिसमें अक्षर उनको प्रकट करनेवाली वस्तुओं से मिलते जुलते बनाये जाते थे। उदाहरणार्थ वर्षा का चिह्न था आकाश से गिरती हुई बूँदें और चन्द्रमा को प्रकट करने के लिये नवचन्द्र का आकार बना लिया जाता था।[1] कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के

1 China - Her Life and People - by Mildred Cable and Francesca French

अनुसार चीनी अक्षर दो हजार ऊप ई० पू० से भी पहले के मिलते हैं।2 चीनी पुस्तकें जो प्राचीन काल से पढ़ी जाती थीं लकड़ी के पतले पत्रों पर या बाँस के पत्रों पर लकड़ी या बाँस की कलम से लिखी जाती थीं।

चीन का प्राचीन साहित्य वहाँ के कानून हैं जो कनफ्यूशियस से पूर्व के लोगों के बनाये हुए हैं। उनका संकलन तथा सम्पादन कनफ्यूशियस ने किया था। इसमें २४ वीं शताब्दी ई० पू० से ८ वीं शताब्दी ई० पू० तक का इतिहास भी है इसे शूकिंग कहते हैं। दूसरा एक ग्रन्थ गीतों का संग्रह है जिसे शाहकिंग कहते हैं। इसके बाद कनफ्यूशियस तथा मेंशियस आदि सन्तों के उपदेश ग्रन्थ हैं जिनका चीन में बड़ा आदर है।

धर्म —

कुछ लोगों का मत है कि चीन का सबसे प्राचीन धर्म एक ईश्वरवाद था। यह ईश्वर मनुष्य की पहुँच से बाहर ऊँचे आसमान पर था। वह चराचर सब जीवों के ऊपर हुकूमत करता था। शीघ्र ही और भी देवी-देवता उत्पन्न होने लगे। सूर्य चन्द्र पाँचों ग्रह ये सभी देवताओं का रूप धारण करने लगे। इनकी पूजा होने लगी। माता धरती ने भी इस सूची में स्थान पाया। एक लेखक के अनुसार 'टियन' और 'टो' स्वर्ग और पृथ्वी अथवा द्यावा पृथिवी चीन में बहुत प्राचीन काल से पूजे जाते हैं। फिर आंधी, वर्षा, ग्रीष्म की भीषणता, नदी पवन आदि सभी में किसी न किसी देवता की आत्मा मानी जाने लगी। तात्पर्य यह कि चीन के प्राचीन लोग मुख्यतः प्रकृति के उपासक थे।

पुरखों की पूजा—

इन अनेक देवी देवताओं के साथ पुरखों की पूजा भी होती थी। धीरे धीरे साधारण जनता का धर्म पुरखों की पूजा तक ही सीमित रह गया। देवताओं की पूजा करना केवल राजा या बड़े बड़े सामन्तों का काम रह गया। चीन के सबसे पुराने साहित्य में माता पिता का आदर करने का उल्लेख किया गया है। अतः जान पड़ता है कि यह प्रथा यहाँ इतिहास के पूर्व काल से ही चली आती है। चीनके लोगों का विश्वास है कि पुरखों की आत्मायें परिवार के जीवित व्यक्तियों के मामले में रुचि लेती रहती हैं और उन पर अच्छा या बुरा प्रभाव भी डालती हैं। *प्रत्येक घर में एक तख्ती अलग रख दी* जाती है और यह माना जाता है कि मृतक आत्मायें इन तख्तियों में निवास करती हैं। इन तख्तियों पर समय समय पर भोजन पानी आदि चढ़ाया जाता है। इस प्रकार

2 *There are written remains of Chinese characters dating from long before 2000 B C Encyclopedia Brittanica Vol V China*

आदर तथा सन्तुष्ट होने पर पुरखे अपनी सन्तानों को आशीर्वाद देते हैं। चीन की सभ्यता प्राचीन काल से प्रायः अविच्छिन्न धारा के रूप में चली आ रही है। अतः जो प्रथायें सहस्रों वर्षों पूर्व प्रचलित थीं वे वहाँ आज भी पाई जाती हैं।

चीनी सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता एक सम्मिलित तथा सुसंगठित कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब का मुखिया घर का बड़ा बूढ़ा होता है। वह सबकी भलाई की देख-रेख रखता है तथा कुटुम्ब की भलाई को अपनी मुख्य जिम्मेदारी समझता है। स्त्री, पुत्र, पुत्रवधुएं तथा लड़कियां सब उसी के अधिकार में रहती हैं और वह उन्हें कुटुम्ब की भलाई के लिये दण्ड देने का भी अधिकार रखता है। यह पिता जब तक जीवित रहता है तब तक सब लोग उसका आदर करते हैं तथा आज्ञा पालन करते हैं। मृत्यु के बाद भी उसका आदर किया जाता है। वास्तव में तो चीन में यह माना ही नहीं जाता कि किसी पुरुष की मृत्यु हुई, क्योंकि मृत्यु के बाद भी उसकी आत्मा घर में निवास करती मानी जाती है।

'अपने माता पिता का आदर करो' यही वास्तव में चीनियों का सबसे प्रधान धर्म है। कनफ्यूशियस ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'तीन हजार अपराध ऐसे हैं जिनके लिये दण्ड का विधान किया गया है और इनमें सबसे बड़ा अपराध है—पितृभक्त न होना।' चीनी लोग पुत्रोत्पत्ति की कामना इसीलिये करते हैं कि पुत्र उनके यश को बनाये रखेगा तथा पितरों की पूजा को चालू रखेगा।

इस प्रकार पितृभक्ति ही चीनी धर्म तथा सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है। यह चीनी जीवन की रीढ़ समझी जाती है, जिसके बिना चीनी जीवन चल ही नहीं सकता। पितृ भक्ति ही वहाँ के धर्म की जड़ है जिससे अन्य समस्त सद्गुण उत्पन्न होते हैं।

एक चीनी लेखक का कथन है कि चीनियों का स्वनिर्मित कोई धर्म नहीं है। अतः वे धर्म के मामले में स्वतन्त्र हैं। चीनी भाषा में 'धर्म' दो शब्दों को मिलाकर लिखा जाता है—१ सुङ्ग (आदर) और २ चिआओ (शिक्षायें या उपदेश)। दोनों शब्दों को मिलाकर अर्थ होता है अच्छी शिक्षाओं के प्रति आदर अर्थात् प्राचीन सन्तों तथा बुद्धिमानों के उपदेशों का आदर करना।[1] वास्तव में चीनी लोक जीवन में इन उपदेशों का भारी आदर किया जाता है।

कनफ्यूशियस—

परवर्ती काल में चीन में उपदेशकों तथा ऋषि महात्माओं के वचनों को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इनमें से बहुतों ने पूर्व उन बातों के समय लिखे गये ग्रन्थ

1 Modern Chinese History - Prof Tan Yun Shan

और इन समहों को धर्म पुस्तक का स्थान प्राप्त हो चुका था। इन प्राचीन कृतियों का संग्रह कनफ्यूशियस नाम के महात्मा ने किया।

इन महात्मा कनफ्यूशियस का चीन के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका असली नाम 'कुँग फुत्से' था जिसका लेटिन रूप 'कनफ्यूशियस' हो गया और अब यही नाम अधिक प्रचलित है। इनका समय ५११ ई० पू० से ४७८ ई० पू० तक का माना जाता है। वर्तमान शान्टुँग प्रान्त में प्राचीन समय में लू नाम की एक छोटी सी रियासत थी। उसी रियासत के ये निवासी थे। इनके पिता वहाँ एक राजकर्मचारी थे। कनफ्यूशियस भी पहले एक राज कर्मचारी बने, फिर अध्यापक हुए और फिर एक प्रशासकीय अधिकारी रहे। पश्चात् ये न्यायाधीश बनाये गये और न्यायाधीश का कार्य उन्होंने बड़ी दृढ़ता तथा निष्पक्षता से किया। जिससे उस लू राज्य में अपराधों की संख्या में काफी कमी हो गई थी।

कनफ्यूशियस ने व्यस्त जीवन में भी अनेक पुस्तकों का संकलन तथा सम्पादन करने का समय निकाल लिया। कई पुस्तकों की टीकायें भी उन्होंने लिखीं। उन्होंने एक नीति शास्त्र भी बनाया जो शीघ्र ही चीन में प्रचलित हो गया। चीन का प्राचीन इतिहास भी उन्होंने लिखा।

धार्मिक मामलों में कनफ्यूशियस का विश्वास था कि संसार में एक केन्द्रीय शक्ति है जो सब प्रकार का नियन्त्रण करती है किन्तु उन्होंने इस शक्ति का नाम नहीं रखा। जीव की अमरता के बारे में उन्हें सन्देह था। वह पुरखों को आदर देने और परिवार प्रथा कायम रखने के दृढ़ पक्षपाती थे। सदाचरण पर भी उन्होंने अधिक जोर दिया और इस बात पर भी जोर दिया कि मनुष्य को मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन अवश्य करना चाहिये।

कनफ्यूशियस ने अपने इन्हीं विचारों का प्रचार चीन में किया। धीरे-धीरे उनके उपदेशों का प्रभाव चीन के लोगों पर बढ़ता गया। उनके शिष्यों की संख्या हजारों तक पहुँच गई। ये शिष्य लोग सदा उनके साथ रहते और उनकी छोटी से छोटी बातों को भी लिखते रहते। वे इन बातों का प्रचार भी करते और चीन की जनता में ये उपदेश बहुत लोकप्रिय हुए।

लगभग ७२ वर्ष की अवस्था में कनफ्यूशियस की मृत्यु हुई और मृत्यु के बाद ही उनकी पूजा देवताओं की भाँति होने लगी। प्राय प्रत्येक बड़े नगर में उनके मन्दिर बन गये, जिनमें उनकी मूर्ति पधराई गई और पूजा होने लगी। उनके उपदेशों का प्रचार धर्म के रूप में ही होने लगा। इस धर्म प्रचार में एक दूसरे दार्शनिक मेन्शियस का बहुत बड़ा हाथ था, क्योंकि मेन्शियस पर कनफ्यूशियस के उपदेशों का भारी प्रभाव पड़ा था।

कनफ्यूशियस का मत अथवा धर्म वास्तव में कोई आध्यात्मिक धर्म न था बल्कि एक सदाचरण की नियमावली थी। उन्होंने राजभक्ति तथा पितृभक्ति को ही मनुष्य का सर्वोच्च धर्म बताया है तथा मनुष्य के प्रति मनुष्य के कर्तव्य पर विशेष जोर दिया है।

ताओ मत तथा बौद्ध मत—

चीन में कनफ्यूशियस के मत के साथ साथ दो मत और प्रचलित हुए—ताओ तथा बौद्ध। ताओ मत के प्रवर्तक लाओत्से थे जो कनफ्यूशियस से पहले हुए। वे बड़े बुद्धिमान समझे जाते थे तथा मौलिक विचारक थे। उनके कुछ अच्छे उपदेश ये हैं—बुराई का बदला दयालुता से दो, बलवान वह है जो अपने को ही जीतता है आदि। उनके उपदेशों के संग्रह का नाम—'ताओ ते किंग' (सदाचार का मार्ग) था। ताओ का अर्थ है मार्ग या पथ। इसी से उनका मत 'ताओ' मत कहलाने लगा। उनके ग्रंथ के नाम का पूरा अर्थ है—संसार में सही तथा सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए सही मार्ग अथवा सदाचार संहिता। यह मत वैसे तो कनफ्यूशियस के मत से भी अधिक पुराना है क्योंकि इसके प्रवर्तक लाओत्से कनफ्यूशियस से पूर्व उत्पन्न हुए थे परन्तु इस मत का विशेष प्रचार तीसरी शताब्दी ई० पू० में ही हुआ। इस मत में भौतिक क्रियाओं तथा आसनों आदि के द्वारा जीवन को अधिक काल तक बढ़ाने के उपायों का भी समावेश है तथा जप-तप आदि भी काफी वर्णित हैं।

बौद्ध मत का प्रचार चीन में इसके बाद में अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० पू० में हुआ। चीन में बौद्धमत की महायान शाखा पहुँची जिसमें गौतम बुद्ध की मूर्ति की पूजा होती थी। बादमें इसके प्रचार का यहाँ इतना प्रभाव पड़ा कि उसके कारण ताओ मत का प्रभाव कम होने लगा। तब बौद्धमत की प्रगति रोकने के लिये ताओ मत के अनुयायियों ने भी अपने मन्दिर और मठ बनवाये वहाँ पुजारियों की नियुक्ति की तथा अनेक प्रकार के उत्सव और त्यौहारों का प्रचलन किया। बौद्ध मत और ताओ मत में बहुत काल तक तीव्र विरोध रहा। चीन का राजा कभी बौद्ध मत मानने वाला होता था और कभी ताओ मत का। कभी एक मत को मिटाने का प्रयत्न किया जाता था कभी दूसरे मत को। बाद में राजाओं ने कनफ्यूशियस के मत को स्वीकार करके अन्य दोनों मतों को गैर कानूनी ठहरा दिया। इस प्रकार बहुत समय तक चीन में इन दोनों धर्मों में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता चलती रही।

किन्तु यह स्थिति भी अधिक काल तक न रही। लोगों के हृदयों में तीनों मतों के लिये स्थान था। धीरे-धीरे तीनों मतों में मेल होने लगा और लोग तीनों का पालन साथ साथ करने लगे। कुछ समय के बाद तो तीनों का इतना मिश्रण हो गया कि उनको पहिचानना कठिन हो गया। यही धर्मों का 'एक अभिन्न' चीन में आज भी है।

अन्य कलायें—

बहुत प्राचीन काल से चीनी लोग यन्त्र विद्या में बड़े कुशल रहे हैं। वे ऐसा रथ बनाते थे जिसका रथी सदा दक्षिण में ही मुँह किये रहता था। काम के बर्तन अच्छे ढालने की कला का विकास उन्होंने कम से कम सातवीं या आठवीं शताब्दी ई० पू० में ही कर लिया था। चाय जो आज संसार में प्रचार पा रही है मूलतः एक चीनी पेय है और यहाँ उसका प्रचार बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। यही देश चाय के पौधे का मूल घर माना जाता है। मिट्टी के सुन्दर और मजबूत बर्तन बनाने की कला का भी इसी देश में विकास हुआ। सुन्दर बर्तन बनाने की सफेद चिकनी मिट्टी आज भी 'चीनी मिट्टी' कहलाती है। चीनी चित्रकला की भी अपनी कुछ विशेषतायें हैं तथा यह कला प्राचीन काल से यहाँ प्रसिद्ध है। रेशम के कपड़े बुनने का उल्लेख मेंशियस (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०) ने अपने ग्रन्थों में किया है तथा बुढ़ापे में आराम देने के लिये उन कपड़ों को आवश्यक बताया है। कुश्ती लड़ने का अभ्यास भी चीन वालों में ईसवी सन पूर्व कई शताब्दियों से होना पाया जाता है। वे एक प्रकार की फुटबाल भी बहुत समय से खेलते आये हैं। एक प्रकार के पोलो का उल्लेख भी चीन के पुराने ग्रन्थों में मिलता है। यह खेल वहाँ सवार घोड़ों पर बैठकर खेला जाता था।

रोगों की चिकित्सा के सम्बन्ध में ऐसा माना जाता है कि चीनी लोग इस कार्य को प्रागैतिहासिक काल से जानते हैं। यद्यपि यह चिकित्सा बहुत प्रारम्भिक ढंग की होती थी। शाङ ती युग में (लगभग एक हजार वर्ष ई० पू० में) वहाँ के चिकित्सक लोग जड़ी बूटियों से, धातुओं से तथा अनाजों और पशुओं से भी कुछ पदार्थ निकालकर उनसे रोगों की चिकित्सा किया करते थे। चीन में कथा प्रसिद्ध है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में एक ऐसा हकीम था जोकि मनुष्य के शरीर के भीतर तक देख सकता था। यह हकीम नाड़ी परीक्षा में भी बड़ा कुशल था और उसी परीक्षा से रोग का निदान कर रोग दूर कर देता था। मनुष्य को बेहोश कर आपरेशन किये जाने का भी उल्लेख चीन के प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार चिकित्सा शास्त्र के कुछ आधुनिकतम उपायों (एक्स रे, एन्टिसेप्टिक्स आदि) का उल्लेख चीन के प्राचीन साहित्य में मिलता है।

चीनियों ने सृष्टि-निर्माण, जीवन मरण, जीवात्मा आदि विषयों पर भी गम्भीर चिन्तन करनेवाले दार्शनिक उत्पन्न किये। इनमें कनफ्यूशियस सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके लगभग १०० वर्ष बाद दूसरा प्रसिद्ध दार्शनिक मेंशियस हुआ। इसके अतिरिक्त लाओत्से, यांग चिंग, चुआंगत्सू तथा हुई त्सू और कुछ अन्य प्रमुख दार्शनिक हैं जो ईसवी सन् से पूर्व हुए।

ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व राज्य प्रथा सुदृढ़ रूपमें स्थापित हो जाने के कारण चीन में एक ऐसी शासन-पद्धति स्थापित हुई जो वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक

प्राय उसी रूप में चलती रही। यह अनुत्तरदायित्वपूर्ण अथवा निरंकुश शासन प्रणाली थी—यद्यपि व्यवहार में यह प्रणाली जनसत्तात्मक रही क्योंकि मेन्शियस (३७२-२८९ ई० पू०) ने राष्ट्रीय महत्व के क्रम में सबसे प्रथम स्थान जनता अथवा प्रजा को ही दिया है, दूसरा देवताओं को और तीसरा राजा को। इस क्रम-निर्धारण का चीनी मानस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहां की जनता प्रजा को सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझ कर राजा के अत्याचारों का सदा विरोध करती रही।

स्थापत्य-कला का अद्भुत उदाहरण चीनी की प्रसिद्ध दीवाल के रूप में विद्यमान ही है। नहर बनाना भी वहां के लोग प्राचीन काल में जानते थे। युद्ध के समय में खाद्य की कमी से बचने के लिये पीकिंग के पास एक बड़ी नहर ४८६ ई० पू० में प्रारम्भ की गई थी। यह नहर दक्षिण में हांग चाऊ से उत्तर में टिंटसिन तक १२०० मील की लम्बाई में आज तक विद्यमान है।

चीनी समाज प्राचीन काल में चार भागों में बंटा हुआ था। सबसे ऊपर बुद्धिजीवी थे जिन्हें 'ब्राह्मण' कह सकते हैं। उनके बाद क्षत्रियों अथवा योद्धाओं का नहीं बल्कि किसानों का दर्जा था। फिर कारीगर और व्यापारी क्रमशः महत्व था। चौथा या अन्तिम स्थान सिपाहियों अथवा क्षत्रियों का था। इस प्रकार सिपाही का पेशा सबसे निकृष्ट समझा जाता था—(यद्यपि वर्तमान काल में यह बात नहीं रही है)।

चीनी सभ्यता दीर्घजीवी क्यों?—

यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि मिस्र, बेबीलोन आदि की सभ्यताएं—जो चीनी के बराबर की थी नष्ट हो गईं—जबकि चीन की सभ्यता आज भी लगभग उसी रूप में जीवित है जिसमें कि वह ४-५ हजार वर्ष पूर्व थी और चीन राष्ट्र पश्चिमी सम्पर्क से उत्पन्न थोड़े से प्रभावों को छोड़कर आज भी प्रायः वैसा ही जीवन व्यतीत कर रहा है जैसा कि ४-५ हजार वर्ष पूर्व करता था, इसका क्या कारण है? इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा दिये गये हैं। एक विशेष कारण यह बताया जाता है कि यह देश विशाल होते हुए भी इकट्ठा तथा सुसंगठित है। अतः वहां भाषा तथा लिपि भी प्रायः एक ही रही है और यह एक भाषा तथा लिपि इस विशाल देश को सुसंगठित रखने में बड़ी सहायक हुई है।

दूसरा कारण यह भी है कि चीन के लोगों ने विदेशियों के सम्पर्क से सदा ही दूर रहने का प्रयत्न किया। प्रकृति ने भी इसमें उनकी सहायता की। उत्तर पश्चिम में मरुस्थल उसे पश्चिमी एशिया के देशों से अलग करते हैं तथा भारत आदि दक्षिण के देशों से उसे अलग करने के लिए हिमालय जैसी दुर्लंघ्य दीवार खड़ी है। विशाल और घने जंगल उसे हिन्द चीन से अलग करते हैं। इन प्राकृतिक दीवारों के कारण चीन एक प्रकार से विश्व से अलग रहकर अपने स्वाभाविक जीवन को, अन्दर विदेशियों की दखल के बिना

रहा। यूरोप के लोगों को तो चीनी लोग 'सफ़ेद भूत' कहकर पुकारते थे और उन से उन्होंने तब तक दूर ही रहने का प्रयत्न किया जब तक उनमें ऐसी शक्ति रही।

तीसरा कारण चीनी लोगों की सहनशीलता भी है। चीनी लोग निकृष्ट से निकृष्ट सरकार को, बाढ़ आदि समय समय पर विपत्तियोंको भीषण अकाल शीत तथा गरीबी आदि को बड़े धैर्य के साथ सहन करने की क्षमता रखते हैं। इन कारणों के अतिरिक्त कुछ लोग चीनी सभ्यता के दीर्घ जीवी होने का श्रेय महात्मा कनफ्यूशियस के उपदेशों को देते हैं जिन्होंने चीनी लोगों के हृदयों में एकता की भावना जागृत रखी तथा उन्हें आपसी फूट और कलह से बचाये रखा। कुछ श्रेय उस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भी दिया जाता है जो चीनियों को प्राचीनकाल से प्राप्त रही है। इन्हीं विशेषताओं के कारण चीन के लोग एक विशाल तथा सभ्य राष्ट्र के रूप में आज भी जीवित और जाग्रत हैं तथा दीर्घ काल तक जीवित रहने की क्षमता भी रखते हैं।

भारत से सम्बन्ध —

चीन के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है कि संसार के किसी अन्य राष्ट्र ने अपनी सभ्यता का विकास इतने स्वतन्त्र रूप में तथा बाहरी सभ्यताओं से इतना अप्रभावित रह कर नहीं किया है जितना कि चीन ने। इसका एक विशेष कारण—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है—उसकी प्राकृतिक स्थिति है। चीन और भारत के बीच में हिमालय की दुर्भेद्य दीवार खड़ी है। अतः प्राचीन भारत के लोगों के लिये जहाँ पश्चिमी मार्ग बहुत कुछ खुला हुआ था, वहां उत्तरी मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध था। इसी प्रकार अन्य देशों से भी चीन अलग था। अतः चीन के लोग अन्य देशों की सभ्यताओं से बहुत कुछ अप्रभावित रहे तथा उन्हें अपनी सभ्यता का स्वतन्त्र रूप से विकास करने का अवसर मिला। उनके आचार विचारों का, उनके आदर्शों का विकास बहुत कुछ स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक गति से हुआ। इसी प्रकार अपनी इस सभ्यता का संरक्षण भी उन्होंने स्वतन्त्र रूप से ही किया।

भारत का सुमेर, बाबुल, शाम, मिस्र आदि देशों के साथ जिस प्रकार व्यापारिक तथा अन्य प्रकार के सम्पर्क होने के प्रमाण मिलते हैं उस प्रकार का सम्बन्ध चीन के साथ होने के कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी सम्भव है प्राचीन काल में भारत तथा चीन में कुछ व्यापारिक सम्बन्ध रहा हो तथा चीन का रेशमी वस्त्र भारत में आता रहा हो।

भारत का चीन के साथ कुछ घनिष्ट सम्बन्ध गौतम बुद्ध के काल के पश्चात् हुआ जबकि भारत से कुछ बौद्ध भिक्षुगण अनेक प्रकार के संकटों को झेलते हुए भगवान बुद्ध का शुभ सन्देश सुनाने चीन तक पहुँचे। उस समय तक चीन अपनी स्वतन्त्र सभ्यता

का विकास एक बड़ी सीमा तक कर चुका था। फिर भी वहाँ के लोगों ने महात्मा बुद्ध के उपदेशों को शान्ति के साथ सुना, उन्हें समझने का प्रयत्न किया और उन्हें स्वीकार भी किया।

चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश चिन तथा हान वंशों के शासन काल में अर्थात् तृतीय शताब्दी और उसके बाद के काल में हुआ। ऐसा पता लगता है कि तीसरी अथवा दूसरी शताब्दी ई० पू० में भारत से कुछ भिक्षुगण प्रथम बार बुद्ध भगवान का सन्देश लेकर चीन में गये। वहाँ इन लोगों का अच्छा स्वागत हुआ और बुद्ध का सन्देश सुना गया। कुछ लोगों का यह मत है कि भारत से चीन जाने वाले विद्वानों में सबसे पहला कश्यप मतंग था जिसका समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी है। उस समय चीन में हान वंश के सम्राट मिंगती का राज्य था। उसी के समय में भारत से कुछ अन्य बौद्ध भिक्षुगण भी चीन गये और चीन सम्राट ने उनका अच्छा स्वागत सत्कार किया। फिर तो समय समय पर अनेक बौद्ध भिक्षुगण चीन पहुँचते रहे। इनके साथ संस्कृत और पाली के बहुत से प्राचीन ग्रन्थ भी चीन में गये। इन ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया गया और इस प्रकार बौद्ध धर्म का चीन के लोगों में और अधिक प्रचार हुआ। इसी प्रकार भारत से अनेक बौद्ध भिक्षु तथा सन्त महात्मा चीन पहुँचते रहे और बुद्ध का पावन सन्देश सुनाते रहे। कुछ ही काल में बुद्ध के उपदेशों का वहाँ इतना अधिक प्रभाव हुआ कि प्रायः समस्त चीन में उनका मत फैल गया तथा लोग सहर्ष बौद्ध मत को मान्य करने लगे। कुछ समय तक चीन में प्रचलित ताओ मत व बौद्ध मत का झगड़ा भी रहा परन्तु अन्त में दोनों धर्म मिलकर चलने लगे। इस मेल से बौद्धधर्म का मार्ग और साफ हो गया। गरीब और अमीर, राजा और रंक सभी ने बौद्धमत की शरण ली तथा कुछ ही काल में बौद्धधर्म ही चीन का राजकीय धर्म बन गया। अब बौद्धधर्म का प्रचार और भी अधिक हुआ। यह केवल चीन तक ही सीमित न रहकर उससे लगे हुए प्रान्तों—मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया और तिब्बत आदि में भी फैल गया।

बौद्ध धर्म ने चीन में पहुँचकर वहाँ के प्राचीन मतों का उन्मूलन नहीं किया। उसने वहाँ के लोगों पर कोई अत्याचार भी नहीं कराया। यह तो स्वेच्छा का धर्म था जिसे चीन वालों ने अपनी राजी खुशी से स्वीकार किया तथा अपनी आध्यात्मिक उन्नति का इसे साधन माना। बौद्धधर्म ने वहाँ के पुराने धर्मों के साथ समझौता कर लिया। इस प्रकार चीन में धर्मों का अद्भुत मिश्रण स्थापित हुआ। धीरे धीरे भारत का बौद्धधर्म चीन के स्थानीय धर्मों के साथ इतना घुलमिल गया कि उसे अलग करना अथवा उसका पृथक् अस्तित्व बताना कठिन काम हो गया। आज भी बौद्धधर्म चीन के जन-जीवन में इसी प्रकार मिला हुआ है तथा सहस्रों वर्षों से उनके जीवन को प्रभावित करता रहा है।

अध्याय ७

यूनान की प्राचीन सभ्यता

सुमेर, बाबुल, मिस्र, चीन आदि की सभ्यताएँ जैसा कि हम देख चुके हैं, काफी प्राचीन हैं। उनकी तुलना में यूनान की सभ्यता बहुत पीछे की अर्थात् नवीन है। किंतु यूरोप में यूनानी सभ्यता को बहुत प्राचीन माना जाता रहा, क्योंकि यूरोपीय सभ्यताएँ यूनानी सभ्यता से भी बहुत पीछे की हैं तथा यूरोप में सबसे पहिले सभ्यता का प्रकाश यूनान में ही पहुँचा था।

किंतु यूनानी सभ्यता तथा इतिहास की अपनी एक विशेषता है। सुमेर, बाबुल, मिस्र, चीन आदि देशों में प्राचीन समय से राजप्रथा प्रचलित थी। परंतु यूनान ऐसा देश था जहाँ कोई राजा न था। यूनान देश बहुत बड़ा भी नहीं है, वस्तुतः में तो यूनान का इतिहास एक देश का नहीं, बल्कि एक जाति का इतिहास।

यूनान नाम का देश यूरोप के दक्षिण पूर्व में स्थित बाल्कन नामक प्रायद्वीप का एक भाग है जो भूमध्यसागर के तट पर बसा हुआ है। इसके दक्षिण में अनेक छोटे छोटे द्वीप समूह हैं। प्रकृति ने यूनान की आकृति बड़ी टेढ़ी मेढ़ी बनाई है तथा यहाँ का कोई भी भाग समुद्र से ४० मील से अधिक दूर नहीं है। यूनान की उत्तरी सीमा पर पहाड़ों का एक सिलसिला चला गया है जिनकी चोटियाँ ८००० फीट तक ऊँची हैं। यहाँ थर्मापोली नाम की एक घाटी को छोड़कर आने-जाने का कोई मार्ग नहीं है। यह घाटी इतनी तंग है कि कहीं कहीं यह केवल ५० गज चौड़ी है। शेष भाग में भी कई पहाड़ हैं। पर्वतों की अधिकता के कारण ही यहाँ अनेक छोटे छोटे नगर राज्य उत्पन्न हुए। पहाड़ों के बीच बीच में जहाँ कहीं थोड़ा बहुत मैदान मिला, वहीं इन लोगों ने बस्तियाँ बसा लीं जो बीच में पहाड़ों के आ जाने के कारण एक दूसरी से असम्बद्ध तथा स्वतन्त्र थीं। एक बड़ा नगर और उसके आस पास की कुछ बस्तियाँ मिलकर एक छोटी सी रियासत बन जाती थीं जो अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र होती थीं।

यूनान के उत्तरी भाग के प्रांत थिसली, एपिरस और मोरिया कहलाते हैं। मोरिया को प्राचीन समय में पेलोपोनेसस कहते थे। दक्षिण में बोएशिया प्रांत था जिसका प्रधान नगर थीब्स था। बोएशिया प्रांत के दक्षिण में एटिका प्रांत है जो त्रिभुजाकार तथा दो ओर समुद्र से घिरा है। इसके नीचे एजियन सागर है जिसमें बीच-बीच में कई द्वीप फैले



हुए हैं। इन प्रान्तोंमें कई छोटी-छोटी रियासतें थीं जहाँ कई जातियाँ निवास करती थीं। प्राय एक नगर राज्यमें एक जाति निवास करती थी तथा राज्य का प्रबन्ध वह जाति स्वय करती थी।

यही वह यूनान या ग्रीस है जो यूरोपका प्राचीनतम सभ्य देश गिना जाता है। इसीने समस्त यूरोप को सभ्यता का पाठ पढ़ाया, क्योंकि यूनान में सभ्यता का प्रकाश उस समय फैल चुका था जब शेष यूरोप बर्बरता की अन्धकारपूर्ण अवस्था में था—असभ्य गिना जाता था। यूनान का अथवा बाल्कन प्रायद्वीप तथा ऐजियन सागर के द्वीपों का एक पुराना नाम हेलास भी है तथा इसी कारण यहाँ के लोग हेल्लेनीज कहलाते थे, क्योंकि यही भाग उनका मुख्य निवास स्थान था। किन्तु इटली, सिसली, मिस्र आदि में उनके अनेक उपनिवेश बसे हुए थे। बाद में ये सभी बस्तियाँ 'हेलास' के अन्तर्गत ही समझी जाती थीं। यूनान के लोग स्वतन्त्रता के साथ रहना पसन्द करते थे। अत उनकी ये बस्तियाँ भी मातृभूमि से प्राय स्वतन्त्र ही थीं।

कुछ लोगों का विचार है कि यूनान के लोग यह मानते हैं कि वे सब हेलेन देवताकी सन्तान हैं। इसी कारण वे हेलेनीज कहलाते थे और उनका देश हेलास कहलाता था। पीछे जब यह देश रोम साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया तो इटली के लोगों ने उन्हें 'ग्रीक' कहना आरम्भ किया और उनका देश ग्रीस कहलाया। पाश्चात्य जगत में यूनान का यही नाम अभी तक प्रचलित है।

यूनानी द्वीपों में हेल्लेनीज लोगों से पूर्व कौन लोग रहते थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। किन्तु यहाँ जो पुराने भग्नावशेष, गहने, मिट्टी के रंगीन बर्तन, नक्काशीदार पत्थर आदि प्राप्त हुए हैं उनसे यहाँ के प्राचीन निवासियों की कुशलता का पता चलता है। जहाँ तक पता लगा है यहाँ के हेलेनीज लोगों से बहुत पूर्व यूनान देश पर एक अन्य जाति ने अपना अधिकार कर लिया था और वह जाति पलासगोई कहलाती थी। बाद में कवि होमर के समय में (लगभग सात सौ अथवा आठ सौ वर्ष ईस्वी पूर्व में) पलासगोई जाति के लोगों पर एकियन लोगों ने प्रभुसत्ता प्राप्त कर ली और फिर उसी प्रकार हेल्लेनीज लोगों ने एकियन लोगों पर प्रभुसत्ता प्राप्त की। ये हेल्लेनीज लोग कौन थे और कहाँ से तथा कब आये थे, यह विवाद का विषय है। कुछ लोगों का विचार है कि एकियन और हेल्लेनीज एक ही थे। किन्तु ये सभी इतिहासकार मानते हैं कि यूरोप का प्राचीनतम सभ्य देश यूनान ही है तथा यहीं से यूरोप में सभ्यता का प्रसार हुआ।

नया सिद्धान्त यह है कि यूनान में बाहर से तीन लहरों में भिन्न भिन्न जाति के लोग आये। पहिले अन्तोनीज लोग आये जो लगभग १७ वीं शताब्दी ई० पू० में यूनान में प्रविष्ट हुए फिर एकियन या हेलेनीज आये और फिर डोरियन। अधिकांश विद्वान यूनान

आयोनीय लोगों की ही थी। स्पार्टा में डोरियन जाति की प्रधानता थी और इन दोनों जातियों में तीव्र द्वेष भाव रहता था। एचियन लोग १४ वीं शताब्दी के मध्य में इतिहास के प्रकाश में आये। माइसीनी सभ्यता इन्हीं एचियन लोगों की सभ्यता समझी जाती है।[1]

यूनान में जो शस्त्र, गहने, चित्रित बर्तन, पत्थर आदि प्राप्त हुए हैं वे अधिकतर *माइसीना स्थान पर मिले हैं। अतः यह सभ्यता माइसीनी सभ्यता कहलाती है।* इसका काल १७०० ई०पू० के लगभग समझा जाता है। किन्तु क्रीट टापू में जो खोज हुई है उससे पता चलता है कि माइसीनी लोगों से कई शताब्दी पूर्व यूनान में ऐसे लोग रहते थे, जिन्होंने भवन निर्माण में, कांसे की वस्तुओं पर कलापूर्ण आकृतियां बनाने में, पत्थरों के उपयोग में तथा चित्रकारी में भी काफी दक्षता प्राप्त कर ली थी। इन लोगों के पास एक लिपि अथवा चित्र लिपि भी थी। इस चित्र-लिपि के प्रमाण से यह भी अनुमान किया जाता है कि इन लोगों का सम्बन्ध मिस्र देश से था। क्रीट टापू के कानोसस स्थान पर राजमहलों के जो अवशेष मिले हैं उनसे यह पता चलता है कि क्रीट में किसी समय एक समृद्ध तथा शक्तिशाली राज्य स्थापित था और वहाँ के राजा मिनोस ने एक बड़ा समुद्री बेड़ा भी बनाया था। अनुमान है कि जहाजी बेड़ा बनानेवाला यह प्रथम ही राजा था। यूनान की पुरानी दन्तकथाओं में भी इसका क्रीट से सम्बन्ध बताया गया है। यह क्रीट की इस सभ्यता का जो मिनोयन सभ्यता कहलाती है—काल वही समझा जाता है जबकि यूनान पर पलासगाइ नामक जाति का अधिकार था और यह काल २००० ई०पू० के लगभग समझा जाता है। कुछ लोग उसे और भी प्राचीन मानते हैं। बाद में यहाँ एचियन लोगों का अधिकार हुआ।

इतिहास—

यूनान का इतिहास वास्तव में वहाँ की चार-पांच छोटी छोटी रियासतों—स्पार्टा, एथेन्स, कोरिंथ, थीब्स आदि का इतिहास है। इन रियासतों में जो अधिक बलवान होता था उसे दूसरी रियासतें अपना प्रधान मान लेती थीं तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका साथ देती थीं। किन्तु इन रियासतों में आपसी वैमनस्य तथा द्वेष भाव भी प्रायः बहुत रहा करता था। किसी एक रियासत को अधिक शक्तिशाली होते देखते ही, दूसरी रियासतों में यह द्वेष भाव भड़क उठता था और वे उसे नीचे गिराने का प्रयत्न करती थीं। प्रारम्भ में यूनान में स्पार्टा नाम की रियासत की प्रधानता रही क्योंकि उसका सैनिक संगठन बड़ा सुदृढ़ था, वहाँ का प्रत्येक नागरिक एक सिपाही था। बाहर के किसी देश का यूनान पर आक्रमण होने पर स्पार्टा को ही मुखिया बना दिया जाता था तथा युद्ध का

1 *Encyclopedia Brittanica Vol I - Aegean*

भार मुख्यतः उसी पर पड़ता था। अन्य रियासतें उसका साथ देती थीं—कभी इच्छा से कभी अनिच्छा से। किन्तु बाहर का खतरा समाप्त हो जाने पर इनमें द्वेष-भाव बढ़ जाता था और एक रियासत दूसरी को गिराने का प्रयत्न करती थी। इसी प्रकार स्पार्टा को भी गिराया गया। तब अथेन्स को प्रधानता प्राप्त हुई जो थोड़ा समय तक रही। फिर कुछ दिनों तक थीब्स की प्रधानता रही। यही क्रम चलता रहा। किन्तु यूनानी सभ्यता पर मुख्य छाप अथेन्स की रही तथा उसी की प्रधानता रही।

यूनान का ऐतिहासिक काल ईसा से लगभग एक हजार वर्ष से आरम्भ किया जा सकता है यद्यपि उस समय की स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं है। पीछे लगभग ७०० ई०पू० से लगभग वहाँ ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ हुआ और उस समय की घटनाओं का विवरण प्रायः क्रमबद्ध रूप में मिलने लगता है।

इस समय यूनान में डोरियन और आयोनियन दो जातियाँ प्रधान थीं। उत्तर में डोरियन लोग थे जो अधिक बलवान तथा लड़ाका थे। स्पार्टा इन्हीं लोगों की रियासत थी। आयोनियन (यवन) लोगों की मुख्य बस्तियाँ इजियन सागर तथा एशिया माइनर में थीं। ये लोग अधिक शिक्षित, कुशल व्यापारी तथा कला-निपुण थे। इनकी मुख्य रियासत अथेन्स थी। अथेन्स का मुख्य नगर एक्रोपोलिस पहाड़ी पर बसा था हुआ और यहीं अथेनी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर था। अथेन्स रियासत में प्रारम्भ में सत्ता सरदार वर्ग के हाथों में थी, किन्तु ये लोकप्रिय नहीं थे। 'सोलन' नामक एक व्यक्ति ने जो 'बुद्धिमान' कहलाता था उक्त प्रथा का विरोध किया था और कहा कि राजकार्य में जनता का भी हाथ होना चाहिए। यही सोलन अथेन्स की लोकप्रिय शासन-व्यवस्था का संस्थापक माना जाता है। शेष रियासतों में अथेन्स के अनुकरण से ही जनसत्ता की स्थापना हुई।

स्पार्टा के दक्षिण में यूनान की तीसरी बड़ी रियासत कोरिन्थ थी। इसका अधिकांश भाग समुद्र के पास होने के कारण यहाँ का व्यापार बहुत अच्छी स्थिति में था। अतः यह रियासत धन में सम्पन्न और सुखी थी। किन्तु अथेन्स से इसकी प्रतिद्वन्द्विता तथा प्रायः शत्रुता रहती थी जो यूनान की एकता में बाधक थी। कोरिन्थ के दक्षिण पूर्व में आरगस नाम की एक चौथी रियासत थी। इस प्रान्त की राजधानी भी स्पार्टा से शत्रुता रखती थी। पाँचवीं मुख्य रियासत थीब्स थी। यह भी अथेन्स तथा अन्य रियासतों से द्वेषभाव रखती थी। इस प्रकार यूनान की सभी रियासतों में पारस्परिक द्वेष का भाव रहता था।

आपस में प्रतिद्वन्द्विता तथा शत्रुता रखते हुए भी यूनानी रियासतें कला आदि में अपनी उन्नति कर रही थीं। लोग परिश्रमी तथा उद्योगशील थे और उन्होंने अपनी सभ्यता की धाक आस पास के लोगों पर बना ली थी। यह भी अनुमान किया जाता

था कि यूनान का विस्तार एशिया में भी होगा। यूनानियों ने एशिया के पश्चिमी तट पर अपनी कुछ बस्तियां भी बसाली थीं जिनमें आयोनिया मुख्य थी। किन्तु यूनानियों का एशिया में विस्तार लीडिया राज्य की बढ़ती हुई शक्ति ने रोक दिया। छठीं शताब्दी ई० पू० के मध्य य लोडिया के राजा ने यूनानी बस्ती आयोनिया तथा कुछ दूसरे नगरों पर कब्जा कर लिया जिससे एशिया में यूनानी प्रगति एक दम रुक गई।

फारस से युद्ध—थर्मापोली—

ऐसे ही समय में अर्थात् छठवीं शताब्दी ई० पू० में यूनान को एक दूसरे बड़े सकट का सामना करना पड़ा। इन दिनों एशिया का फारस राज्य अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। यहा के राजा साइरस (कोरोश) ने बेबीलोनिया, मीदिया, सीरिया आदि देश जीतकर अपने राज्य का विस्तार काफी बढ़ा लिया था। छठीं शताब्दी ई० पू० के मध्य म उसने लीडिया के राजा क्रोसियस को पकड़ लिया और उसके समस्त राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। फिर उसने मिस्र देश पर भी अपना अधिकार कर लिया।

५२१ ई० पू० साइरस के मरने पर उसका पुत्र डेरियस (दारा) राजा हुआ। उसने यूरोप को भी अपने राज्य में मिलाने का विचार करके एक बड़ी सेना यूरोप की ओर भेजी। यूनान के थ्रेस और मेसेडोनिया प्रान्त शीघ्र ही उसके अधिकार में आ गये। परन्तु अथेन्स वालों ने उसकी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर दिया। कुछ वर्ष बाद ४६० ई०पू० उसने एक दूसरी सेना यनान में भेजी। इसने भी कुछ नगर जीत लेने में सफलता प्राप्त की, परन्तु फिर यूनानियों ने उसका मिलकर मुकाबिला किया और उसे हराकर भगा दिया। दारा फिर एक सेना तैयार कर रहा था कि इसी बीच (४८६ ई० पू०) उसकी मृत्यु हो गई।

दारा का पुत्र जरक्सीज (खषार्श) राजा हुआ। उसने फिर अथेन्स पर आक्रमण कर दिया, घोर था युद्ध हुआ। इस युद्ध का वर्णन प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है। इस बार थीब्स रियासत अथेन्स को हानि पहुँचाने की इच्छा से फारस के साथ मिल गई। किन्तु स्पार्टा ने अथेन्स का साथ दिया। इन दोनों ने फारस की सेना को रोकने के लिये अपनी कुछ सेना आगे भेजी जो थर्मापोली (उष्ण द्वार) को लड़ाई के लिये उपयुक्त स्थान समझकर वहीं रुक गई और फारसी सेना की प्रतीक्षा करने लगी। इस घाटी के दोनों ओर ऊँचे पहाड़ इतने पास आ गये हैं कि उनके बीच म केवल थोड़ा ही मार्ग रह गया है। इसी तंग घाटी में थोड़ी सी यूनानी सेना ने अपने से कई गुनी फारसी सेना को बहुत समय तक बड़ी वीरता से रोक रखा। जरक्सीज को कई बार निराशा होने लगी कि वह आगे न बढ़ सकेगा। परन्तु इसी बीच इन यूनानी रियासतों से द्वेष रखने वाले किसी भेदिये ने आगे बढ़ने और यूनानी सेना को घर लेने

का एक नया मार्ग बता दिया, फिर तो पारसी सेना अनायास ही घाटी के उस पार पहुँच गई और उसने यूनानी सेना को पीछे से घेर लिया। यूनानी सैनिक दोनों ओर से घिर जाने पर इतनी वीरता से लड़े कि जब तक उनका एक एक सैनिक न मारा गया, तब तक पारसी सेना आगे न बढ़ सकी। यह थर्मापिली यूनानियों की हल्दीघाटी है जिस पर वे आज तक गर्व करते हैं। मरने वालों में स्पार्टा का राजा भी शामिल था।

अब पारसी सेना यूनान में घुस आई। अथेन्स वालों को भी अपना प्यारा नगर खाली करना पड़ा। परन्तु कुछ ही समय बाद यूनानी जल-सेना को एक अच्छी सफलता मिली और पारसी सेना अन्त में हार गई। यूनान के लिये यह एक बड़ी विजय थी। इसके कारण यूनान की स्वतन्त्रता नष्ट होने से बच गई।

इस हार के बाद पारस का राजा जरक्सीज सेना को छोड़कर पारस चला आया। आगे भी कुछ युद्धों में यूनान को सफलता मिली तथा यूनान के आस पास के जिन स्थानों—थ्रेस, साइप्रस टापू आदि पर पारस वालों ने अधिकार कर लिया था उन्हें यूनान वालों ने फिर ले लिया।

अथेन्स की प्रधानता—

पारस वालों को हराने का एक परिणाम यह हुआ कि शत्रु की ओर से निश्चिन्त हो जाने के कारण यूनानियों का आपसी द्वेष भाव फिर उभर पड़ा। स्पार्टा और अथेन्स के नेतृत्व में यूनानी रियासतों का एक नया संघ बना जो स्पार्टा के विरुद्ध था। यहीं से अथेन्स का उदय आरम्भ हुआ। स्पार्टा पर इसी समय एक दैवी विपत्ति आई। ४६४ ई० पू० में वहाँ एक भारी भूकम्प आया जिससे नगर का बहुत सा भाग नष्ट हो गया। अब अथेन्स को ही प्रधानता मिल गई। स्पार्टा ने भी उससे सन्धि करली। उनकी सम्मिलित सेनाओं ने एक बार पारस को फिर हराया। अब पारस ने भी यूनान से सन्धि करली। यूनानियों ने साइप्रस टापू तथा मिस्र देश पर पारस के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

पेलेपोनेशस का युद्ध—

पारस से सन्धि हो जाने के कारण यूनानी रियासतों का आपसी वैमनस्य फिर उभर आया। अथेन्स ने पूर्व में कोरिंथ रियासत को दबाकर तथा उसके व्यापारिक मार्गों को बन्द करके अपना व्यापार चमकाया था। अतः कोरिंथ उससे शत्रुता रखता था। कोरिंथ के एक उपनिवेश के प्रश्न पर दोनों में फिर झगड़ा बढ़ा और युद्ध आरम्भ हो गया। स्पार्टा ने कोरिंथ का पक्ष लिया। इस प्रकार ४३१ ई० पू० में जो युद्ध आरम्भ हुआ वह पेलेपोनेशस का युद्ध कहलाता है। पेलेपोनेशस यूनान के दक्षिणी भाग का नाम था। यह यूनान का एक भारी तथा प्रसिद्ध गृह-युद्ध है जो रुक रुक कर २७ वर्ष तक चलता रहा। इस

युद्ध का वर्णन थूसीडाइडीस नामक इतिहास लेखक ने लिखा है जो निष्पक्ष होने के कारण महत्वपूर्ण समझा जाता है।

इस समय अथेंस में पेरिक्लीस नामक एक योग्य पुरुष प्रधान था। उसने अथेंस की बड़ी उन्नति की थी तथा उसे विद्या और कलाओं का केन्द्र बना दिया था। उसने अनेक सुन्दर तथा बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं। ओलम्पिया के मन्दिर में हाथी दांत और सोने से बनी हुई जियस देवता की सुन्दर मूर्ति स्थापित की। इसी परिक्लीस के नेतृत्व में पेलोपोनेशस युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में अथेंस के लोग बड़ी सावधानी से लड़ते रहे थे और बीच-बीच में स्पार्टा वालों को हराते भी रहे थे। उसकी मृत्यु होते ही अथेंस की सेनायें हारने लगीं और अथेंस का साम्राज्य भग होगया। ४२१ ई० पू० में दोनों दलों ने सन्धि करली किन्तु शीघ्र ही फिर उनमें युद्ध आरम्भ हो गया। इस बार के युद्ध में अथेंस की अधिकांश सेना का संहार हो गया। युद्ध फिर भी चलता रहा। अन्त में ४०५ ई०पू० में अथेंस की सेना पूर्णतया पराजित हो गई। स्पार्टा की सेना ने अथेंस पर कब्जा कर लिया। अथेंस नष्ट प्राय हो गया और उसके साथ यह लम्बा २७ वर्ष का युद्ध भी समाप्त हो गया।

मेसेडोन का उदय—

पेलोपोनेशस युद्ध के बाद का इतिहास यूनान की दृष्टि से विशेष महत्व का नहीं है। यूनानी रियासतें फिर आपस में लड़ती भिड़ती रहीं। थेबेस का एक बार फिर उदय हुआ तथा स्पार्टा का महत्व घटा। किन्तु अथेंस बार-बार के युद्धों से निर्बल हो जाने के कारण अधिक उन्नति न कर सका। अब कोरिंथ रियासत को उन्नति करने का अवसर मिला और वह यूनान की मुख्य रियासत मानी जाने लगी, किन्तु यह प्रधानता भी अधिक दिन तक न चल सकी।

यूनानी रियासतों के आपसी विद्वेष के कारण उनके उत्तर में स्थित मेसोडोन नाम की एक रियासत को उन्नति करने का अवसर मिला। मेसडोन के लोगों में भी यूनानी रक्त था और भाषा भी यूनान से मिलती जुलती थी। अतः ये लोग अपने को यूनानी ही कहते थे। किन्तु यूनानी लोग उन्हें असभ्य तथा बर्बर कहते थे। सभ्यता की दृष्टि से ये कुछ पिछड़े हुए थे भी। ये लोग पहाड़ों पर रहते और खेती करते थे। साहित्य, कला, विज्ञान आदि में उनकी विशेष रुचि न थी जबकि मुख्य यूनान इनमें काफी उन्नति कर चुका था।

मेसेडोन में राजप्रथा कायम थी। ३५६ ई०पू० में वहाँ की गद्दी पर फिलिप नाम का राजा बैठा। यह बड़ा बुद्धिमान तथा कार्य कुशल था। एक ही वर्ष में उसने अपने राज्य में एकता, सुव्यवस्था तथा शान्ति स्थापित कर ली। फिर एक अच्छी सेना तैयार की और आस-पास के राज्यों को हराकर यूनान में पैर बढ़ाना आरम्भ किया।

धीरे-धीरे उसने समस्त यूनान पर अपना अधिकार कर लिया। अथेन्स भी एक अच्छी लड़ाई के बाद हार गया और इस प्रकार यूनानी स्वतन्त्रता का वास्तव में अन्त हो गया।

इसी फिलिप का वीर तथा सुयोग्य पुत्र सिकन्दर द्वितीय था जो ३३६ ई०पू० में गद्दी पर बैठा। उसने किस प्रकार यूनान पर अधिकार दृढ़ करके एशिया विजय के लिये प्रस्थान किया, किस प्रकार मिस्र की सेनाओं पर विजय प्राप्त की और वहां के राजा को अपने रथ के पहिये में बँधवाकर इतनी दूर तक घसीटा कि उसकी मृत्यु होगई, फिर उसने किस प्रकार पश्चिमी एशिया के देशों को जीतकर पारस पर आक्रमण किया, किस प्रकार दारा द्वारा की विशाल सेना को हराया और फिर पारस के राजाओं की पुरानी राजधानी पर्सीपोलिस को जलाकर नष्ट किया (मिस्र के राजा को घसीटकर मारना तथा पर्सीपोलिस नगर को जलाकर नष्ट करना उसके क्रूर तथा बर्बर कृत्य हैं जो उसकी वीरता पर धब्बा लगाते हैं), किस प्रकार वह भारत की पश्चिमी सीमा के भीतर पंजाब तक बढ़ आया तथा वहां से आगे न बढ़कर वापस लौटा, किस प्रकार लौटते समय कुछ भारतीय जातियों से उसका युद्ध हुआ तथा वह घायल हुआ और फिर किस प्रकार अपनी वापसी यात्रा में वह बाबुल नगर में पहुँचकर बीमार पड़ा तथा केवल ३२ वर्ष की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हुआ—ये सब इतिहास की प्रसिद्ध घटनायें हैं जिन पर यहाँ विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

सिकन्दर विश्व के महान योद्धाओंमें गिना जाता है और यद्यपि वह मैसेडोन राज्य का निवासी था फिर भी वह प्रायः यूनानी ही गिना जाता है। वह यूनानी सभ्यता का प्रचारक था तथा उसने यूनानी सभ्यता, यूनानी भाषा और यूनानी आचार विचारों का प्रचार अपने विजित देशों में किया। एशिया माइनर, शाम, मेसोपोटेमिया और मिस्र ये सभी देश यूनानी सभ्यता से भारी प्रभावित हुए तथा वहां यूनानी शिक्षा का भी अच्छा प्रचार हुआ। इस यूनानी सभ्यता तथा शिक्षा के प्रचार का केन्द्र अब अथेन्स अथवा मैसेडोन नहीं था बल्कि



सिकन्दर

मिस्र देश का नगर सिकन्दरिया (अलक्ज़ेंड्रिया) था जिसे सिकन्दर ने अपनी विजय-यात्रा में स्वयं बसाया था।

सिकन्दर ने थोड़े ही समय में जो विशाल साम्राज्य खड़ा कर लिया था वह उसकी असामयिक मृत्यु होते ही बिखर गया। उसके सेनापतियों में प्रधानता के लिये संघर्ष आरम्भ हो गया तथा अंत में उसका साम्राज्य तीन मुख्य मुख्य सेनापतियों में बँट गया। पश्चिमी एशिया का साम्राज्य—श्याम से फरात नदी तक सिल्यूकस निकेटर को मिला, मिस्र पर टाल्मी (बतलीमूसी) ने अधिकार कर लिया जिसके वंशज इसवी सन् के आरम्भ काल तक राज्य करते रहे तथा यूनान पर अन्तियोकस नामक सेनापति ने अपना अधिकार जमा कर लिया। सिकन्दर ने पारस की एक राजकुमारी रुक्साना से विवाह कर लिया था जिससे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। परन्तु उसके षड्यन्त्रकारी सेनापतियों ने इस पुत्र को बाल्यपन में ही हत्या करके सिकन्दर के वंश का अंत कर दिया। इन सेनापतियों में आपसी झगड़े चलते रहे। यूनान जब विद्रोह व आपसी कलह से जर्जर हो रहा था तभी उसके पश्चिम में रोम और कारथेज का युद्ध संसार का ध्यान आकर्षित कर रहा था और यह प्रत्यक्ष था कि इन दोनों में से जो भी जीतेगा उसी के हाथ में यूनान भी चला जायेगा। १६८ ई० पू० में रोम के लोगों ने मेसेडोन के राजा परसियस को हराकर भगा दिया और मेसेडोन राज्य रोम में मिला लिया गया। यूनान भी शीघ्र ही (प्रथम शताब्दी ई० पू० में) रोम के अधिकार में आ गया और रोम साम्राज्य का अंग बन गया। उसकी स्वतन्त्रता का अन्त हो गया।

यूनानी सभ्यता—

अथेन्स अथवा यूनान की महत्ता उसकी विजय पराजयों में अथवा साम्राज्य विस्तार में नहीं। उसकी महत्ता है वहाँ के निवासियों की विशाल बुद्धि, कला निपुणता तथा उच्च सभ्यता में है। पाँचवीं छठवीं शताब्दी ई०पू० में भी वहाँ साहित्य, नाटक, शिल्पकला, दर्शन आदि का आश्चर्यजनक विकास हो गया था, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न-लिखित है —

शिल्पकला—

इस समय देलास की बौद्धिक तथा राजनीतिक हलचलों का केन्द्र प्रायः केन्द्रीय भूपाल - मुख्यतः अथेन्स ही था और लगभग १०० वर्ष तक उसी की प्रधानता रही। वहाँ अनेक सुन्दर इमारतें बनीं जो उसकी शिल्पोन्नति का पता देती हैं। वहाँ का पार्थिनान नामक मन्दिर अब भी संसार की कलात्मक इमारतों में गिना जाता है। इसमें प्रसिद्ध शिल्पी फीडियस की बनाई हुई अथेनी देवी की मूर्ति थी जो सोने तथा हाथी दाँत की बनी हुई थी। इस मन्दिर के बाहर भी अच्छा काम है। यह मूर्ति ४३८ ४३७ ई० पू० में पधराई गई थी तथा एक अनुपम कलाकृति मानी जाती है। यह मूर्ति तो आज नहीं मिलती किन्तु उसका वर्णन कुछ पुराने कागज-पत्रों में मिलता है तथा सिक्कों पर अंकित उसकी

प्रतिकृति भी मिलती है। इस शिल्पकार ने कई अन्य सुन्दर मूर्तियाँ भी बनाई थीं जैसे ओलम्पिया में जियस देवता की मूर्ति। इन मूर्तियों को उसने किसी मॉडेल के आधार पर नहीं बनाया बल्कि वह पहले अपने चित्त में एक सौ दर्यमयी मूर्ति की कल्पना कर लेता था और फिर उसी कल्पना के आधार पर मूर्ति गढ़ता था। उसने अपनी कल्पना को साकार रूप देने में प्राय सदैव सफलता प्राप्त की।

साहित्य—

यूनान का प्राचीनतम साहित्य होमर कृत काव्य तथा वीर गाथायें हैं। होमर ही यूनानी भाषा का आदि कवि माना जाता है। इसने दो प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना की जिनके नाम हैं—इलियड और ओडेसी। इलियड एक विजय गाथा है तथा ओडेसी में ओडेसियस और यूलीसीस के कुछ विचित्र देशों में भ्रमण करने की कथा है। ये ही दो काव्य उस समय के यूनान की समस्त शिक्षा के आधार थे। इन्हीं से वहाँ का कवि प्रेरणा प्राप्त करके अनेक कवितायें रचते थे, इन्हीं पर अनेक कथायें तथा दन्तकथायें बनीं और इन्हीं पर वहाँ का ज्ञान तथा इतिहास आधारित था। पेशेवर गायक इन्हीं वीर काव्यों को कण्ठस्थ कर शहर शहर और गाँव गाँव में फिरते थे और राजा, रईसों तथा जन-समुदाय को सुनाकर उनका मन मोह लेते थे। यही काल यूनानी साहित्य का प्रथम काल कहलाता है तथा उसका आरम्भ ७००-८०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। यह साहित्य पद्य में था। इस काल में कुछ गीत, भावगीत आदि भी बने। कुछ लोगों का मत है कि इलियड और ओडेसी की रचना ६०० ई० पू० के लगभग हुई।

इस पद्य काल के पश्चात् धीरे धीरे गद्य भी प्रचलित हुआ। जेनोफनीज और पार्मेनीडीज जैसे आरम्भिक काल के दार्शनिकों ने (५३० ४६५ ई० पू०) अपने सिद्धान्तों को गद्य में लिखा था तथा कुछ इतिहासकारों हेकाटेअस (६ वीं शताब्दी ई० पू०) तथा हेलानिकस (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०) ने भी अपने ग्रन्थ गद्य में लिखे। ये आयोनिक विचार धारा के इतिहासकार कहलाते हैं—इतिहास-लेखन यूनान में वास्तव में आयोनिया से ही शुरू हुआ। इनके बाद हेरोडोटस (पाँचवीं शताब्दी ४८४-४२५ ई० पू०) ने अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ लिखा जिसमें यूनान के इतिहास तथा फारस यूनान युद्ध का वर्णन किया गया है। इसकी रचनायें अब तक सुरक्षित हैं तथा यूनान के इतिहासकार इनसे सहायता लेते हैं। इसके बाद थूसीडाइडीज (पाँचवीं शताब्दी ४७१-४०१ ई० पू०) ने पेलोपोनिशियन युद्ध का वर्णन किया। बाद में जेनोफोन (पाँचवीं-चौथी शताब्दी ई० पू०) ने यूनान, ईरान युद्ध वर्णन को आगे तक लिखना चालू रखा।

नाटक—

यूनान का सुन्दर साहित्य नाटक के रूप में है जिसकी उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में हुई। इन नाटकों का प्रचार शुरू शुरू में, धार्मिक समारोहों के उत्सवों में, एवं बाहरी

आदि के समय हुआ होगा। इन उत्सवों में तथा वैरस नामक देवता के स्तुति-गानों में एथेंस अग्रणी था। एथेंस में एक नाटक घर भी था जहाँ धार्मिक के अतिरिक्त कुछ सामाजिक और राजनीतिक नाटक भी खेले जाते थे। एसकिलीस (५२५-४५६), सोफोक्लीस (४६५-४०३) तथा यूरीपाइडीस (४८०-४००ई०पू०) इस काल के प्रमुख नाटककार हैं जिन्होंने कई सुन्दर नाटक लिखे हैं—यद्यपि उन दिनों भी फारस के साथ युद्ध चल रहा था। इनके कथानक प्रायः होमर कृत वीर काव्यों से ही लिये गये हैं। इन तीनों नाटककारों में यूरीपाइडीज अधिक लोकप्रिय था। अनेक नाटकों में उसने स्त्री का चरित्र चित्रण बड़ा ऊँचा किया है। दासों पर किये जाने वाले अत्याचारों का वर्णन भी यूरीपाइडीज ने अच्छा किया है।

इस समय यूनान में दुखान्त नाटकों का भी खूब चलन था। दुखान्त नाटक लिखने वाले १८ लेखकों के नाम उस काल के प्राप्त होते हैं। सुखान्त नाटकोंकी भी रचना होती थी। ऐसे नाटकों का प्रथम लेखक एपीचारमस (४८० ई० पू०) के लगभग सिसली में हुआ। एरिस्टोफेनीस (४४४-३८० ई०पू०) के ११ सुखान्त नाटक भी इसी काल में लिखे गये जो अभी तक मिलते हैं। ये प्रायः उसी समय की घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में मेनान्डर भी एक अच्छा नाटककार हुआ।

कविता—

सैफो, सिमोनिडेस, अल्सीयस (सातवीं शताब्दी ई० पू०), बेकिलाइस और पिन्डार (५ वीं शताब्दी ई० पू०) इस समय के अच्छे कवि थे। उन्होंने अपने समय का तथा अपने समय के युद्धों का वर्णन अपने काव्यों में किया है। कई गीत पौवाड़ों के ढंग होते थे जो युद्ध के समय लोगों में उत्साह भरने के लिये गाये जाते थे अथवा युद्धमें बलिदान हुए लोगों की प्रशंसा में रचे जाते थे। टायटियस नामक एक कवि (७ वीं शताब्दी ई० पू०) एथेन्स छोड़कर स्पार्टा चला गया था और उसने ऐसे अनेक जोशीले गीत और चल गीत बनाये जिनसे लोगों को शत्रुओं के विरुद्ध अन्तिम साँस तक लड़ते रहने की प्रेरणा मिलती थी—यथा—सबसे अधिक शानदार मृत्यु वह है जो युद्ध के मैदान में, सबसे आगे की पंक्ति में लड़ते हुए हो—वीर मर जाता है परन्तु सदा के लिये अमर हो जाता है, उसके लिये वृद्ध और युवक सभी दुखी होते हैं और सब उसका आदर करते हैं, यदि वह कायरता दिखाता है तो जीवन भर लज्जा में डूबा रहता है, इत्यादि।

दर्शन—

दर्शन के क्षेत्र में यूनान का महात्मा सुकरात अमर है। सुकरात का जन्म ४६० ई० पू० के लगभग हुआ था। वह गलियों में घूम घूम कर वहाँ के युवकों को सदाचार की शिक्षा देता था। उसके बहुत से नवयुवक उसकी बात तर्क संगत तथा उचित समझकर

उसके पीछे फिरने लगते थे। वह उनसे प्रश्न पूछता और फिर तर्क द्वारा उनके असत्य विचारों का खण्डन करता था तथा अपने विचार उन्हें समझाता था। किन्तु सच्चे महात्माओं को लोगों ने उनके जीवन-काल में प्रायः बहुत कम समझ पाया है। यूनान के सत्ताधारियों को भी सुकरात के विचार सह्य न हुए। उन्होंने उसे देशद्रोही और धर्मद्रोही ठहराया। युवकों को बहकाकर दूषित मार्ग पर ले जानेवाला घोषित किया। उसके अच्छे विचारों के लिये उस पर मुकदमा चलाया गया और अन्त में उसे मृत्युदण्ड सुना दिया गया तथा उस समय की पद्धति के अनुसार विष का प्याला पिलाकर उसका प्राणान्त कर दिया गया (३९९ ई० पू०)। यह यूनान के जनतन्त्र पर एक बड़ा कलंक है। सुकरात युवकों को बिगाड़ने वाला, गलत रास्ते पर ले जानेवाला तथा देशद्रोही नहीं वरन् उन्हें सदाचरण और सच्चा मार्ग दिखानेवाला था। वह उन्हें स्वतन्त्र विचार करने तथा अपने पुराने विचारों को तर्क की कसौटी पर कसने की शिक्षा देता था।

प्लेटो या अफलातून सुकरात के समान ही यूनान के दार्शनिकों में सबसे अधिक विद्वान तथा प्रसिद्ध था। उसका शिष्य अरस्तू या एरिस्टोटल बहुत वर्षों तक सिकन्दर का शिक्षक रहा था। एपीक्यूरस, जेनो आदि यहाँ के अन्य दार्शनिक थे। ईश्वर, सृष्टि निर्माण, आत्मा, प्रकृति आदि के सम्बन्ध में इन्होंने काफी विचार तथा चिन्तन किया तथा अपने विचारों को लिखा—यद्यपि उनके सिद्धान्त भिन्न थे।

सिकन्दर के बाद यद्यपि सांस्कृतिक हलचल का केन्द्र सिकन्दरिया ही बन गया था किन्तु दर्शन का मुख्य केन्द्र एथेंस ही बना रहा।

शिक्षा—

यूनानी लोग शिक्षा पर काफी ध्यान देते थे। बच्चों को शिक्षा देना माता-पिता का सबसे मुख्य कर्तव्य समझा जाता था। कुछ राज्यों में बच्चों की शिक्षा में लापरवाही करने पर माँ बाप को दण्ड दिया जाता था। प्रारम्भिक शिक्षा के दो मुख्य अंग संगीत तथा व्यायाम माने जाते थे। बच्चों को अंकगणित तथा ज्ञान सम्बन्धी कुछ बातें कण्ठ करा दिये जाते थे। सब बच्चों को बीन बजाना और गाना भी सिखाया जाता था। ऐसा समझा जाता था कि संगीत से मनुष्य की आत्मा नरम तथा ध्यानवान बनती है।

वक्तृत्व कला—

प्राचीन यूनानी सभ्यता तथा साहित्य का एक मुख्य अंग वक्तृत्व-कला भी है। ऐसे समय में जब कि सभी नागरिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेना चाहते थे, वक्तृत्व कला का विकास आवश्यक था—इसी वक्तृत्व कला को यूनानियों पर प्रभाव डाल गया। वास्तव में यूनान ही पाश्चात्य दर्शन का विशिष्ट स्थल रहा है, क्योंकि

प्रभावशाली वक्ता अपने श्रोताओं को चाहे जिधर मोड़ सकता है तथा उन्हें अपने मत के अनुकूल बना सकता है।

राजनीतिक प्रभाव लोगों पर डालने के अतिरिक्त यूनानी नागरिकों को एक अन्य कारण से भी भाषण-कला सीखने की आवश्यकता होती थी। उन्हें न्यायालयों में अपने पक्ष के समर्थन में स्वयं ही बोलना पड़ता था और वे न्यायालय एक प्रकार से सार्वजनिक सभा के समान ही होते थे, क्योंकि वहाँ लगभग ५०० व्यक्ति न्यायकर्ता होते थे जो इकट्ठे होकर मामलों को सुनते और उनका निर्णय करते थे। वादी तथा प्रतिवादी को स्वयं उनके सामने उपस्थित होकर अपना पक्ष समझाना पड़ता था। अतः भाषण-कला की शिक्षा देना भी वहाँ एक व्यवसाय बन गया था। स्थान स्थान पर वक्तृत्व कला सिखाने वाले शिक्षक दिखाई देते थे। एटिक (दक्षिण के एटिका प्रान्त की) भाषा के ऐसे दस शिक्षकों के लेखों के नमूने अब भी मिलते हैं। इनमें एन्टीफोन (५वीं शताब्दी ई० पू०) दीनारकस (चौथी तीसरी शताब्दी ई० पू०) लीसियास आदि प्रमुख हैं। लीसियास दूसरों के लिये भाषण लिख देने का भी कार्य करता था।

धर्म—

प्रारम्भ में यूनानी लोग भारतीय आर्यों की भाँति नैसर्गिक शक्तियों की उपासना करते थे। उनके देवता जियस (द्यौस अथवा आकाश), पोसीडन (समुद्र), अथेनी (बुद्धि की देवी), अपोलो (सूर्य), डीमीटर (पृथ्वी), आदि थे। सभ्यता के विकास के साथ-साथ देवताओं की संख्या में भी वृद्धि होती गई और संसार का प्रत्येक कार्य उन्हीं के द्वारा संचालित माना जाने लगा। स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न देवताओं के मन्दिर भी बन गये। यूनानियों का यह भी विश्वास था कि उनके मुख्य मुख्य देवता ओलम्पिस पहाड़ की चोटी पर निवास करते थे। उनका यह भी विश्वास था कि उनके देवी देवताओं को शारीरिक यत्न और स्वास्थ्य प्रदर्शन अधिक पसन्द है। इसीसे ये लोग शारीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य के विशेष प्रेमी थे।

यूनान में देवी देवताओं के जो मन्दिर थे उनमें दो मुख्य थे। पहला डेल्फी स्थान पर अपोलो (सूर्य देवता) का मन्दिर और दूसरा आलिम्पिया का। इन लोगों का विश्वास था कि अपोलो के मन्दिर के पुजारी या पुजारिन के ऊपर देवी चढ़कर बोला करती है। अतः वहाँ के पुजारियोंका देशमें बड़ा आदर था तथा लोग उनसे बहुत डरते भी थे। दूर-दूर के मनुष्य वहाँ आकर अपने कार्यों के अच्छे बुरे परिणाम, नये उपनिवेश बसाने के सम्बन्ध में सलाह तथा भविष्य की घटनाओं का हाल पूछा करते थे। ये लोग देवताओं की इच्छा जाने बिना कोई कार्य आरम्भ करना उचित नहीं समझते थे। पुजारिन (जो ओरेकल कहलाती थी) द्वारा प्राप्त किये गये उत्तर प्रायः अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते थे। फिर भी यह प्रथा यूनानी स्वतन्त्रता के अन्त तक चलती रही।

दूसरा ओलिम्पिया का मन्दिर खेलों का केन्द्र था। यहाँ पर साल में दो चार बड़े उत्सव मनाये जाते थे जिनका उद्देश्य यह था कि लोगों को यह स्मरण रहे कि यूनान के लोग एक ही जाति के हैं। इन उत्सवों में तरह तरह के खेल होते थे, जैसे—कुश्ती नेज़ेबाजी, घुड़दौड़, रथ दौड़, कूदना आदि। इनमें यूनान की सब रियासतों के लोग भाग लेते थे और इस मौके पर रियासतें आपसी वैमनस्यों को भी दूर कर देती थीं। अनुमान किया जाता है कि ओलिम्पिक खेलों का प्रथम उत्सव ७७६ ई० पू० में हुआ था।

समाज—

यूनान के लोग मुख्यतः तीन श्रेणियों में बँटे थे—सरदार, साधारण स्वतन्त्र नागरिक और दास। सरदारों के पास निज की भूमि होती थी तथा उनके पास कई दास भी होते थे जो उनकी सब प्रकार की सेवा करते थे। मध्य श्रेणी के लोगों के भी प्रायः उनके पास थोड़ी बहुत भूमि रहती थी जिसे वे लोग स्वयं जोतते थे। दासों के साथ प्रारम्भ में अच्छा बर्ताव होता था और वे भी प्रायः घर के लोगों के समान समझे जाते थे। किन्तु आगे चलकर दासों पर निष्ठुर अत्याचार होने लगा। स्पार्टा के लोग दासों के प्रति अधिक क्रूर रहते थे, जबकि अथेंस के लोग अधिक सभ्य होने के कारण कुछ नरम रहते थे। परिणाम यह हुआ कि अथेंस के दासों ने कभी विद्रोह नहीं किया बल्कि युद्धों में भी अपने मालिकों की सहायता की जबकि स्पार्टा में ऐसा न हुआ। वहाँ दास सदा असन्तुष्ट रहते थे।

ये दास यूनान के बाजारों में बिकते भी थे। एक दास के दाम प्रायः १०० ड्राक्मा से ३०० ड्राक्मा (४ रुपये से लेकर १०-१२ रुपये तक) होते थे। इनमें स्त्री पुरुष दोनों ही होते थे। इन दासों से घर के सब तरह के काम लिये जाते थे।

अथेंस में स्त्रियों की स्थिति गिरी हुई थी। वे समाज से अलग समझी जाती थीं और प्रायः घरों में बन्द रहती थीं। उनकी शिक्षा पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता था।

भोजन सरदारों और साधारण लोगों का प्रायः एक-सा होता था अर्थात् रोटी दाल अथवा बकरी का मांस और फल। यही उनका मुख्य भोजन भी था। लोग शराब भी काफी पीते थे।

होमर के ग्रन्थों से पता चलता है कि यूनान में मुर्दों को जलाने की प्रथा थी, किन्तु बहुत से लोग मुर्दों को गाड़ते भी थे।

शासन प्रबन्ध—

यूनान अपनी प्रजातन्त्र (डेमाक्रेटिक) शासन व्यवस्था के लिये प्रसिद्ध है। अथेंस तथा अन्य नगर राज्यों में इसी प्रकार की व्यवस्था प्रचलित थी। वहाँ जनता का

जनता के बहुमत का शासन था। राज्यके समस्त नागरिक प्रतिमास अथवा आवश्यकतानुसार इकट्ठे होते थे तथा युद्ध, संधि, अधिकारियों की नियुक्ति आय नियम आदि बातों पर मिलकर विचार तथा निर्णय किया करते थे। यही सभा उनकी पार्लियामेंट थी, यही अदालत और यही नगर-सभा अथवा म्युनिसिपैल्टी थी। इतिहास में जन-समूह को कहीं भी इतने अधिकार नहीं रहे हैं। एक छोटी समिति अथवा कार्य-समिति भी होती थी जिसके लिये सर्वसम्मति से दस प्रतिनिधि चुन लिये जाते थे। ये लोग जनरल कहलाते थे। बहुत समय तक पेरिक्लीज इस प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष रहा। उसके समय में (४४५-४३१ ई० पू०) यूनान की बड़ी उन्नति हुई। उसकी स्थिति प्रधान मन्त्री जैसी नहीं थी बल्कि एक जनरल की अथवा प्रतिनिधि सभा के एक सदस्य की थी। किंतु लोगों को उस पर विश्वास था। भाषण कला में भी वह अद्वितीय था। अतः सभी लोगों पर उसका प्रभाव रहता था।

पलेपोनेशस प्रदेश में एकाधिकारियों (टायरेन्ट्स) का बहुत समय तक (७००-६०० ई० पू०) राज्य रहा। यूनान में 'टायरेन्ट' का अर्थ अत्याचारी या पीड़क नहीं बल्कि अवैधानिक रूप से शक्ति प्राप्त कर लेनेवाला होता था, जैसे कि आज के युग में डिक्टेटर होते हैं। किन्तु ये लोग प्रायः अच्छे आचरण के होते थे और यूनान में ऐसे लोगों ने अपनी प्रजा पर अत्याचार नहीं किये, बल्कि अपने राज्यको समृद्ध तथा बलवान बनाया।

अथेस और स्पार्टा—

यूनान की सभ्यता का केन्द्र अथवा हृदयस्थल अथेन्स ही था। अथेन्स की सभ्यता का ही यूनानमें प्रचार होता था। वह यूनानका शिवालय कहलाता था। अथेंस उस समय को देखते हुए एक काफी बड़ा नगर था। उसकी जनसंख्या उस समय लगभग ५० हजार थी। वह विद्या बुद्धि का केन्द्र समझा जाता था। इस सम्बन्ध में वहां एक कहानी कही जाती है। समुद्र का देवता पोसीडन और बुद्धिकी देवी अथेनी दोनों अपने अपने नाम पर एक नगर बसाना चाहते थे अथवा किसी नगर को अपना नाम देना चाहते थे। उन्होंने इस कार्य के लिये एक नगर को चुना, किन्तु उस नगर को किसका नाम दिया जाय इस सम्बन्ध में वे किसी समझौते पर न पहुँच सके। झगड़ा बढ़ते-बढ़ते सर्वोच्च देवता जियस के पास पहुँचा। उसने दोनों पक्षोंकी बातें सुनीं और फिर कहा कि अच्छा तुम दोनों बताओ कि अपने नगर को तुम अच्छी से अच्छी क्या चीज भेंट दोगे? समुद्र के देवता पोसीडन ने यह सुनकर एक घोड़ा उत्पन्न किया—बड़ा बलिष्ट और सुंदर। अथेनी ने एक सुन्दर फलदार जैतून का पेड़ उत्पन्न किया और कहा कि मैं नगर को यह सुंदर वृक्ष देना चाहती हूँ। दोनों के उपहारों को देखकर जियस ने निर्णय दिया

कि पोसीडन का घोड़ा यद्यपि सुन्दर और बलवान है किन्तु वह युद्ध के काम का है और वह लोगों को युद्ध के लिये ही प्रेरित करेगा। किन्तु अथेनी का वृक्ष सुख और शांति का प्रतीक है। युद्ध से शांति का दर्जा ऊंचा है। अतः यह नगर अथेनी का होगा। तभी से नगर का नाम एथेंस पड़ा। तब बुद्धि की देवी एथनी ने अपने नगर को वरदान दिया कि अथेंस के लोग बड़े विद्या बुद्धिवाले होंगे और उनकी कीर्ति चारों ओर फैलेगी, यहाँ तक कि एथेंस बुद्धि और सभ्यता का प्रतीक ही बन जायगा। इसी कारण अथेंस सदा से विद्या, बुद्धि और सभ्यता का केन्द्र रहा।

इसके विपरीत स्पार्टा की रियासत अपनी कुछ अन्य विशेषतायें तथा विचित्रतायें रखती थी। वहां के लोगों की दर्शन, विज्ञान, कला, कौशल आदि विषयों में विशेष रुचि न थी। वे लोग कुश्ती लड़ना, हथियार चलाना, खेलना, कूदना आदि अधिक पसन्द करते थे। वह सच्चे अर्थों में एक सिपाहियों की रियासत थी और सिपाहीगीरी में ही वहां के लोगों की रुचि थी। वहां बच्चों को आरम्भ से ही निडर बनने और कठिनाइयों को झेलने का अभ्यास कराया जाता था जिससे वे युद्ध की विपत्तियों को बिना घबराये सहन कर सकें। यदि बच्चा निर्बल होता तो माता पिता उसे टायगेटस पहाड़ पर नंगा करके डाल देते थे जिससे वह शीत और ठंड के कारण शीघ्र ही मर जाता था। यदि बच्चा सबल हुआ और जीवित रहा तो सात वर्ष की अवस्था में उसे राज्याधिकारियों के सिपुर्द कर दिया जाता था और वे लोग उसे कठोर अनुशासन में रखते थे। उन्हें कई दिन तक भूखा प्यासा भी रखा जाता था जिससे युद्ध में ऐसा अवसर आ पड़ने पर वे विचलित न हों और धैर्य से लड़ते रहें। स्त्रियां भी वहां पुरुषों के साथ खेलों और व्यायाम में भाग लेती थीं। बीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह प्रायः ३० वर्ष के पुरुषों के साथ किया जाता था जिससे उनकी सन्तान बलवान होती थी। उन्हें यह भी सिखाया जाता था कि उनके पति तथा पुत्र उनके नहीं बल्कि देश के हैं। अतः युद्ध के अवसर पर वे उन्हें बाहर लड़ने के लिये विदा करती थीं। युद्ध में उनकी मृत्यु हो जाना भी दुःख की बात नहीं समझी जाती थी, बल्कि युद्ध में हार कर लौट आना दुःख की बात समझी जाती थी। इसी कारण से स्पार्टा के लोगों की धाक समस्त यूनान में और बाहर भी वीरता के लिये धाक बनी हुई थी।

कुछ अन्य बातें—

इतिहास तथा सभ्यता के आरम्भिक काल में ही यूनान में धातुओं का प्रयोग आरम्भ हो गया था। होमर ने अपने जिन काव्यों में बीर योद्धाओं का वर्णन किया है वे प्रायः सभी कांसे के कवच और ढाल आदि पहिने हुए रहते हैं। वह कांसे ही की तलवार रखते थे। लोहे से भी होमर परिचित थे। किन्तु यूनान में कांसे के स्थान पर लोहे का प्रयोग हुआ तथा बाद के काल में और आगे चल कर निश्चित रूप से होने लगा था। किन्तु यह

कल्पना कर लेते हैं कि भारत के लोगों का 'यवनों' से परिचय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के अंत में अर्थात् सिकन्दर द्वारा किये गये भारत पर आक्रमण के बाद हुआ जबकि उसके साथ बहुत से यूनानी सैनिक आये थे तथा जब सिकन्दर के बाद भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर कई यवन राज्य स्थापित हुए तथा इस मान्यता के आधार पर भारत के उक्त प्राचीन ग्रंथ पुराणादि सिकन्दर के आक्रमण के बाद के काल के माने जाते हैं परन्तु यह मत अप्रामाणिक तथा असत्य सिद्ध होता है।

पश्चिमी एशिया के प्राचीन भूगोल से ज्ञात होता है कि एशिया माइनर का वह पश्चिमी तट जो पश्चिममें ऐजियन सागर तक चला गया है तथा जिसके पूर्व में लीडिया नाम का राज्य था, आस पास के कुछ द्वीपों सहित 'आयोनिया' कहलाता था। यह नाम इस कारण पड़ा कि यहाँ यूनानकी एक जाति ने जो 'आयोनियन' अथवा आयोनीय कहलाती थी अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। इस भागमें १२ अच्छे नगर बताये जाते हैं।

प्राचीन काल में यूनान में बसी हुई चार मुख्य जातियों में से एक आयोनीय भी थी। अन्य जातियाँ आयाटिक, डोरिक या डोरियन तथा एचियन थीं। प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि यूनान की जिस सबसे पुरानी जाति का पता चलता है वह पेलासगोइ थी। उसके बाद एचियन जाति की प्रधानता हुई और फिर हेलेनीस लोग प्रधान हुए। ये हेलेनीज लोग किसी एक जाति विशेष के थे अथवा यूनान के समस्त निवासी उस समय हेलेनीज कहलाते थे यह स्पष्ट नहीं होता। कुछ लोग एचियन लोगों को ही हेलेनीज बतलाते हैं। किन्तु ऐसा ज्ञान पड़ता है कि यूनान में हेलेनीज लोगों की प्रधानता होने से पहले ही यहाँ के लोगों ने आस पास कुछ बस्तियाँ बसा ली थीं और ये लोग आयोनीय जाति के थे जिसके कारण उनकी बस्तियों का देश 'आयोनिया' कहलाता था। ऐसा ज्ञान पड़ता है उस समय समस्त यूनान में भी आयोनीय जाति की ही प्रधानता थी, क्योंकि इतिहास पूर्वकाल में यूनानियों के लिए 'आयोनीय' नाम का ही अधिक उपयोग मिलता है।[1] ये आयोनीय लोग 'यवन' को अपना आदि पुरुष मानते थे। यह 'यवन' अवश्य ही कोई अधिक प्राचीन तथा शक्तिशाली व्यक्ति रहा होगा क्योंकि उसका नाम यहूदियों की पुरानी धर्म पुस्तक 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' (जेनेसिस १०—२) में भी आया है। यहूदी लोग 'यवनी' अथवा 'आयोनी' शब्द को समस्त यूनानी जाति के लिए प्रयुक्त करते थे। बाद में फारस के लोग उन्हें 'यौन' कहते थे।[1] यह शब्द दारा के शिलालेखों में प्रयुक्त हुआ है जो ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व के समझे जाते हैं।

---

1 *Encyclopedia Brittanica Ionia*
In view of the name of the Ionian Sea which was ancient it is possible that the mainland of Greece was once known as Ionia · its inhabitants as Ionians

यूनान के कवि होमर ने भी 'आयोनियन' शब्द का प्रयोग किया है जो मुख्यत एटिका (यूनान के दक्षिणी भाग) के निवासियों के लिये आया जान पड़ता है। हेरोडोटस ने लिखा है कि आयोनियन लोगों का प्रारम्भिक निवास उत्तर पूर्वी पैलोपोनेसस (उत्तरी यूनान) था जहाँ से एचियन लोगों ने उन्हें भगा दिया और ये एटिका प्रान्त में जाकर बसे और फिर वहाँ से पश्चिमी एशिया (एशिया माइनर) में जा बसे।

इससे ज्ञात होता है कि आयोनीय जाति यूनान की प्राचीन जाति थी जो एचियन जाति से भी पूर्व से यहाँ बसी हुई थी। वह वहाँ की एक प्रधान जाति भी थी जिसके कारण समस्त यूनान को भी उसी के नाम पर 'यवन' तथा 'यौन' कहा जाता था और इसी जाति के कारण इस देश का नाम 'यूनान' पड़ा जो आज तक प्रचलित है। उनका यही नाम यहूदियों तथा पारस के लोगों में भी प्रचलित था और वहीं से यह नाम भारत में आया होगा। इस प्रकार भारत के प्राचीन ग्रन्थों में 'यवन' नाम होना इस बात का द्योतक नहीं है कि भारतीयों ने यह नाम सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही जाना। उससे हजारों वर्ष पूर्व से ही भारत के लोग 'यवन' नाम से परिचित थे।

भारतीय प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के काल से काफी पहले हुआ है—वह भी यवनों से परिचित था। रामायण तथा महाभारत में उनके नामों के उल्लेख से ऐसा जान पड़ता है कि भारत के लोग उनसे भलीभाँति परिचित थे। ऊपर ब्रह्माण्ड पुराण का जो उल्लेख किया गया है उससे अनुमान होता है कि उस समय में भी (इक्ष्वाकु वंशी सगर श्रीराम से भी कई पीढ़ी पूर्व हुए) यवन लोग भारत के उत्तर पश्चिम के प्रदेशों में बसे थे और सम्भवत आर्य क्षत्रिय माने जाते थे। श्री पोकाक की पुस्तक 'इण्डिया इन ग्रीस' के आधार पर ऐसा अनुमान किया गया है कि सगर के काल तक यवन जाति के लोग जो पूर्ण आर्य तथा क्षत्रिय थे और संस्कृत भाषा बोलते थे—भारत के उत्तरी पश्चिमी देशों में बसे थे।[1] सगर के बहुत काल बाद ये यवन लोग यूरोप में गये और यूरोप में जिस देश पर उन्होंने अपना अधिकार जमाया वह आयोनिया अथवा यवन देश हुआ। सम्भव है इस कथन में कुछ सत्यता हो। कई यूरोपीय इतिहासकार भी इस बात को मानते हैं कि प्राचीन काल में, मध्य एशिया से आर्यों की जो एक शाखा पश्चिम की ओर गई वह यूनान में भी पहुँची थी। कुछ भी हो इतना अवश्य जान पड़ता है कि भारत के लोग सिकन्दर के आक्रमण के बाद से 'यवन' शब्द से परिचित नहीं हुए बल्कि वे उस काल से बहुत पूर्व से 'यवन' जाति के

---

1 प्राचीन भारत का इतिहास—श्री भगवद्दत्त पृष्ठ ६६-६७

लोगों से तथा उनके देश से भलीभाँति परिचित थे। यह सम्भव है कि पारस वालों का तथा भारतवासियों का भी पहिले पहल परिचय आयोनीय जाति के उन लोगों से हुआ हो जो पश्चिमी एशिया के उपनिवेशों में बसे हुए थे तथा इसी कारण उन्होंने यूनान के सभी निवासियों को 'यवन' कहना शुरू कर दिया हो।

धर्म पर प्रभाव—

ऐसा समझा जाता है कि यूनान का धर्म बाहरी प्रभावों का मिश्रण है अर्थात् उस धर्म पर मिस्र, शाम, पारस तथा भारत आदि अनेक देशों का प्रभाव है। हेरोडोटस का यह स्पष्ट मत था कि देवताओं के बारे में यूनानियों के बहुत से विश्वास तथा धर्म के बारे में अनेक बातें एक दम मिस्र वालों से उधार ली गई थीं। उसका यह भी स्पष्ट विचार था कि तिथि पत्र भी यूनान ने मिस्र वालों से ही उधार लिया। इसी प्रकार यूनान का हेरीक्लीज देवता शाम के मल्कार्ट देवता का रूप माना जाता है। यूनानी देवता डायोनियस के सम्बन्ध में श्री ग्रोवर2 का विचार है कि यह देवता वहां पारस से या एशिया से पहुँचा। उसके सम्मान में अथेन्स में कई उत्सव मनाये जाते थे।

यूनान के कई देवताओं पर भारत का भी प्रभाव दिखाई देता है। 'यूरेनस' देवता के सम्बन्ध में अनुमान है कि यह 'वरुण' का ही रूपान्तर है। प्राचीन भारतमें वरुण की पूजा सर्वोच्च देवता के रूप में होती थी। यहीं से भारत के निवासी जिनमें पणि जाति के लोग मुख्य थे, वरुण की पूजा को पश्चिमी एशिया में ले गये और वहां से वह यूनान पहुँची। यह 'वरुण' देवता भारत से चलकर सम्भवतः पहले ईरान में पहुँचा जहाँ वह 'वरेन' बना फिर आगे पश्चिमी एशिया तक पहुँचते पहुँचते वह 'ओरनेस' बना और यूनान में पहुँचकर 'यूरेनस' होगया। इसी प्रकार यूनानी देवता जियस, मिनर्वा और हेलियोस क्रमशः इन्द्र, उषा और सूर्य के रूपान्तर माने जाते हैं।

दर्शन पर प्रभाव—

यूनान के दर्शन पर भारत का प्रभाव और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। विद्वानों का अनुमान है कि यूनानी दार्शनिक हेराक्लीटस, एपीक्यूरस आदि के दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय सांख्य दर्शन से प्रभावित हैं तथा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक पैथागोरस (६ वीं शताब्दी ई० पू०) भी सांख्य दर्शन से प्रभावित हुआ था। पैथागोरस के चरित्र लेखक ने लिखा है कि उसने मिस्र और असीरिया जाने के अतिरिक्त ब्राह्मणों की भी संगति की थी। सम्भवतः पुनर्जन्म की शिक्षा उसने भारतीय ब्राह्मणों से ही ली होगी, वह जीव हिंसा का भी विरोधी बताया जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि भारतीय दार्श

2 The Ancient World T R Grover p 129

निकों की विचारधारा ने सम्भवत फारस के लोगों द्वारा यूनान में प्रवेश किया होगा, क्योंकि फारस के लोगों के साथ यूनान का व्यापारिक आदान-प्रदान तो होता ही था, विचारों का भी आदान-प्रदान चलता था। पथागोरस के सिद्धान्तों में मुख्य हैं आत्मा का पुनर्जन्म, पाँच भौतिक तत्व, जीव का ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करना आदि और ये सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का पूर्णतया अनुसरण करते हैं। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में पैथागोरस ने जो मत प्रकट किया है उससे पूर्व पाश्चात्य देशों में उस मत किसी ने प्रकट नहीं किया था। यूनान में यह सिद्धान्त विदेशों से आया, इसे यूनानी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। अनेक लेखकों ने बताया है कि पैथागोरस तथा अन्य यूनानी दार्शनिकों ने भारत की यात्रा भी की थी।

मैक्समूलर का कथन है कि सुकरात के समय (४६६-३९९ ई० पू०) में भारतीय दार्शनिक लोग एथेन्स नगर में आते जाते थे तथा एक भारतीय दार्शनिक का एथेन्स में सुकरात के साथ विचार विनिमय भी हुआ था।

सुकरात के बाद प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो या अफलातून हुआ (४२७-३४५ ई०पू०) जिसका यूरोप के राजनीतिक विचारों के इतिहास में अत्यन्त उच्च स्थान है। प्लेटो के ऊपर भारतीय अध्यात्म तत्व का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। इस बात को मैक्समूलर इमर्सन आदि विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है। एक अन्य विद्वान उर्विक ने लिखा है कि प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में जिस सिद्धान्त की स्थापना की है वह भारतीय सिद्धान्त की प्रतिध्वनि मात्र है। वह मानता था कि कर्मों के अनुसार मनुष्य की आत्मा पशु-योनि में तथा पशु की आत्मा मनुष्य-योनि में आ सकती है। इस प्रकार अपने पुनर्जन्म सिद्धान्त के साथ कर्मवाद के सिद्धान्त को मिला कर एक नवीन दर्शन की रचना की जो दर्शन पूर्णतया भारतीय है। उपनिषदों में जीव को रथी तथा इन्द्रियों को अश्व के रूप में वर्णित किया गया है (पृष्ठ १, ३, ३४) प्लेटो ने भी अपने एक ग्रन्थ में इसी रूपक का प्रयोग किया है।

दूसरी शताब्दी ई० पू० में प्लोटिनस ने 'न्यू प्लेटानिज्म' अर्थात् अभिनव प्लेटोवाद का सिद्धान्त चलाया जिसमें प्लेटो के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिवाद किया गया है। उसने कहा कि जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी हैं और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नहीं है वे फिर से शरीर धारण नहीं करेंगी। यह भी और कुछ नहीं उपनिषदों के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण की प्रतिध्वनि मात्र है। [illegible] है कि प्लोटिनस ने उपनिषदों के [illegible] हो [illegible] सिद्धान्त [illegible] प्राप्त की थी।

टिप्पि—

यूनानी [illegible] के [illegible] ने [illegible] है कि [illegible] और [illegible] [illegible] (४[illegible]) [illegible] भारती [illegible] करते हुए यूनान में [illegible]

वे अपने साथ एक लिपि भी लाये और यूनानियों ने उन्हीं अक्षरों को अपना लिया। अन्य लोगों के मतानुसार अक्षरों का आविष्कार शाम (सीरिया) के लोगों ने किया। वहाँ अल्फा या पुल्फि का अर्थ बैल, बेटा या बेथ का अर्थ मकान और गामा या गिमेल का अर्थ ऊट होता था। पहले ये शब्द चित्रों के रूप में लिखे जाते थे जैसे बेटा (मकान) एक त्रिभुज के आकार का बनाया जाता था। प्रारम्भ में ये अक्षर केवल व्यञ्जनों के लिये बनाये गये थे। यूनानियों ने उनमें स्वर भी जोड़े।

यहूदी लोग इन अक्षरों को दाहिनी से बाई ओर को लिखते थे। यूनानियों ने जब पहले पहल इन अक्षरों को अपनाया तो उन्होंने इन अक्षरों को दायें बायें दोनों ओर से लिखना आरम्भ किया अर्थात् पहले दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखते थे और एक पंक्ति समाप्त हो जाने पर उसके नीचे दूसरी पंक्ति बायें से शुरू करके दाहिनी ओर लाते थे और तीसरी पंक्ति फिर दाहिनी से बाईं ओर को ले जाते थे और चौथी पंक्ति फिर बाईं ओर से दाहिनी ओर लाते थे। बहुत समय बाद उन्होंने बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखने का सिद्धान्त अन्तिम रूप से निश्चित किया। सम्भव है इस सिद्धान्त पर भी भारत का प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि भारत की लिपि जहाँ तक ज्ञात हो सका है, प्रारम्भ से ही बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती रही है।

अन्य प्रभाव—,

यूनान का 'मना' शब्द जो बड़ी तौल का एक माप है भारत से गया जान पड़ता है। ऋग्वेद (८, १४, २) में 'मना' शब्द आया है जो सोने की तौल के लिये आया हुआ जान पड़ता है। यूनान में यह शब्द सम्भवतः हीब्रू (यहूदी) भाषा के द्वारा पहुँचा जान पड़ता है। श्री अविनाशचन्द्र दास का विचार है कि मना एक सोने का सिक्का था जो पणियों के द्वारा बेबीलोन और असीरिया में ले जाया गया है और वहाँ से आगे चलकर यह यूनान की मुद्रा प्रणाली में सम्मिलित हो गया। असीरिया के पुराने लेखों में 'मना' शब्द का प्रयोग पारसी भाषा में मिलता है। अतः वहाँ पर पणियों द्वारा उसके ले जाये जाने की कल्पना अधिक तर्कसंगत जान पड़ती है।

इस प्रकार भारत से अत्यधिक दूर होने पर भी यूनान पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में भारत का तथा तथा भारतीय सभ्यता का प्रभाव बड़ी मात्रा में दिखाई देता है तथा इन दोनों देशों का व्यापारिक सम्बन्ध भी प्राचीन काल से ज्ञात होता है।



[illegible] इटली

मानचित्र—[illegible] से

अध्याय ८

रोम की प्राचीन सभ्यता

प्राचीन सभ्यताओं के काल क्रम में रोम सबसे अंत में आता है, क्योंकि सुमेर, मिस्र आदि की सभ्यतायें जब ३ ४ हज़ार वर्ष की पुरानी हो चुकी थीं, तब रोम की सभ्यता का आरम्भ हो रहा था, किन्तु यूरोप के इतिहासकार रोम की सभ्यता तथा उसके इतिहास की गणना पुरानी सभ्यता तथा पुराने इतिहास में करते हैं, कारण कि यूरोप में यूनान तथा रोम दो ही ऐसे देश हैं जिनकी सभ्यता अपेक्षाकृत पुरानी है शेष। देशों ने इन्हीं देशों से सभ्यता का पाठ पढ़ा। रोम का महत्व इस कारण भी है कि यूरोपीय महाद्वीप की सभ्यता पर यूनान से भी अधिक प्रभाव रोम का है। रोम के ही राजनियमों (कानून) के आधार पर यूरोपीय देशों के राजनियम बने और बाद में रोम के ही गिरजे ने—धर्म ने—समस्त यूरोप को एकता के सूत्र में बाँधा। यूरोप के प्रायः प्रत्येक देश की शासन पद्धति में रोम की सीनेट (परामर्श समिति) की झलक मिलती है।

रोम के इतिहास की एक विशेषता यह है कि वह किसी एक बड़े देश का इतिहास नहीं है बल्कि एक ऐसे नगर का इतिहास है जो धीरे-धीरे बढ़कर इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने अपने को समस्त इटली प्रायद्वीप का ही नहीं बल्कि समस्त भूमध्यसागर के पास के देशों का तथा यूरोप के एक बड़े भाग का अधिपति बना लिया। रोम नगर एक बड़े साम्राज्य में परिवर्तित हो गया और यह साम्राज्य कई शताब्दियों तक चलता रहा।

रोम का इतिहास हजार आठ सौ ई० पूर्व तक पहुँचता है। उस समय उत्तर इटली में जो जातियाँ बसी हुई थीं वे केल्ट जाति के लोगों से मिलती जुलती थीं तथा प्रायः उत्तरी इटली में Po नदी की घाटी में बसी हुई थीं। इसके पूर्व यहाँ बाहर से कुछ जातियाँ आई थीं जिनको मुख्यतः तीन भाग किए जाते हैं। पहिले इटालियन या इटली के लोग आये जो दक्षिणी प्रायद्वीप में बस गये। इनमें अम्ब्रियन, सेमनाइट्स तथा लेटिन आदि जातियाँ थीं। फिर एट्रस्कन जाति के लोग आए जो एशिया माइनर से आए समझे जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये लोग १००० ई० पू० के लगभग रोम में आये थे। ये लोग अधिकतर कृषक तथा व्यापारी थे और व्यापार के लिए समुद्र में यूनानियों के सम्पर्क में थे, किन्तु इन्होंने यूनान वालों की लिपि अपना ली थी। इनका थोड़ा कुछ असर इस इटली पर अच्छा प्रभाव रहा। इनके बाद यूनानी जातियों के लोग आये जिन्होंने

दक्षिणी इटली में अपने बहुत से उपनिवेश बसा लिये, यहाँ तक कि दक्षिणी इटली का नाम ही 'बृहत्तर यूनान' पड़ गया। ये लोग अपने साथ ऐसी सभ्यता लाये थे जो उस समय इटली में बसे हुए लोगों की सभ्यतासे कहीं ऊँची थी। यूनानी इतिहासकारों ने तो अपनी इस ऊँची सभ्यता के गर्व में इटली में बसे हुए इटालियन जाति के लोगों को 'बर्बर आदिवासी' कहा है।

इटालियनों की लेटिन जाति इटली प्रायद्वीप के दक्षिण में टाइबर नदी के मुहाने के पास खेती का काम करती थी। यहीं पर सात छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच में एक नगर की उत्पत्ति हुई जो 'रोम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रोमके लोग जब कुछ दिनों बाद शक्तिशाली हुए तो उन्होंने प्रचलित किम्वदन्तियों के आधार पर अपनी उत्पत्ति के विषय में एक कथा बनाली। प्रायः प्रत्येक देश में अपने आदि पूर्वजों का सम्बन्ध देवताओं से जोड़ने की प्रथा देखी जाती है—सम्भवतः इस कारण कि अपनी जाति तथा अपने पूर्वजों के प्रति लोगों में आदर भावना रहे। इसी कारण रीमस और रोम्युलस नाम के इन दो व्यक्तियों को, जो रोम नगरके संस्थापक माने जाते हैं, ट्रोजन युद्ध के प्रसिद्ध वीर एनियस का वंशज बताया गया और यह एनियास देवता जुपिटर तथा देवी हेलन का पुत्र बताया गया। ट्रोजन युद्ध के पश्चात एनियास नाम का योद्धा घूमते-घूमते इटली में आ पहुँचा था। इस कारण इसका नाम रोम नगर के संस्थापकों से जोड़ दिया गया।

रोम के संस्थापकों की उत्पत्ति-कथा संक्षेप में इस प्रकार है। वीर एनियास ने इटली में पहुँचकर अल्बा नगरमें एक राजवंश की स्थापना की। इसी वंश में नुमिटर नाम का एक राजा हुआ। इसके छोटे भाई एमुलियस ने उसे गद्दी से उतार दिया। फिर उसने नुमिटर के पुत्र को मरवा डाला और पुत्री सिल्विया को एक मंदिर में बन्द कर दिया। यहीं पर सिल्विया के दो बच्चे एक साथ हुए जिनका पिता युद्ध का देवता मार्स था। गद्दी पर जबरदस्ती अधिकार करने वाले एमुलियस ने जब सिल्विया के बच्चे पैदा होने का समाचार सुना तो उसने तुरंत सिल्विया और उसके दोनों बच्चों को टाइबर नदी में फेंकवा दिया जो उस समय बाढ़ से भरपूर थी। सिल्विया तो नदी में डूबकर मर गई, किन्तु दोनों बच्चे किसी प्रकार बचते हुए दूर किनारे पर आ लगे। यहाँ कुछ समय तक मादा भेड़िया उनकी देखभाल करती रही। फिर जंगलमें घूमते हुए एक गड़रिये ने इन्हें देखा और वह उन्हें उठाकर अपने घर ले गया। गड़रिये की पत्नी ने इनके नाम रीमस और रोमुलस रखे। ये बच्चे बड़े वीर और साहसी हुए। बड़े होने पर उन्होंने अपनी माता के चाचा एमुलियस को मार डाला और अपने नाना नुमिटर को फिर गद्दी पर बिठाया। फिर इन लोगों भाइयों ने टाइबर नदी के पास ही जहाँ पर वे बहते हुए आकर किनारे लगे थे—सात पहाड़ियों के बीच में जिनके नाम पः टाइन, अवंटाइन, केपिटो-

लाइन आदि हैं—एक स्वतन्त्र नगर बसाया जो रोमुलस के नाम पर रोम कहलाया। रीमस इससे पूर्व ही आपसी युद्ध में मारा जा चुका था। एक अन्य कथा के अनुसार नगर का नाम रोम रूमोन नदी के कारण पड़ा जो टाइबर का ही पुराना नाम था। अनुमानतः रोम की स्थापना ७५३ ई० पू० में हुई थी।

इतिहास—

सन् ७५३ ई० पू० से ही रोम के इतिहास का पता चलता है। पहला राजा रोमुलस ही था। उसने अपने आस पास बसने वाले लैटिन आदि के लोगों को पराजित किया और कई छोटे छोटे ग्रामों को रोम की सीमा में सम्मिलित कर लिया। उसने ७१६ ई० पू० तक राज्य किया तथा रोम को एक अच्छा नगर बना दिया।

रोमुलस की मृत्यु के एक वर्ष बाद दूसरा राजा चुना गया जिसका नाम नुमा पोम्पिलियस था। यह सब प्रकार के कानूनों का पंडित था परन्तु स्वार्थहीन होने के कारण एकान्त जीवन व्यतीत करता था। लोगों के बहुत आग्रह करने पर ही उसने राजा बनना स्वीकार किया। राजा बनने पर उसने प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी भूमि की सीमा बाँधने का आदेश दिया। यह सीमा पवित्र किये हुए पत्थरों से बनाई जाती थी। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमि को सुरक्षित समझने लगा। नुमा का राज्य भारी लगा और शान्तिपूर्ण रहा। जब उसकी मृत्यु हुई तो लोगों ने बड़ा विलाप किया।

इसके बाद भी राजाओं का चुनाव इसी प्रकार होता रहा और बीच बीच में सीनेट अर्थात् राजा की परामर्श समिति शासन कार्य करती रही। नुमा के पश्चात् ५ राजा और हुए जिन्होंने लगभग २०० वर्ष अर्थात् ५१० ई० पू० तक राज्य किया। इनके समय में रोम की सातों पहाड़ियों के चारों ओर एक बड़ी दीवार बनवाई गई जो कई शताब्दियों तक रोम नगर की सीमा का काम देती रही। इसी समय तक रोम की आबादी भी बढ़ते-बढ़ते ८० हजार के लगभग हो गई थी।

इन राजाओं के समय में रोम में एक प्रकार से नियमित शासन प्रथा का आरम्भ हो गया था। राजा की सहायता के लिए एक परामर्श समिति होती थी जो 'सीनेट' कहलाती थी। इसमें नगर के चुने हुए बड़े बूढ़े मनुष्य रहते थे जिनकी संख्या १०० होती थी। इस सीनेट की स्थापना सम्भवतः राजा रोमुलस ने ही शासन प्रबन्ध में अपनी सहायता के लिये की थी। [illegible] में एक [illegible] नाम की एक और जाति रोम में [illegible] सीनेट की सदस्य-संख्या २०० कर दी गई और कुछ समय पश्चात् ३०० तक बढ़ा दी गई। इसके अतिरिक्त नागरिकों की एक बड़ी सभा भी रोम में होती थी। इसे 'कमिशिया क्यूरिआटा' (बड़ी नागरिक सभा) कहते थे। इसमें रोम नगर के सभी नागरिक भाग लेते थे। नगर के महत्वपूर्ण विषयों का अन्तिम निर्णय इसी के द्वारा होता था।

था। ये दोनों सभायें ही यूरोप में जन तंत्रात्मक शासन प्रणाली के आधार हैं तथा इन्हीं का प्रचार अन्य देशों में हुआ।

जनतंत्र की स्थापना—

रोमका सातवाँ राजा टर्क्वियस सुपर्बस था। वह बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। अत रोम के नागरिकों ने अप्रसन्न होकर उसे गद्दी से उतार दिया और साथ ही भविष्य में किसी को भी राजा न बनाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ५१० ई०पू० में रोम में जनतन्त्र की स्थापना हो गई। यह जनतन्त्र कई सौ वर्ष तक (लगभग ५०० वर्ष तक) चलता रहा। अब एक राजा की जगह दो अधिकारी चुने जाने लगे, जिससे सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में न रहे। ये लोग मजिस्ट्रेट अथवा 'कौंसल' कहलाते थे। पहले-पहल चुने जाने वाले दो कौंसिलों में एक का नाम ब्रूटस था। इसने राजा को हटाने में प्रमुख भाग लिया था और उसे रोम छोड़कर भागने के लिये विवश किया था। ये कौंसल केवल एक वर्ष के लिये चुने जाते थे। एक साल के पश्चात् उन्हें अपने पद से अलग हो जाना पड़ता था, परन्तु उस अवधि में वे पूर्ण अधिकार सम्पन्न होते थे। उनकी सहायता के लिये परामर्श समिति भी रहती थी। ये समस्त नियम एक साथ दो कौंसल रखना, उनका कार्य काल एक वर्ष रखना तथा उनकी सहायता के लिये परामर्श समिति रखना इसीलिये बनाये गये थे जिससे शक्तिका विभाजन रहे तथा किसी एक व्यक्ति को निरंकुश बनने का अवसर न मिल सके। फिर भी आगे चलकर ऐसे कई अवसर आये—जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होगा जब इन कौंसलों ने एक वर्ष बाद अपना पद छोड़ने से इन्कार कर दिया तथा सत्ता अपने ही हाथ में रखी। एक बार तो एक कौंसल लगातार ४-५ वर्ष तक अपने पद पर बना रहा। ये कौंसल लोग परामर्श-समिति के अध्यक्ष भी होते थे तथा न्याय भी करते थे। युद्ध के समय प्रायः उनको सेनापति भी बना दिया जाता था। इसी प्रकार युद्ध जैसे विशेष अवसरों पर जब शीघ्र निर्णय की आवश्यकता होती थी तो सीनेट किसी एक सम्मान और योग्य व्यक्ति को डिक्टेटर अर्थात् सर्वाधिकारी नियत कर देती थी। ऐसे ही अवसरों पर उन्हें निरंकुश बन जाने का अवसर मिल जाता था, क्योंकि सेना और सत्ता उन्हीं के हाथ में रहती थी। कौंसलों का चुनाव प्रायः उच्च घरानों के लोगों में से ही होता था, साधारण श्रेणीका कोई व्यक्ति कौंसल नहीं बन सकता था। आगे चलकर इसी प्रश्न को लेकर संघर्ष खड़ा हुआ और तब साधारण श्रेणी के लोग भी कौंसल बनाये जाने लगे।

कौंसलों तथा सीनेट के ऊपर वहीं नागरिक सभा समझी जाती थी जिसे सर्वोपरि अधिकार प्राप्त थे। यदि कोई नागरिक कौंसलों के निर्णय से असन्तुष्ट होता तो वह

अपने मामले की अपील इस बड़ी सभा में कर सकता था। किन्तु इस बड़ी सभा को सर्वोपरि अधिकार थोड़े ही दिन तक प्राप्त रह सके—कुछ दिन बाद परामर्श समिति अथवा सीनेट ने अधिक शक्ति प्राप्त कर ली तथा बड़ी सभा अथवा 'कमिटिया' के अधिकार कम कर दिये गये। अन्त में साम्राज्य का उद्भव हुआ और जनतन्त्र समाप्त हो गया। इन समस्त झगड़ों में लगभग ५०० वर्ष लगे।

जिस समय जनतन्त्र की स्थापना हुई और ब्रूटस एक कौन्सल था, उस समय पदच्युत राजा लूसियस सुपर्बस ने आसपास के कुछ राजाओं से मिलकर एक बड़ी सेना तैयार कर ली और रोम पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना रोम में प्रवेश करने के लिये टाइबर नदी के उस पार तक आ पहुँची थी और रोम में भारी घबराहट फैल रही थी। परन्तु तभी होरेशस नामक एक वीर ने नदी के पुल के अगले द्वार पर खड़े होकर बड़ी देर तक शत्रु सेना को रोक रखा और इसी बीच में रोम के निवासियों ने नदी का पुल तोड़ डाला और इस प्रकार शत्रुओं से रोम की रक्षा हो गई। होरेशस की यह देशभक्ति तथा वीरता रोम के इतिहास में प्रसिद्ध है।

इसी समय की देशभक्ति तथा न्यायप्रियता का एक और उदाहरण उल्लेखनीय है। राजा सुपर्बस के उस षड्यन्त्र में रोम के भी बहुत से लोग—जो कौन्सलों के व्यवहार से असन्तुष्ट थे—सम्मिलित हो गये। कई सामन्त लोग भी जो जनतन्त्र के सिद्धान्त विरोधी थे उसके साथ हो गये थे। ये लोग राजा सुपर्बस को ही फिर गद्दी पर बिठाना चाहते थे। परन्तु यह षड्यन्त्र विफल हो गया और बहुत से षड्यन्त्रकारी रोम में ही गिरफ्तार कर लिये गये। जब इन लोगों को न्याय के लिये कौन्सल ब्रूटस के सामने उपस्थित किया गया तो उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि उसके ही दो पुत्र भी षड्यन्त्रकारियों में शामिल हैं, परन्तु वह न्याय के पथ से विचलित न हुआ तथा अपने कर्तव्य की ओर अधिक ध्यान देकर उसने अन्य षड्यन्त्रकारियों के साथ अपने दोनों पुत्रों को भी मृत्यु दण्ड सुना दिया। उसके सामने ही उसके दोनों पुत्रों का भी वध किया गया। ऐसे ही पक्षपात रहित तथा देशभक्ति पूर्ण कार्यों के कारण रोम के लोग बहुत समय तक अपने जनतन्त्र की रक्षा कर सके तथा उन्नति करते गये। ये लोग अपने कर्तव्य, न्याय तथा देशभक्ति को ही सर्वोपरि स्थान देते थे।

वर्ग संघर्ष—

यद्यपि रोम के लोग एक साथ रहते, एक साथ युद्धों में भाग लेते तथा एक साथ बड़ी सभा की बैठकों में बैठते थे, फिर भी उनकी अलग दो मुख्य श्रेणियाँ प्रारम्भ से ही थी। पहली श्रेणी में वे लोग थे जो प्रारम्भ से अपना संस्थाओं व नगर के उच्च अधिकारियों व वंशज थे। इन्हें अपने वंश पर गर्व था और दूसरों को वे हीन भाव से

छोटा समझते थे। इन्हें कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। ये 'पेट्रिशियन' अथवा सामन्त कहलाते थे।

शेष निवासी जो साधारण स्थिति के थे 'प्लेबियन' कहलाते थे। उन्हें कौंसलों के चुनाव में मत देने का तो अधिकार था, परन्तु वे लोग कौंसल पद के लिये उम्मेदवार के रूपमें खड़े न हो सकते थे। उनके साथ कुछ अन्य बातों में भी भेदभाव का बर्ताव किया जाता था। उनके लिये ऋण के नियम भिन्न थे जो अधिक कठोर थे। यदि वे लोग नियत समय पर ऋण न चुका पाते तो उन्हें ऋणदाता का दास बनना पड़ता था। युद्धों में जीती हुई भूमि में भी उनका कोई भाग न रहता है वह केवल पेट्रिशियन लोगों में ही बाट दी जाती थी। किन्तु युद्धमें मुख्य भाग इन साधारण श्रेणी के लोगों को ही लेना पड़ता था। पेट्रिशियन लोग इन साधारण श्रेणीके लोगों से विवाहादि सम्बन्ध भी न करते थे। इस प्रकार इन साधारण लोगों की एक अलग ही जाति बन गई थी।

इन विषमताओं के कारण प्लेबियन अथवा साधारण श्रेणी के लोग बड़े दुःखी थे। बहुत दिनों तक तो वे इन भेदभावोंको सहन करते रहे, परन्तु अन्त में उनका धैर्य समाप्त हो गया तथा वे उन बातों का विरोध करने लगे। उन्होंने भिन्नताओं को दूर करने के लिये अधिकारियों से प्रार्थना की परन्तु कोई सुनवाई न हुई। अन्त में ये लोग रोम को छोड़कर बाहर चले गये और एक अलग पहाड़ी पर जाकर बस गये (४६४ ई० पू०)। अब एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गई। रोम नगर जन साधारण के बिना नहीं रह सकता था। युद्ध आदि का अवसर आ पड़ने पर रईस लोग लड़ने के लिये नहीं जा सकते थे। अन्य अनेक प्रकार के कार्य भी साधारण लोगों के बिना चलना कठिन था। अतः सीनेट ने अपने दो सभासदों को प्लेबियनों के पास भेजा कि वे उन्हें मनाकर रोम में वापस लावें। इसके फलस्वरूप दोनों दलों में एक समझौता हो गया। समझौते की एक बात यह थी कि साधारण लोगों के लिये उन्हीं के वर्ग के मजिस्ट्रेट अलग नियुक्त किये जावेंगे। इस प्रकार बनाये गये मजिस्ट्रेट 'ट्रिब्यून' कहलाने लगे।

पेट्रीशियन अथवा विशेषाधिकार प्राप्त लोगों पर साधारण वर्ग के लोगों की यह विजय रोम के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इससे उन्हें आगे लड़ने का रास्ता खुल गया और लड़ाई में उन्हें विजय पर विजय मिलती गई। कुछ दिन बाद ट्रिब्यूनों की संख्या बढ़ाकर दस कर दी गई और उनके अधिकारों में भी वृद्धि होती गई यद्यपि उनके निर्णय केवल साधारण श्रेणी के लोगों के लिये ही होते थे। रोम में एक प्रकार से अब द्वैध शासन आरम्भ हो गया था और यह द्वैध शासन जातन्त्र के अन्तिम समय तक चलता रहा, आगे चलकर सम्राट भी इस साधारण श्रेणी में से ही बने।

कुछ समय पश्चात् प्लेबों ने फिर अलग होने की धमकी दी और उन्हें फिर विजय प्राप्त हुई। अब ट्रिब्यूनों के निर्णय को मानना सब लोगों के लिये आवश्यक हो गया।

इस प्रकार दोनों दलों में समानता आती गई। फिर एक ट्रिब्यून के प्रस्ताव पर दोनों वर्गों में विवाह होना भी उचित मान लिया गया। अन्त में प्लेबों ने एक अन्तिम और सबसे बड़ी असमानता—कौन्सल चुने जाने का अधिकार न होना—भी दूर करने का प्रयत्न किया। इस पर निश्चय हुआ कि दो कौन्सलों के स्थान पर एक ऐसा 'ट्रिब्यूनल' स्थापित किया जाय जिसके तीन सदस्य हों और ये सदस्य दोनों वर्गों में से हो सकते हैं। इस प्रकार ३०० ई० पू० तक रोम के दोनों दलों में बिना रक्तपात के ही बहुत कुछ समानता स्थापित हो गई जिससे रोम सुदृढ़ तथा संगठित बना। इतिहास में ऐसे महत्त्व पूर्ण परिवर्तन इतनी शान्ति से बहुत कम हुए हैं।

रोम की प्रधानता—

रोमन लोगों द्वारा आपसी मतभेद दूर करके सुसंगठित होने का एक परिणाम यह हुआ कि आसपास की जातियों पर वे सहज ही प्रभुत्व प्राप्त कर सके। इन दिनों रोम में सबसे बलवान जाति एट्रस्कनों की थी जो रोम के उत्तर में और समुद्र के पश्चिमी किनारे पर बसी हुई थी। इस जाति के लोग धन, कला-कौशल आदि अनेक बातों में रोम वालों से भी आगे बढ़े हुए थे और व्यापार में भी कुशल थे। किन्तु कई छोटी छोटी रियासतों में बंटे होने के कारण वे रोम वालों को दबाने में असमर्थ रहे थे। युद्ध में भी वे रोम वालों से हार गये और इस प्रकार रोमवालों ने एट्रस्कन तथा लोगों पर प्रधानता प्राप्त कर ली। रोम अपने पास की लैटिन रियासतोंका मित्र था और उन्हीं की सहायता से वह एट्रस्कन तथा अन्य जातियों को हरा सका। रोम वाले भी लैटिन जाति के ही थे और उनमें प्रधान समझे जाते थे। सेमनाइट जाति के लोगों से यद्यपि रोम वाले कई बार हारे थे परन्तु ६० वर्ष की लम्बी लड़ाई के बाद अन्त में उनकी विजय हुई। इसके बाद गाल लोग भी जो आल्प्स पर्वत के दक्षिण में रहते थे तथा कई बार रोमनों पर हमले करके उन्हें भारी हानि पहुँचा चुके थे रोमनों द्वारा हरा दिये गये। इस प्रकार ३०० ई०पू० के लगभग समस्त इटली में रोम का ही प्राधान्य हो गया। नेपल्स तक का समस्त इलाका उनके ही अधिकार में आ गया था। आस-पास के बहुत से उपनिवेश भी उनके ही हो गये थे।

रोम और यूनान का संघर्ष—

आस-पास की जातियों पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात रोम वालों का संघर्ष यूनानियों से हुआ। जब रोम वालों ने सेमनाइटों को हराकर अपना राज्य सुदृढ़ किया उस समय तक सिकन्दर के साम्राज्य का नाश हो चुका था और उसके सेनापतियों ने भिन्न भिन्न देशों पर अधिकार कर लिया था। इस समय तक यूनानियों के पुराने बसाये हुए अनेकों उपनिवेशों और रियासतों—जैसे क्यूमी, कापुआ, टैरेन्टम आदि पर रोमनों

ने अपना अधिकार कर लिया था। यूनानी रियासतें अभी तक इन समस्त घटनाओं को चुपचाप देखती रही थीं, परन्तु अब रोम की दिन दिन वृद्धि देखकर उन्हें भय हो रहा था। समर का अवसर भी शीघ्र ही आगया। २८२ ई० पू० में रोम की सेनाओं ने टेरेन्टम नाम की एक यूनानी रियासत में संधि की शर्तों के विरुद्ध प्रवेश किया। इस पर टेरेन्टम ने एक दूसरी यूनानी रियासत एपिरस से सहायता मांगी। एपिरस का राजा इस पर एक बड़ी सेना लेकर इटली की ओर चला। रोमनोंने भी अच्छी तैयारियां कीं और यूनानी सेनाओं पर आक्रमण किया। किंतु यूनानी लोग एक प्रकार का व्यूह बनाकर लड़ते थे जिसे फेलेन्क्स कहते थे। रोमन सेनाओंने सात बार यूनानी सेनाओं पर आक्रमण किया परन्तु हर बार उन्हें विफलता के साथ पीछे लौटना पड़ा। अन्त में यूनानी सेना के हाथियों ने—जिन्हें रोमनों ने अब तक न देखा था और जिन्हें युद्ध में देखकर वे बहुत डर गये थे, आगे बढ़कर थकी हुई रोमन सेनाओं को कुचल दिया। सात हजार रोमन सैनिक मारे गये और दो हजार बन्दी बना लिये गये। यूनान के केवल दो हजार सैनिक मरे। संधि की बातचीत हुई पर संधि न हो सकी। तीन वर्ष बाद फिर लड़ाई शुरू हुई। इस समय में रोमवालोंने अपनी सेना सुगठित करली थी। अतः उन्होंने यूनानियों को हरा दिया। उनकी बस्तियों पर फिर रोम वालों का अधिकार हो गया।

इन युद्धों के साथ ही रोम के प्राचीन सदाचार मय धार्मिक और सच्चे जीवन का अन्त होता है। यह युग रोम के इतिहास में 'सुनहरा युग' कहलाता है। इस समय तक उनका रहन सहन बिल्कुल सादा था, उनमें छल-कपट का भाव न था, उनमें वीरता और देशभक्ति थी, कर्तव्यपालन के लिये माता, बन्धु, पिता-पुत्र, सबका मोह त्याग देने की भावना थी। बड़े रोमन कौंसल युद्धमें सबसे आगे रह कर देश के लिये बलिदान होगये। लड़ाई में भी रोम के लोग अभी तक नीति और सचाई से काम लेते थे। परन्तु आगे उनके इन गुणों का लोप होता गया और उनके ढंग में परिवर्तन होता गया।

रोम और कारथेज—

मनारा से झगड़ा निबटने के बाद रोम वालों का सामना एक दूसरे प्रबल शत्रु से हुआ—यह था कारथेज। यह फिनिशियन जाति के लोगों का बसाया हुआ एक उपनिवेश था जो रोम से लगभग १०० वर्ष पूर्व उत्तरी अफ्रीका के तट पर बसाया गया था। शीघ्र ही अपना व्यापार एवं बढ़ाकर वह स्थान अत्यन्त समृद्ध हो गया। समस्त उत्तरी अफ्रीका, स्पेन का आधा दक्षिणी भाग, कार्सिका, सार्डीनिया तथा सिसली के बहुत से भागों पर उसने अपना अधिकार भी कर लिया था। उसकी व्यापारिक बस्तियां समस्त भूमध्यसागर में फैली हुई थीं जिनका केन्द्र कारथेज था।

फिनिशियन लोगों का मुख्य ध्येय तथा धंधा व्यापार-व्यवसाय था। राजनीतिक बातों से वे विशेष सम्बन्ध न रखते थे। कारथेज के लोग भी अपने व्यापार की वृद्धि की ओर

ही अधिक ध्यान देते थे। वहां का शासन-प्रबन्ध भी मुख्यतः व्यापारियों के ही हाथ में था। अतः यद्यपि वे लोग रोम की बढ़ती हुई शक्ति से सशंक थे फिर भी संघर्ष बहुत दिनों तक टलता रहा।

किन्तु अब कारथेज और रोम दोनों में भूमध्यसागर पर आधिपत्य स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई थी। दोनों ही अपने अस्तित्व के लिए उसे आवश्यक समझते थे। अब संघर्ष अधिक दिन तक न टल सकता था। दोनों में युद्ध का अवसर शीघ्र ही आ गया।

इटली और सिसली के बीच में स्थित मेसिना नामक एक छोटे नगर के प्रश्न को लेकर रोम और कारथेज में संघर्ष आरम्भ हो गया। दोनों ने अपनी अपनी सेनायें वहां भेजीं (२६४ ई० पू०) और लड़ाई शुरू हो गई। [illegible] तीन मास तक यह लड़ाई चलती रही परन्तु हार जीत किसी की न हुई। परन्तु इस युद्ध में रोम वालों का यह अनुमान हो गया कि कारथेज वालों को हराने के लिये एक अच्छे समुद्री बेड़े की आवश्यकता है, क्योंकि कारथेज वालों की असली शक्ति उनका जहाजी बेड़ा था। अतः रोम वालों ने शीघ्र ही एक अच्छा जहाजी बेड़ा तैयार कर लिया और एक युद्ध में कारथेज वालों को हरा भी दिया।

परन्तु युद्ध चलता रहा। इस समय कारथेज वालों को एक योग्य सेनापति मिल गया—यह था हैमिल्कार। उसने अपनी सेनाओं का सुदृढ़ संगठन कर २५६ ई० पू० में रोम की सेनाओं को पूर्णतया पराजित कर दिया और रोमन कौंसल रेगुलस को जो रोम की सेनाओं का सेनापति भी था—गिरफ्तार कर लिया। सैकड़ों रोमनों को उसने अपने देवता पर बलि चढ़ाया। इससे रोम वालों को बड़ी निराशा हुई फिर भी उन्होंने धैर्य रखकर अपनी सेना पुनः संगठित की और पांच वर्ष बाद फिर कारथेज पर आक्रमण किया। रोमने कारथेजकी सेना को हराकर उससे १२० हाथी छीन लिये परन्तु कारथेज ने हार न मानी। रोम की सेनाओं ने अब कारथेज पर घेरा डाल दिया जो दस वर्ष तक पड़ा रहा। परन्तु कोई फल न निकला, क्योंकि कभी रोम की सेनायें हारतीं कभी कारथेज की। अन्त में रोम के नागरिकों ने स्वेच्छा से भारी संख्या में सेना में भर्ती होकर युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। वे अपने देश की रक्षा के लिये जी जान से लड़ने का निश्चय किये हुए थे। इन लोगों के पहुंच जाने के कारण अन्त में कारथेजी सेना पराजित हुई (२४१ ई० पू०) और उसे सन्धि करनी पड़ी। उन्होंने सिसली को खाली करना और युद्ध का हरजाना देना स्वीकार किया। इस प्रकार २३ वर्ष बाद रोम और कारथेज का युद्ध समाप्त हुआ। ये युद्ध 'प्यूनिक युद्ध' कहलाते हैं। यह प्रथम प्यूनिक युद्ध था।

२१८ ई० पू० तक शान्ति रही। इस समय में रोम ने आल्प्स पर्वत तक अपना विस्तार बढ़ा लिया था और [illegible] मुख्य भाग पर भी उनका अधिकार हो गया था।

अब उन्होंने सिसली के पास के दूसरे टापू सार्डीनिया पर भी अधिकार करना चाहा। इस पर फिर झगड़ा शुरू हो गया। सार्डीनियों में कारथेज वालों की आबादी काफी थी। उन्होंने रोमन सेनाओं के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। रोम ने विद्रोह सेना के बल पर दबाया और सैकड़ों 'कारथेजियों' को पकड़कर दास बना लिया। इस पर कारथेज ने अपनी सेनायें वहां भेजीं। इस बार उनका सेनापति हेमिल्कार का वीर पुत्र हेनिबाल था।

हेनिबाल एक वीर और कुशल सेनापति था। उसने यह जान लिया कि अब रोम वालों से समुद्र में लड़ना ठीक न होगा, क्योंकि उन्होंने अपना जहाजी बेड़ा मजबूत कर लिया था। अत उसने रोम पर एक टेढ़े मार्ग से आक्रमण करने की योजना बनाई। वह एक बड़ी सेना लेकर पहले स्पेन पहुँचा फिर वहाँ से पैरेनीज नामक पर्वत श्रेणी, रोम नामक तीव्र नदी और आल्प्स सरीखे दुर्भेद्य पर्वत को भी पार कर इटली की सीमा पर आ पहुँचा। मार्ग की कठिनाइयों को पार करने में उसकी भारी क्षति हुई, हजारों सैनिक मार्ग में ही मर गये, फिर भी उसकी यह कठिन यात्रा सैनिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है।

हेनिबाल के इटली तक आ पहुँचने की खबर सुनकर रोम में भारी घबराहट फैल गई। फिर भी उन्होंने धैर्य से काम लिया और हेनिबाल को रोकने के लिये एक बड़ी सेना उधर भेजी। इस प्रकार दूसरा प्यूनिक युद्ध शुरू हो गया जो रुक रुक कर २१८ ई० पू० २०१ ई० पू० तक चलता रहा।

रोम ने हेनिबाल के मुकाबिले के लिये जो सेना भेजी वह हेनिबाल की सेना से ५ ६ गुनी बड़ी थी। रोम का उस समय का कौंसिल सिपियो इस बड़ी सेना का सेनापति बनाया गया। कारथेजी सैनिक बिना पूरे साज सामान के बिना जीन और बिना लगाम के घोड़ों पर लड़ रहे थे। फिर भी उन्होंने रोमनों के बीच में घुसकर उन्हें तितर-बितर कर दिया। कौंसल सिपियो भी बुरी तरह घायल हुआ और मरते मरते बचा। रोम की भारी हानि हुई और इटली का समस्त उत्तरी भाग हेनिबाल के अधिकार में चला गया।

रोम वालों ने फिर नई सेनायें तैयार करके भेजीं, फिर घोर युद्ध हुआ। युद्ध रुकने पर रोम वालों ने देखा कि उनके १५ हजार सैनिक समर-भूमि में पड़े हैं। इससे रोम में भारी शोक छा गया। हेनिबाल अब रोम से केवल ८० मील दूर रह गया था। अत रोम में भारी घबराहट मी फैली हुई थी।

परन्तु इसी समय युद्ध का क्रम अप्रत्याशित रूप से बदल गया। हेनिबाल ने रोम की ओर आगे बढ़ने का इरादा बदलकर इटली के लोगों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इसी बीच रोम ने फिर हेनिबाल से दो गुनी सेना युद्ध में भेज दी परन्तु

यह सेना भी बुरी तरह पराजित हुई और उनके ५० हजार सैनिक मारे गये। रोम में हाहाकार मच गया, फिर भी रोम वालों ने हिम्मत न हारी। उन्होंने फिर नई सेना तैयार की। इधर इतने युद्धों के बाद हेनिबाल की शक्ति कमजोर होती जा रही थी। उसका भाई नई सेना लेकर स्पेन के मार्ग से ही हेनिबाल की सहायता के लिये आ रहा था, परन्तु रोम वालों ने उधर भी एक बड़ी सेना भेजकर उसका मार्ग रोक लिया। फिर रोमवालों ने कई युक्तियों से उसे हरा लिया और उसका सिर काटकर हेनिबाल के पड़ाव में फिंकवा दिया। इसे देखकर हेनिबाल शोक में डूब गया। उसे अब दिखायी देने लगा कि उसका भाग्य सूर्य अब अस्ताचल की ओर जा रहा है।

इसी समय रोम ने एक और भी युक्ति की। उसने हेनिबाल का सीधा मुकाबिला न करके एक बड़ी सेना कारथेज पर अधिकार करने के लिये भेज दी। यह सेना पूर्व सेनापति सिपियो के पुत्र के नेतृत्व में थी। इसका नाम भी सिपियो ही था। इस सेना को सहज में ही सफलता मिलती गई, क्योंकि कारथेज की बहुत बड़ी सेना हेनिबाल के साथ होने के कारण कारथेज में बहुत कम सेना थी। कारथेज वालों ने अब हेनिबाल को वापस बुलाया और उसे फिर लौटकर अपने देश की ओर आना पड़ा। उसे इटली छोड़ते देखकर समस्त इटली में तथा विशेषकर रोम में भारी हर्ष मनाया गया।

आगे की कथा थोड़े में कही जा सकती है। २०२ ई० पू० में हेनिबाल कारथेज में पहुँच गया और वहां सिपियो (कनिष्ठ) की सेना से उसका मुकाबिला हुआ। भयंकर युद्ध हुआ पर अन्त में हेनिबाल हार गया और उसे युद्ध से भागना पड़ा। कारथेज को सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। सन्धि की शर्तें बड़ी कठोर थीं। कारथेज को अपना सारा जहाजी बेड़ा रोम को सौंप देना पड़ा और उन जहाजों का सबके सामने ही अग्नि में भस्म कर दिया गया। इससे कारथेज की शक्ति सदा के लिये नष्ट होगई। हेनिबाल एक दूसर देश में चला गया और कुछ वर्ष बाद उसने विजय की कोई आशा न देखकर ग्लानि से आत्महत्या करली। इस प्रकार दूसरा प्यूनिक युद्ध रोम की विजय तथा हेनिबाल जैसे सुयोग्य सेनापति की पराजय के साथ समाप्त हुआ।

परन्तु रोम वाले इतने से ही सन्तुष्ट न हुए। वे कारथेज जैसे प्रबल शत्रु का सब नाम निशान ही मिटा देना चाहते थे। दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में रोम ने एक बहाना निकालकर अपनी सेना फिर कारथेज में भेज दी। युद्ध न चाहते हुए भी कारथेज को युद्ध करना पड़ा, परन्तु उसकी थोड़ी सी सेना हार गई। रोमन सैनिकों ने नगरको घेर कर लूटा, मनमानी हत्यायें की और अन्त में समस्त नगर में आग लगाकर अपने इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी को सदा के लिये नष्ट कर दिया। कारथेज के खण्डहर आज भी विद्यमान हैं और इसके किसी समय के गौरव की याद दिलाते हैं।

दोषों को भुलाकर शोक के आँसू बहाये, क्योंकि उसने जो कुछ किया था रोम की भलाइ के लिये किया था, अपने किसी किसी स्वार्थ के लिये नहीं।

सुला की मृत्यु होने पर रोम में फिर अव्यवस्था फैल गई। कइ जगह उपद्रव हुए। लोग सुला के समान ही किसी डिक्टेटर की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। जनतंत्र तथा सीनेटके शासन को वे असफल मानने लगे थे और इतने बड़े देश के लिये शासन-शक्ति केन्द्री-भूत होने की आवश्यकता समझ रहे थे। रोम वालों की दृष्टि किसी ऐसे व्यक्ति पर जा रही थी जो अनुभवी हो और किसी युद्ध का विजेता हो क्योंकि रोम में विजेता को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सबकी दृष्टि पोम्पी (पोम्पियस) पर गइ उसे ही कौंसल चुन लिया गया। उसने भी जनता की आशाओं को पूरा किया। चारों ओर के उपद्रवियों को हराकर उसने राज्य में शान्ति स्थापित की। इससे खाने पीने की वस्तुएँ जो तेज होती जा रही थीं सस्ती हो गई और लोग चैन से रहने लगे।

किन्तु रोम में दलबन्दियों का जोर अब भी था। बहुत लोग पोम्पी के भी विरुद्ध थे और उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे। इस समय रोम में कई योग्य और प्रसिद्ध व्यक्ति भी थे। सिसरो नाम का एक प्रसिद्ध वकील था जो रोम का सबसे अच्छा वक्ता समझा जाता था। उसके भाषणों का रोम की जनता पर भारी प्रभाव पड़ता था। परन्तु आपसी कलह और दलबन्दियों के कारण उसे देश निकाले का दण्ड मिला।

जूलियस सीजर—

एक दूसरा व्यक्ति भी इसी समय धीरे धीरे प्रसिद्ध हो रहा था। यह भी बड़ा चतुर और प्रभावशाली वक्ता था। नाम था जूलियस सीजर। ५६ इ०पू० में सीजर कौन्सल चुन लिया गया। उसने पाम्पी के बहुत से प्रस्ताव मानकर उनके अनुसार कार्य किया। इसी समय उत्तर के गाल और अन्य लोगों ने रोम पर आक्रमण शुरू कर दिये। उनके मुकाबिले के लिये कौंसल सीजर को एक बड़ी सेना देकर भेजा गया। सीजर भी यही चाहता था। उसने कइ लड़ाइयों में गालों तथा अन्य लोगों को हराया। उसने कई ऐसी विजयें प्राप्त कीं जिनके कारण उसका नाम प्रसिद्ध विश्व विजेताओं में गिना जाता है। तरह-तरह की युक्तियों से उसने शत्रुओं की लाखोंकी सेनाओं को हराया। वह फ्रांसीसियों जर्मनों, बेलजियनों को हराता हुआ ५४ इ०पू० में इङ्गलैंड तक पहुँचा और वहां के लोगों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इङ्गलैंड के इतिहास में सीजरका यह आक्रमण बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि उसने इङ्गलैंड के लोगों का सभ्यता की भी कई बातें सिखाइ। गाल लोगों ने भी रोम का प्रभुत्व स्वीकार किया और उस पर गर्व करने करने लगे। उसने इङ्गलैंड, फ्रांस आदि में सड़कें भी बनवाइ और रोमन रीति रिवाज और सभ्यता की कइ बातें सिखायीं। यहीं से फ्रांस में तथा यूरोप में रोमन सभ्यता का प्रचार और विस्तार हुआ। इसी कारण जुलियस सीजर का बड़ा महत्व है।

बहुत समय तक पाम्पी, सीजर और क्रेसस नाम के एक व्यक्ति में काफी मेल रहा परन्तु धीरे धीरे यह मैत्री शिथिल पड़ती गई। पाम्पी और क्रेसस ने सीजर का महत्त्व बढ़ते देख अपने-अपने को पांच वर्ष के लिये स्पेन और सीरिया का शासक नियुक्त करा लिया। किन्तु शीघ्र ही क्रेसस एक शत्रु द्वारा मार डाला गया। पाम्पी फिर रोम में ही आकर रहने लगा। वह सीजर की उन्नति देखकर उससे ईर्ष्या करने लगा था। शीघ्र ही पाम्पी और सीजर में झगड़ा आरम्भ हो गया। सीजर ने जब अपनी विजय-यात्रा के पश्चात् रोम में प्रवेश किया तो पाम्पी ने एक सेना लेकर उसे रोकने का प्रयत्न किया (४८ ई० पू०)। किन्तु इस गृह युद्ध में पाम्पी की हार हुई और उसे रोम छोड़कर भागना पड़ा। सीजर ने समस्त रोम तथा इटली पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया। फिर वह पाम्पी का पीछा करता हुआ यूनान तक पहुँचा और वहाँ भी उसे हराया। कुछ समय बाद पाम्पी के ही एक सैनिक अधिकारी ने उसकी हत्या कर दी और उसका सिर सीजर के पास भिजवा दिया गया। सीजर अपने इस पुराने परम मित्र और हाल के परम शत्रु का इस प्रकार दुःखद अन्त देखकर रो पड़ा।

रोमन प्रजातन्त्र का अन्त—

सीजर की अनुपस्थिति में ही रोम की सीनेट ने उसे पांच वर्ष के लिये कौंसल नियुक्त कर दिया था और इस प्रकार वह विधिपूर्वक भी रोम का सर्वोच्च अधिकारी बन गया। रोम और इटली पर उसका सैनिक अधिकार था ही। अब वह मिस्र, अफ्रीका आदि होता हुआ तथा सब जगह शान्ति स्थापित करता हुआ रोम की ओर वापस लौटा तो सीनेट के सभासद उसकी अगवानी के लिये पहुँचे और उससे कहा कि उसे (सीजर को) दस वर्ष के लिये डिक्टेटर नियुक्त कर दिया गया है, परन्तु सीजर को सीनेट की दया की आवश्यकता न थी। समस्त शक्ति सीजर के ही हाथ में थी। राज्य में अब वही प्रधान था और उसका कोई प्रतिद्वन्दी न रह गया था। सेना भी उससे प्रसन्न थी और उसी के नेतृत्व में रहना पसन्द करती थी।

सीजर ने रोम में आकर राज्य के शासन प्रबन्ध को सुधारने की ओर ध्यान दिया। रोम नगर में अब ४ ५ लाख मनुष्य आ बसे थे। रोम पद भागों में बांट दिया गया तथा वहाँ की न्याय व्यवस्था में भी सुधार किया गया। ज्योतिष में भी रुचि रखने के कारण सीजर ने प्रचलित कैलेन्डर (पंचांग) में भी सुधार किया। अभी तक वहाँ पर वर्ष ३५५ दिन का माना जाता था। उसे सौर वर्ष से मिलाने के लिये वर्ष ३६५¼ दिन का कर दिया गया।

४५ ई० पू० में सीजर ही राज्य का एकमात्र कौंसल तथा डिक्टेटर था। एक प्रकार से वह पूर्ण स्वतन्त्र तथा निरंकुश शासक हो गया था। इसने पूर्व पाम्पी भी अकेला कौंसल रह चुका था। परन्तु गत ५०० वर्ष से स्थापित चले आ रहे जनतन्त्र का सम्मान करने का

साहस न कर सका था। परन्तु सीजर अब केवल कौंसल न रह गया था, वह बिना मुकुट का राजा ही था तथा वह केवल कौंसल न रहकर सम्राट बनना भी चाहता था। अतः उसने प्रजातन्त्र के अन्त की घोषणा कर दी तथा अपने को सम्राट घोषित कर दिया। प्राचीन काल के ७ राजाओं के पास अब आठवीं मूर्ति जूलियस सीजर की स्थापित करा दी गई। ५०० वर्ष के प्रजातन्त्र के इतिहास को उपेक्षित कर दिया गया और अन्तिम राजा सुपर्बस से सीजर के समय के इतिहास को जोड़ दिया गया। सीजर ने पुराने राजाओं के समान पोशाक पहनना भी आरम्भ कर दिया। वह सिर पर मुकुट भी धारण करने लगा। उसने सोने के नये सिक्के चलाये जिनपर अपनी मुकुट सहित मूर्ति अंकित कराई। सीनेट की बैठकों में भी वह सोने की कुर्सी पर बैठता था। वह इस प्रकार बाकायदा सम्राट बन गया था।

किन्तु सीजर की इस वृद्धि से द्वेष रखनेवाले भी बहुत लोग थे। पिछले राजा सुपर्बस का अन्त करने वालों में ब्रूटस नाम का व्यक्ति प्रधान था। संयोग से इस बार भी एक ब्रूटस मौजूद था जो सीजर का कृपा पात्र होते हुए उसका शत्रु बन गया। ४४ ई० पू० में मार्च मास में एक दिन सीजर को नियमित रूप से सम्राट की पदवी दिये जाने के लिये नियत किया गया। सीजर बड़े ठाट बाट से पालकी में बैठकर सीनेट भवन में आया जहाँ उत्सव होने वाला था। किन्तु उसके वहां बैठते ही दूसरा दृश्य सामने आया। एक सुनियोजित षड्यन्त्र के अनुसार उस पर चारों ओर से तलवारें चमकने लगीं। हथियार चलाने वाले लोगों में ब्रूटस को भी देखकर सीजर ने आश्चर्य से केवल इतना ही कहा— 'अच्छा, ब्रूटस तू भी है' कि इसी समय उस पर हथियारों की वर्षा होने लगी जिससे वहीं पर उसका प्राण न्त हो गया। एक महान विजेता तथा महान सम्राट का इस प्रकार अचानक अन्त हुआ। उसकी अवस्था उस समय केवल ५६ वर्ष की थी।

किन्तु जिस उद्देश्य से सीजर की हत्या की गयी थी वह सिद्ध न हुआ। रोम में फिर प्रजातन्त्र की स्थापना न हो सकी। सीजर ने अपने एक भानजे को उत्तराधिकारी नियत कर दिया था, उस समय वह बालक ही था। अतः कुछ दिन रोम में अव्यवस्था रही परन्तु वयस्क होकर वही 'आगस्टस' नाम से दूसरा प्रसिद्ध और महान सम्राट हुआ। फिर तो सम्राटों की परम्परा ही चल पड़ी जो कई शताब्दियों तक चलती रही। इन सम्राटों के काल में रोम यूरोप में एक प्रबल शक्ति के रूप में रहा तथा रोम की सभ्यता का प्रसार यूरोप में सर्वत्र हुआ। प्रजातन्त्र की समाप्ति के साथ रोम में एक युग की समाप्ति हो गयी।

रोम की सभ्यता—

जैसा कि पूर्व में कहा गया है सभ्यता की दृष्टि से रोम कुछ आगे बढ़ा हुआ न था। रोम के निवासियों के प्रारम्भिक व्यवसाय कृषि तथा पशु-पालन थे या फिर युद्ध। कला

से उन लोगोंको अधिक प्रेम न था। अत कला पिछड़ी हुई रही। जो कलायें वहाँ पहुँची वे बाहर से आई। रोम का साहित्य कुछ भी न था, न नाटक थे न दर्शन। उस समय के यूनान का तथा रोम का कोई मुकाबिला न था। रोम वालों का धर्म भी संकुचित तथा तुच्छ सा ही था।

समाज—

रोम में अमीर और गरीबों में—पैट्रीशियन और प्लेबियनों में प्राय संघर्ष होता रहता था। इसी भिन्नता को मिटाने तथा समस्त जातियों में एकता के भाव उत्पन्न करने के लिये ८ वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त में रोम के द्वितीय राजा नूमा ने रोम के समस्त समाज का विभाजन व्यवसायों के आधार पर किया था, जैसे बढ़ई, लुहार, चर्म व्यवसायी, रंगरेज, कुम्हार, बाजा बजाने वाले आदि। यह भी आज्ञा दी गई कि लोग अपने को रोमन एल्बन, सेबाइन आदि न कहकर सुनार, लुहार, बढ़ई आदि व्यावसायिक नामों से पुकारें। किन्तु प्राचीन नाम किसी न किसी रूप में चलते ही रहे।

रहन सहन—

रोम वालों के घर आरम्भ में बहुत सीधे सादे होते थे जिनमें प्राय एक कमरा था कमरा रहता था और एक रसोई घर जो धुएँ से काला रहता था। धीरे-धीरे जब रोम युद्धों में विजयी होने लगा और उसकी समृद्धि बढ़ी तब मकानों के ढंग में भी परिवर्तन होने लगा। पहले लोग स्नान बहुत कम करते थे, परन्तु अब अधिक करने लगे। भोजन में भी सुधार हुआ। पहले के लोग प्राय रोटी और प्याज खाते थे, अब भोजन में दूध, मक्खन, साग भाजी आदि शामिल हो गये जिससे भोजन अधिक उत्तम हो गया। इसी प्रकार पहले यदि अतिथि के आने पर उसके बैठने के लिये भेड़ की खाल बिछा देते थे वहां अब अच्छे वस्त्र बिछने लगे। भोजन, वस्त्र आदि सभी बातों में इस प्रकार सुधार हुआ।

दूसरे देशों पर विजय प्राप्त होने पर उन देशों के बहुत से लोग रोम में दासों के रूप में आ गये। ये दास रोम वालों के घरेलू काम-काज करते थे और सब प्रकार की मजदूरी भी करते थे। धीरे धीरे दासों की संख्या के हिसाब से ही धनी व्यक्तियों की स्थिति छोटी-बड़ी मानी जाने लगी। जब तक घर में दस दास न हों तब तक कोई रोमवासी प्रतिष्ठित नहीं समझा जाता था।

रोम के लोग पुरुष स्त्री दो वस्त्र पहिनते थे। एक शरीर से चिपटी हुई जाकेट और दूसरा उसके ऊपर एक वस्त्र। बाहर निकलने पर अथवा विशेष अवसरों पर वे लोग शरीर पर एक लबादा अर्थात् टोगा, जो कि ऊन का बना होता था, पहिनते थे परन्तु इसे केवल रोम वासी ही धारण कर सकते थे, दूसरे देश के लोगों को पहिनने की आज्ञा नहीं। प्रारम्भ में

वहाँ सुई, कैंची, बटन आदि वस्तुएँ न थीं। कैंची रोम में शायद ३०० ई० पू० के लगभग सिसली से आई। अत वहा के प्रारम्भिक वस्त्र कुछ भद्दे से ही रहते होंगे। वस्त्र प्राय ऊन के होते थे। पैरों में वे लोग कई तरह के जूते पहनते थे। स्त्रियाँ प्राय यूनान से आये हुए सजावटदार जूते पहनतीं थीं जो सेन्डल्स कहलाते थे।

विवाह के समय वधू सफेद रंग की लम्बी पोशाक पहनती थी और उसके ऊपर दुपट्टा बाँधती थी। वह एक पीले रंग की नकाब भी डालती थी और वैसे ही रंग के जूते पहनती थी। तब वह धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी और वर के हाथ में हाथ डालकर वेदी की परिक्रमा करती थी। विवाह के पश्चात् वधू को वर एक कुंजी भेंट करता था जिसका अर्थ यह होता था कि वह घर की मालकिन हुई। फिर समस्त नाते रिश्तेदारों की दावत होती थी। गाने भी गाये जाते थे। पश्चात्, वधू नये परिवार की एक सम्माननीय सदस्या बन जाती थी। फिर भी उसकी स्थिति पति से नीची समझी जाती थी—यद्यपि घर के प्रबन्ध में वही मालकिन होती थी। पति की मृत्यु होने पर वह उसकी जायदाद तथा रुपये पैसे की वारिस समझी जाती थी।

ई० पू० द्वितीय शताब्दी में रोम की सामाजिक अवस्था काफी बदल गई। अब स्त्रियां भी जो अभी तक घरों में ही रहती थीं—बाहर आने लगीं और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का आग्रह करने लगीं। इस परिवर्तन का एक विशेष कारण था। जब तक कारथेज से युद्ध चलते रहे, रोम के पुरुष और स्त्रियों ने अपने दैनिक जीवन की अनेक आवश्यकताओं को कम करके किसी तरह दिन गुजारे। युद्ध के कारण आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गई थी। अत तब यह कानून बनाया गया था कि कोई स्त्री रंग बिरंगे वस्त्र न पहने तथा गहने न बनवाये। युद्ध के दिनोंमें तो ऐसे अनेक बन्धन उन्होंने सह लिये परन्तु युद्ध के पश्चात् जब कारथेज के नष्ट हो जाने के कारण वे लोग निश्चिन्त हो गये थे—ऐसे बन्धनों को मानना उनके लिये कठिन हो गया। युद्धों के बाद रोम की सम्पत्ति भी बढ़ी—अत घर बड़े बनने लगे, गलियाँ चौड़ी होने लगीं तथा सभी प्रकार से लोगों के रहन सहन में काफी अन्तर आ गया।

शिक्षा और साहित्य—

रोम में पहले के लोग प्राय खेती बारी ही करते थे। उन्हें नाचने-गाने का भी शौक था। फिर वे लोग पढ़ना लिखना और गिनना भी सीखने लगे। किन्तु उनका मानसिक विकास तब तक अधिक नहीं हुआ जब तक कि वे लोग यूनानवासियों के सम्पर्क में न आये। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि दूसरे लोग सभ्यता में उनसे कितने बढ़े-चढ़े हैं तो वे शीघ्रता से सब प्रकार की विद्याय सीखने लगे। रोम में डाक्टरी ढंग की चिकित्सा का प्रारम्भ करने वाला पहला व्यक्ति एक यूनानी था जो तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त

में यहाँ आकर रहने लगा था। इस समय यहाँ स्कूलों में पढ़ाने के लिये एक किताब बनी जो होमर कृत आडेसी नामक वीर काव्य के आधार पर बनाई गई थी। लगभग इसी समय कानून को पढ़ाने के लिये भी यहाँ एक स्कूल खुला।

रोम का प्रमुख गद्य-लेखक और इतिहासकार क्विंटस फेबियस था, जिसने रोम का इतिहास एनियास के इटली आगमन के समय से लेकर द्वितीय कारथेज युद्ध तक का लिखा। यहाँ का प्रमुख कवि टिटस मेकियस था जिसने तीन अच्छे नाटक भी लिखे हैं। सिसरो यहाँ का दूसरा प्रमुख लेखक और वक्ता था। अन्य लेखकों और कवियों में वेर्जिल, लुक्रेटियस, होरेस आदि प्रमुख हैं।

देवी-देवता—

रोमवासी अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। रोम के संस्थापक रोमस और रोमुलस को जिस मादा भेड़िये ने पाला था उसे भी एक देवी मान लिया गया और उसे भेड़ों के रक्षक एक देवता की पत्नी बना दिया गया। रोमवासियों के देवताओं का राजा जुपिटर था और मुख्य देवी थी मिनर्वा। खेतों की रक्षा तथा युद्ध का देवता मार्स था। ओरस समृद्धि बढ़ाने वाली देवी थी जो खेतों की बोनी के देवता सेटरनस की पत्नी थी। आग का देवता वल्केनस और पानी तथा समुद्र का देवता नेपच्यूनस था। जूनों भी एक देवी थी। इन सब देवी देवताओं के नाम पर समय-समय पर उत्सव मनाये जाते थे तथा कई मन्दिर बने हुए थे।

शिल्प—

शिल्प-कला में रोम की एट्रस्कन जाति सबसे आगे बढ़ी हुई थी। उनकी सभ्यता के जो चिह्न इटली में खुदाई से मिले हैं वे उनकी निपुणता का पता देते हैं। उन्होंने झीलों तथा दलदलों से पानी निकालकर कृषि के लिये भूमि निकाल ली थी, नदियों के बहुत बड़े बड़े बाँध बनाये थे, नहरें भी बनाई थीं तथा पत्थर के ऊँचे-ऊँचे भवन खड़े किए थे जिनमें उत्तम कोटि का शिल्प कार्य था। खुदाई में उनकी जो मूर्तियाँ मिली हैं उनकी कारीगरी भी उत्तम है। अनुमान किया जाता है कि एट्रस्कन लोग इटली में १२०० ई० पू० के लगभग आकर बसे थे।

कानून—

रोम में राजतन्त्र के समय से ही कुछ कानून प्रचलित होने का पता चलता है। कुछ राजाओं ने कानूनों में सुधार भी किये। प्रजातन्त्र की स्थापना के बाद ४६२ ई० पू० में टेरेन्टीलियस हर्सा ने प्रस्ताव किया कि रोम के समस्त राजनियम क्रमबद्ध किये जाकर प्रकाशित कर दिए जाने चाहिये, जिससे सब लोग उनसे परिचित हो सकें। अब तक मजिस्ट्रेट [illegible] मनमाने ढंग से न्याय करते थे क्योंकि कोई लिखित कानून न थे। उस कौन्सल [illegible]

के प्रस्ताव के अनुसार १० सदस्यों की एक कमेटी की रिपोर्ट पर बहुत से राजनियम प्रकाशित कर दिये गये (४५१ ई० पू०)। कुछ नियम इस प्रकार थे—पिता अपने पुत्र को किसी का दास बनाकर बेच सकता है, परन्तु उस पुत्र को उत्तराधिकार न रहेगा। किसी नागरिक को यह अधिकार न होगा कि बिना कर दिये भूमि का मालिक बन जाये, कोई विदेशी व्यक्ति रोममें भूमि का मालिक न हो सकेगा, ब्याजका सूद १० प्रतिशत से अधिक न होगा आदि। इसी कानून समूह में धीरे धीरे सुधार होते गये और फिर इन्हीं के आधार पर यूरोप के अन्य देशों ने अपने-अपने यहाँ कानून बनाये तथा रोम में उक्त कानूनों का प्रकाशन यूरोप के आधुनिक राजनियमों का मूल होने के कारण महत्वपूर्ण समझा जाता है। इन कानूनों का मुख्य आधार यह था कि किसी भी मामले में प्रथम जाँच होना आवश्यक है। गवाहियाँ और सबूत भी होना चाहिये, न्यायाधीशोंको अपनी ओर से कानून न बनाकर निश्चित राजनियमों के अनुसार न्याय कार्य करना चाहिये। ये ही सिद्धान्त आज के राजनियमों के आधार हैं। अतः राजनियमों के क्षेत्र में यूरोप को रोम की देन महत्वपूर्ण है।

पचांग सुधार—

रोम म पचाग (तिथि पत्र) का आरम्भ शायद एट्रस्कन लोगों ने किया था। बाद म समय-समय पर इसमें बहु सुधार किये जाते रहे। सुधारों का आरम्भ राजतन्त्रकाल से ही हो गया था। रोम में प्रारम्भिक काल में वर्ष का विभाजन १० महीनों में किया गया था। पहिला महीना मार्च होता था जिसका नाम मार्स नामक देवता के नाम पर रखा गया था। किन्तु रोम के दूसरे राजा नूमा ने इस विभाजन को दोषयुक्त बताकर दो महीने जनवरी और फरवरी के नाम से और जोड़ दिये और तब वर्षका प्रारम्भ जनवरी से होने लगा। इस प्रकार सितम्बर अर्थात् सातवां महीना नवां महीना बन गया और इसी प्रकार आठवां, नवां और दसवां महीना दसवां, ग्यारहवां और बारहवां महीना बन गया और महीनों के ये ही नाम आज तक चले आते हैं। प्रथम मास का नाम जनवरी दो मुख वाले जेनस देवता के नाम पर रखा गया, क्योंकि प्रथम मास बीते हुए वर्ष तथा प्रारम्भ होने वाले वर्ष दोनों को मिलाता है अर्थात् उसका मुख दोनों ओर होता है। फरवरी फेब्रुवा (शुद्धीकरण का उत्सव) के नाम पर रखा गया था। बाद में जूलियस सीजर ने भी इस तिथि पत्र में सुधार किये और उस समय तक प्रचलित ३५५ दिन के वर्ष के स्थान पर उसने सूर्य की गति के अनुसार ३६५¼ दिन का वर्ष नियत किया। उसका यह सुधार भी आज तक मान्य समझा जाता है।

खेल—

शुरू में रोमवासी भेड़ बकरी आदि की हड्डियों को उछालने का खेल खेलते थे। वे हड्डी को उछालकर फिर उसे हाथ में पकड़ते थे। बाद में सर्कस के कई खेल शुरू हुए

जैसे दो या चार घोड़ों से चलने वाले रथों की दौड़, पैदल दौड़, मुक्केबाजी, कुश्ती, भाला फेंकना आदि। इन खेलों को देखने लिए एक विशाल अखाड़ा भी बनाया गया जिसमें दासों और दर्शक बैठते थे। यह कोलोसियम कहलाता था तथा इसके खण्डहर रोम में अब तक भी मौजूद हैं।

वसन्त ऋतु में नाच, नाटक, दावतों आदि का आयोजन किया जाता था और पाँच दिन तक इस उत्सव में धूमधाम रहती थी।

अन्तिम संस्कार—

किसी रोमवासी की मृत्यु एक महत्व की घटना समझी जाती थी। शव को नहलाया जाता था तथा उस पर कुछ लेपन भी किया जाता था। उसके मुख में एक छोटा-सा सिक्का रख दिया जाता था जो चैरोन नाम के उस नाव वाले का कर समझा जाता था जो उस मृत मनुष्य की आत्मा को नीचे की दुनिया (मृत्युलोक) की नदियों के पार ले जाता था। मृतक को एक बड़ा चोगा पहनाया जाता था। लेप के बाद शरीर पर इत्र भी रखा जाता था और आठवें दिन उसे जलाने या गाड़ने के लिये ले जाया जाता था। शव के पीछे बाजे वाले चलते थे और उनके पीछे शोक मनाने वाले। अर्थी को निकट सम्बन्धी ही उठाते थे। जूलियस सीजर की अर्थी रोम के मजिस्ट्रेटों ने उठाई थी।

अर्थी के पीछे जाने रिश्तेदार लोग काले या नीले वस्त्र पहनकर चलते थे। मृतक के पुत्र मुख पर नकाब डाल लेते थे और पुत्रियां अपने बाल बिखेर लेती थीं। ये सब लोग अर्थी के साथ विलाप करते जाते थे। स्त्रियां अपनी छाती भी पीटती थीं और मुँह भी नोचती जाती थीं। मृतक को नगर की सीमा के बाहर गाड़ा अथवा जलाया जाता था। प्रारम्भिक काल में रोम के मृतकों को गाड़ने की प्रथा थी। बाद में जलाने की प्रथा प्रचलित हुई। जलाने की दशा में शव को पलंग सहित लकड़ियों की एक चौकोर चिता पर रखा जाता था और सबसे निकट-सम्बन्धी चिता में आग लगाता था। उस समय वह अपना मुख पीछे की ओर कर लेता था। जब चिता जलने लगती थी तो उसमें सुगन्धित द्रव्य तेल लोबान तथा वस्त्र आदि डाले जाते थे। कभी कभी किसी दास की अथवा पशु की बलि भी चढ़ाई जाती थी। चिता पूर्ण रूप से जल चुकने पर उस पर शराब छिड़की जाती थी। फिर अस्थियां बीनकर एक पात्र में रखी जाती थीं। पुरोहित उस पात्र पर जल छिड़कता था और तब वह पात्र पारिवारिक श्मशान अथवा कब्रिस्तान में किसी ताक पर रख दिया जाता था। श्मशान से घर लौटने पर नाना रिश्तेदार एक प्रकार की शुद्धीकरण सा करते थे तथा घरों को ६ दिन तक शोक हुआ करता था।

गाड़ने की अवस्था में उस स्थान पर घास का चबूतरा बनाई जाती थी अथवा एक स्तम्भ खड़ा किया जाता था और उसमें एक लेख लिखा जाता था। कब्रों की जगह को—चाहे वह किसी कुटुम्ब की हो चाहे न हो—पवित्र समझा जाता था और उसे अपवित्र करना

वाले को दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति कब्र में से मृतक को या उसकी हड्डियों को निकालता था तो उसे मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता था। रिश्तेदारों द्वारा कब्र पर फूल, दूध शराब आदि वस्तुएँ चढ़ाई जाती थीं।

भारत से सम्बन्ध—

रोम की सभ्यता प्राचीन देशोंमें सबसे बाद की अर्थात् सातवीं आठवीं शताब्दी ई० पू० की है जबकि भारत की सभ्यता सबसे प्राचीन सिद्ध होती है जो कि सहस्रों वर्ष पूर्व की है। अतः रोम की सभ्यता पर भारत का प्रभाव होने का प्रश्न ही नहीं उठता। रोम भारत से बहुत दूर पर भी पड़ जाता है। फिर भी रोम की सभ्यता पर भारत का कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है जो मिस्र तथा यूनान के द्वारा वहाँ पहुँचा होगा जिन पर कि भारतीय सभ्यता का काफी प्रभाव था। रोम की यह बातें—विशेषतः अन्तिम संस्कार की प्रथायें, मृतक को स्नान कराना, जलाना, दाह के बाद साथ जाने वालों का तथा मृतक के मकान का शुद्धीकरण आदि भारतीय सभ्यता से प्रभावित जान पड़ती है, क्योंकि ये क्रियायें भारतमें आज तक सर्वत्र प्रचलित हैं। कुछ लोगों का मत है कि एट्रस्कन जाति जो प्राचीन काल में रोम में पहुँची एक आर्य जाति थी। प्राचीन काल में कई आर्य जातियाँ यूरोप तक पहुँची थीं।

रोम का प्रधान देवता जूपिटर माना जाता था जो विद्वानों के अनुसार भारतीय द्यौस पितर का ही रूपान्तर मात्र था।१ रोम के इतिहास के प्रारम्भ काल से ही उसका भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध होने का पता चलता है। भारतीय सागर के यात्रा वर्णन वाली पुस्तक 'पेरिप्लस' में रोम के साथ दक्षिण भारत के व्यापार का सविस्तर वर्णन है। दक्षिण भारत में (मदुरा तथा अन्य स्थानों पर) अनेक रोमन सिक्के मिले हैं जो इन दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध के ही सूचक हैं।

यह व्यापारिक सम्बन्ध दिन दिन बढ़ता गया। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब रोम ने कारथेज को नष्ट कर दिया तथा रोम में समृद्धि का युग आया तब वहाँ के स्त्री पुरुषों में विलासिता अधिक बढ़ गई थी तथा यह विलासिता का सामान—मलमल

---

१ प्रो० मेक्समूलर कहते हैं यदि मुझसे पूछा जाय कि उन्नसवीं शताब्दी में मनुष्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषय में सबसे अधिक आवश्यक कौनसी बात विदित हुई है तो इसका उत्तर मैं नीचे लिखी पंक्ति में दूँगा —

संस्कृत—द्यौस पितर, यूनानी जिउस पीटर, लेटिन जूपिटर (प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास सर रमेशचन्द्र दत्त अनुवादक बाबू गोपाल दास)

मोती-मसाले, इत्र तथा अन्य सुगंधित द्रव्य, तरह तरह के वस्त्र, आभूषण आदि अधिकतर भारत से ही वहाँ पहुँचते थे। इस बात का कुछ अनुमान हम रोम के इतिहासकार प्लिनी के उन विलापमय उद्गारों से कर सकते हैं जो उसने भारतीय विलासिता की वस्तुओं के बदले भारत की ओर रोम से सुवर्ण की धारा बहती हुई बताकर प्रकट किये हैं। प्लिनी (प्रथम शताब्दी ईस्वी) ने इस बात का प्रबल विरोध प्रकट किया है कि रोम का सारा सोना भारत की जेब में चला जाता है और बदले में अनुत्पादक विलासिता की वस्तुएँ मँगाई जाती हैं। उसने बताया है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है और यह कीमत रोम वालों को विशेषत स्त्रियों की खातिर चुकानी पड़ती है। रोम लोगों की हिन्दुस्तान की वस्तुओं के प्रति बढ़ती हुई रुचि को देखकर अनेक लोगों को तो यह डर होने लगा था कि रोम कहीं दिवालिया न हो जाय।

इस प्रकार प्राचीन रोम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध तो था ही उससे पूर्व कुछ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी अवश्य रूप से रहा दिखाई देता है।

अध्याय ६

भारत की प्राचीन सभ्यता

(१) आर्य और उनका साहित्य

भारत में सभ्यता का प्रारम्भ ऐसे सुदूर अतीत काल में हुआ था जिस पर यूरोपियन विद्वानों को सहज में विश्वास करना कठिन होता है। किन्तु भारतीय जनों की यह परम्परागत धारणा रही है कि संसार को सभ्यता का पाठ भारत ने ही पढ़ाया तथा भारत सभ्यता में जगद्गुरु है। पिछले अध्यायों में अन्य देशों की सभ्यताओं पर भारत का जो प्रभाव दिखाया गया है, उससे भारतीय विश्वास की सत्यता ही प्रमाणित होती है।

यह तो मानना पड़ता है कि सभ्यता का विकास भारत में भी अन्य देशों के समान धीरे धीरे हुआ। अन्वेषकों तथा पुरातत्वविदों ने जहाँ तक पता लगाया है भारत के प्राचीनतम निवासी भी पूर्व पाषाण काल तथा उत्तरपाषाण काल की अवस्थाओं से गुजर कर ही धातु-युग सभ्यता में आये ज्ञात हुए हैं। पूर्व पाषाण काल में ये गुफाओं में रहते थे तथा आखेट करके अथवा कन्द मूल फल खाकर निर्वाह करते थे। इसका पता उन अनेक गुफाओं से चलता है जो मद्रास प्रान्त में करनूल जिले में, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में तथा अन्य कई स्थानों पर मिली हैं। मिर्जापुर से रीवाँ जाने वाली सड़क पर मिर्जापुर से ४५ मील पर ऐसी अनेक गुफायें सड़क के पास ही विद्यमान हैं जो बहुत पुरानी समझी जाती हैं। सौराष्ट्र प्रान्त में साबरमती और माही नदियों की घाटियों में डा० जाइनर को आदि पाषाण युग के जो हथियार मिले हैं उनसे उन्होंने अनुमान लगाया है कि शायद २ ३ लाख वर्ष पूर्व मनुष्य उन स्थानों में निवास करता रहा होगा। मद्रास के चिंगलपट जिले में, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में तथा मध्यप्रदेश के कुछ स्थानों में भी पुराने ढंग के पत्थर के हथियार प्राप्त हुए हैं।

इसके पश्चात् भारतीय मानव ने विकास की दूसरी मंजिल की ओर पग बढ़ाया। प्राचीन काल के भद्दे हथियारों की जगह अब उनके हथियार अधिक नुकीले तथा सुन्दर बनने लगे। ये लोग हथियारों को रगड़कर चिकने बनाना सीख गये थे। यह नव पाषाण युग था। उन्हें अग्नि का ज्ञान भी सम्भवतः इसी नव पाषाण काल में हो गया

था और वे अपना भोजन अब आग पर पका कर खाने लगे थे। धीरे-धीरे उन्होंने गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़ा आदि पशुओं को पालना शुरू किया और फिर बैलों की सहायता से खेती भी करने लगे। रहने के लिए गुफाओं के स्थान पर वे अब घास फूस के झोपड़े बनाने लगे थे। अपना शरीर भी वे अब पेड़ों के पत्तों तथा छाल आदि से ढकने लगे थे। वल्कल वसन तथा भोजन के लिये कन्द-मूल फल आदि का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। सम्भवतः इस नव पाषाण काल के अन्तिम भाग में उन्होंने धातुओं का मर्म भी जान लिया था। सोने की चमक ने उन्हें आकर्षित किया होगा और धीरे धीरे वे सोने का उपयोग गहने बनाने के लिए करना सीख गये। इसी प्रकार अन्य धातुओं विशेषकर तांबे का उपयोग वे सीख गये और उसके हथियार बनाने लगे। बाद में किसी काल में वे लोहा तथा अन्य धातुओं का उपयोग भी जान गये और उनसे वे अनेक प्रकार की वस्तुयें बनाने लगे।

भारत के प्राचीन निवासी कौन थे?

भारत के प्राचीन निवासी कौन थे, किस जाति के थे, उनके वंशज आज भारत में हैं अथवा लुप्त हो गये आदि बातों के सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों में मतभेद है। कुछ समय पूर्व तक भारत के इतिहासकार प्राचीन भारत में दो या तीन जातियों का ही निवास मानते थे—आर्य, कोल और द्रविड़। इनमें भी यूरोपीय विद्वानों ने यह मत प्रचलित किया था कि द्रविड़ और कोल यहाँ की भूमि के मूल निवासी हैं तथा आर्य लोग बहुत बाद में बाहर कहीं से इस देश में आये। परन्तु नये नये विद्वानों तथा नये नये अनुसंधानों के आधार पर उन्होंने कुछ नये निष्कर्ष निकाले हैं और यह मत स्थिर किया है कि भारत में बसने वाली सभी जातियाँ मूलतः बाहर से आई हैं और कोल और द्रविड़ों से भी पूर्व यहाँ कई जातियाँ बाहर से आकर बस चुकी थीं।

पहले नेग्रिटो जाति के लोग आये जो संसार की एक विशाल जाति नीग्रो या हब-शियों की एक शाखा थे। ये लोग काले रंग, नाटे कद और मोटे होंठ वाले थे। ये लोग अफ्रीका से चलकर अरब और ईरान के समुद्र-तट से होते हुए भारत में आये और पश्चिम तथा दक्षिण भारत में बसे। धीरे धीरे ये लोग उत्तर भारत तक फैल गये और फिर यहाँ से मलाया और हिन्देशिया के द्वीपों की ओर बढ़कर फिलिपाइन्स और न्यूगिनी द्वीपों तक जा पहुँचे। इन दिनों अण्डमान आदि टापुओं में जो लोग बचे हुए हैं वे भी इसी जाति के माने जाते हैं।

इसके बाद आस्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग आये। इस जाति का नाम आग्नेय इस कारण पड़ा कि यह प्रधान रूप से भारत के अग्निकोण अर्थात् दक्षिण-पश्चिम में पाई जाती है। कहा जाता है कि इस जाति के लोग भारत में पश्चिम की ओर से—

सम्भवत पिलिस्तीन से आये और इन्होंने भारत में नेग्रिटो लोगों को नष्ट प्राय कर दिया। संथाल, मुंडा, शबर आदि भारत के जंगली लोग इसी जाति के समझे जाते हैं। इस जाति के लोग भारत से आगे बढ़कर आस्ट्रेलिया तक पहुँचे जहाँ उनके वंशज आज भी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के रूप में जीवित हैं। ये लोग अब भी पूर्वी द्वीप समूह तक फैले हुए हैं। भारत में ये लोग अन्य जातियों में मिल गये और कुछ इतिहासकारों ने अनुमान किया है कि चन्द्रमा को देखकर तिथि गिनने की प्रथा आग्नेय सभ्यता की ही देन है तथा पूर्ण चन्द्र के लिए 'राका' शब्द भी आग्नेय भण्डार का है। पत्थर के खण्ड को देवता मानने की प्रथा भी आस्ट्रिकों ने ही चलाई। ये अनुमान कहाँ तक ठीक हैं कहना कठिन है।

आस्ट्रिक लोगों के बाद 'मंगोलायड' या किरात लोग आये। ये लोग पूरब की ओर से ब्रह्मपुत्र नदी और उसकी सहायक नदियों के किनारे-किनारे आये। इन्होंने आसाम, भूटान और नेपाल में बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसाई और हिमालय के दक्षिणी क्षेत्र में काश्मीर तक तथा उसके भी नीचे मोहेंजोदड़ो तक फैल गये। इन्हीं में से कुछ लोग मध्यप्रदेश और बस्तर तक फैल गये। बस्तर के आदिवासी इन विद्वानों के अनुसार इसी किरात जाति के हैं।

फिर द्रविड़ लोग आये जो भारत में सम्भवत भूमध्य सागर से या एशिया माइनर (लघु एशिया अथवा पूर्वी भूमध्य सागर का तटवर्ती प्रदेश) से आये और भारत में बस गये। भारत में आने से पूर्व (३५०० ई०पू० के लगभग) इनके कुछ समुदाय ईरान और ईराक में बस चुके थे तथा भारतमें मोहेंजोदड़ो और हरप्पा की नगरी सभ्यता के निर्माता यही लोग थे। अन्तमें आर्य लोग आये जो गौर वर्ण, ऊँचे कद और बड़ी नुकीली नाक वाले थे। ये लोग उत्तर भारत में तथा विशेषकर पश्चिमी भारत में बस गये।

उक्त मत कुछ नृवंश शास्त्रियों ने अर्थात् मनुष्य जाति की नस्लों को पहचानने वालों ने भारत में बसी हुई भिन्न भिन्न नस्लों की जाँच के पश्चात् स्थिर किया है। इनमें विशेषकर यूरोप के लोग हैं। किन्तु यदि इस मत को माना जाय तो भारत के मूल निवासी कोई रहते ही नहीं और भारत की इस सुजला सफला भूमि में कोई मनुष्य सृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं हुई तथा बाहर के देशों में क्यों उत्पन्न हो गई यह समझना कठिन हो जाता है।

अनेक विद्वानों की मान्यता है कि मानव सृष्टि पहले एशिया में तथा भारत में हुई थी। अंग्रेजी के सन्दर्भ ग्रन्थ 'एनसाइक्लोपीडिया' ब्रिटानिया के अनुसार एशिया ही मनुष्य जाति की उत्पत्ति का सबसे अधिक सम्भव क्षेत्र है।1 अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक

1 *It follows naturally that Asia is the most likely place of beginning Ency Britania India*

एच० जी० वेल्स ने भी हमारे सदृश मनुष्य का जन्म दक्षिणी एशिया (भारत) या उत्तरी अफ्रीका बताया है।2 गोदावरी और नर्मदा के तीरों पर मिली हुई अनेक वस्तुओं की प्राचीनता को देखते हुए प्रतीत होता है कि भारत में यूरोप से भी पहिले मनुष्य का प्रारम्भ हो चुका था।3 भारत में अनेक स्थानों पर प्राचीन गुफायें मिली हैं जिनका उल्लेख किया जा चुका है। वे आदिम मनुष्य के ही निवास मानी जाती हैं, क्योंकि उनमें मनुष्य के निवास के अनेक चिह्न दीवारों पर बने हुए चित्र, औजार आदि पाये गये हैं। पत्थर के पुराने तथा भद्दे ढंग के औजार अन्य अनेक स्थानों पर भी मिले हैं। इन सबसे यही प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्य की उत्पत्ति भारत में ही हुई थी तथा यहीं उसने अपनी सभ्यता का धीरे-धीरे विकास किया। अतः उक्त नये सिद्धान्त कि भारत में सभी जातियाँ बाहर से आई, तथ्यों के विपरीत तथा बुद्धि से भी अगम्य हैं। ये सिद्धान्त कुछ थोड़े से तथा अनिश्चित आधारों पर खड़े किये गये जान पड़ते हैं एवं भ्रामक तथा तथ्यहीन हैं।

द्रविणों की समस्या —

द्रविड़ों के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों की सम्मति का उल्लेख ऊपर किया गया है। वास्तव में द्रविड़ कौन थे और कहाँ से आये यह प्रश्न भी विद्वानों ने अन्य अनेक प्रश्नों के समान उलझन में डाल रखा है। कुछ दिन पूर्व तक विद्वानों का मत था कि द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के मूल निवासी थे और उनकी अपनी विकसित सभ्यता थी जो उत्तर के आर्यों से भिन्न थी। फिर कुछ यूरोपीय विद्वानों—कीन, हाल्डरनेस, ओल्डम आदि ने ऐमाहिया महाद्वीप की कल्पना की जो दक्षिण भारत से लेकर अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि तक फैला हुआ बताया गया और कहा गया कि इस समस्त प्रदेश में द्रविड़ों का निवास था और दक्षिण भारत के द्रविड़ लोग भी इन्हीं में से हैं। यह सिद्धान्त भी समझ में आने योग्य था। किन्तु इसके बाद जो नये नये मत द्रविड़ों के सम्बन्ध में प्रकट किये गये हैं वे भ्रामक तथा बुद्धि से अगम्य दिखायी देते हैं। प्रो० पेरी और हाडेन आदि विद्वानों का विचार है कि द्रविड़ लोग पहिले भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर स्थित एशिया माइनर में अथवा क्रीट, साइप्रस आदि एजियन सागर के द्वीपों में रहा करते थे और यूनान की प्राचीन जातियों के साथ सम्पर्क रखते थे। वहाँ से ये लोग या तो बलूचिस्तान और सिन्ध के मार्ग से या फिर समुद्र के मार्ग से दक्षिण भारत में पहुँचे और यहीं बस

2 *Outline of History H. G. Wells page 62*

3 प्राचीन इतिहास और परम्परा—रमेन्द्र शास्त्र।

गये। स्थल मार्ग से आने वाले सिद्धान्त के समर्थक यह प्रमाण देते हैं कि बलूचिस्तान के एक भाग में जो ब्राहुई भाषा बोली जाती है और जो द्रविड़ भाषा से मिलती-जुलती मानी जाती है वह उन्हीं लोगों की है जो इस द्रविड़ टोली में से छूट गये थे तथा बलूचिस्तान में बस गये। इन लोगों का यह भी कथन है कि सिंधु घाटी में जिस प्राचीन नगरी सभ्यता का उद्घाटन हुआ है वह भी इन्हीं द्रविड़ों की है। श्री केनेडी तथा डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी अनुमान करते हैं कि द्रविड़ों के पूर्वज प्रारम्भ में भूमध्यसागर के किनारे रहते थे और वहीं से ये लोग भारतवर्ष में आये। ईसा से लगभग ३५०० ई०पू० में ये लोग भूमध्यसागर से भारत की ओर चले। रास्ते में इनकी शाखायें इराक और ईरान में भी रह गईं जिन्होंने ईराक में सुमेरी सभ्यता की नींव डाली और वहाँ से जो लोग भारत में आये उन्होंने मोहेंजोदड़ो, हरप्पा आदि स्थानों में सिंधु सभ्यता की स्थापना की।*

इसके विपरीत अन्य विद्वानों का अनुमान है कि द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के निवासी थे जहाँ से ये समस्त उत्तरी भारत में फैले तथा उन्हीं लोगों ने सिंधु घाटी में भी अपनी सभ्यता का प्रसार किया। इस प्रकार ये लोग भी सिंधु सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता ही मानते हैं।

दक्षिण भारत के कुछ इतिहास लेखकों का मत है कि द्रविड़ लोग उत्तर पश्चिम की ओर से भारत आये थे और उन्होंने अपने से पहिले भारत में आये हुए कोलों को अपदस्थ कर देश के उपजाऊ प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। इनके मतानुसार कोल लोग हिमालय के उत्तरी-पूर्वी दर्रों से भारत में आये थे। बाद में जब द्रविड़ों ने उन्हें भगाया तब कोल लोगों ने जंगलों और पहाड़ों में भागकर शरण ली।†

श्री कनक सभाई का मत था कि द्रविड़ लोग मंगोल जाति के थे और ये तिब्बत से चलकर बंगाल की खाड़ी को पार कर भारत के दक्षिण के प्रायद्वीप में जा पहुँचे और वहीं पर बस गये।

इस प्रकार द्रविड़ों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार के अनुमान लगाये हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो उक्त सभी अनुमानों के विरुद्ध अपना मत रखते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन ब्राहुई लोगों को द्रविड़ों की टोली के अवशेष बताकर द्रविड़ों के एशिया माइनर से भारत में आने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, उन ब्राहुई लोगों में तथा द्रविड़ों में नस्ल की भिन्नता है अर्थात् ये भिन्न भिन्न नस्लों के सिद्ध हुए हैं। कर्नल होल्डिच बताते हैं कि ब्राहुई लोग तुर्क मंगोल जाति के

---

* संस्कृति के चार अध्याय श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'।

† प्राचीन भारत—मूल लेखक श्री नियोगाचारी तथा श्री रामस्वामी आयंगर (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ७०।

थे किन्तु उन्होंने द्रविड़ों से हारने के बाद उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और इस कारण उनकी भाषा पर द्रविड़ भाषाका कुछ प्रभाव दिखाई देता है। श्रीराहुल सांकृत्यायन का कथन है कि द्रविड़ लोग मध्य एशिया तक फैले थे और आर्यों का सम्पर्क उनसे पश्चिम-उत्तर पंजाब में हुआ था। यहाँ द्रविड़ों को पराजित करके तथा उनका स्थान ले आर्य लोग भारत की ओर बढ़े तथा भारत में आये।*

किन्तु भारतीय इतिहास और परम्परा इन सभी सिद्धान्तोंके विरुद्ध है। इस परम्परा के अनुसार द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के ही मूल निवासी हैं तथा वहीं पर उनकी सभ्यता का विकास हुआ। प्राचीन तामिल ग्रन्थों में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि द्रविड़ लोग इस देश में कहीं बाहर से आये थे। प्राचीन तामिल ग्रन्थोंमें तामिल देशको ही तामिलों की आदि भूमि माना गया है और इनमें तामिल देश के जीवन, प्राकृतिक एवं भौगोलिक अवस्था का वर्णन मिलता है। श्री अवधनन्दन के कथनानुसार आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रबल प्रमाण मिलता है कि वैदिक काल में भी आर्यावर्त और दक्षिण देश में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ऋग्वेद संहिता में भी दक्षिणापथ का नाम मिलता है।† वैदिक काल में ही दक्षिण भारत के मोती और मयूर पंख उत्तरी भारत में पहुँच चुके थे और वहां प्रचुर मात्रा में उनका व्यवहार होता था।

अनेक इतिहासज्ञ डा० परशुराम का मत है कि द्रविड़ लोग भारत में ऐसे अनादि और प्रागैतिहासिक काल से निवास करते हैं कि उनके सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं कि वे बाहर से आकर यहाँ बसे—वस्तुतः यहां के आदिम निवासी मालूम होते हैं उनमें कोई ऐसी प्रथा या ऐसे कोई आचार-विचार नहीं हैं जिनसे यह कहा जा सके कि वे बाहर से आकर यहां बसे थे और न किसी दूसरी जाति के साथ ही उनका सम्बन्ध मालूम होता है।

इसी प्रकार सर एच० रिज़्ले× का कथन है कि द्रविड़ लोग इसी देश की मिट्टी से उपजे हैं और मूल रूप में वे विन्ध्य से गंगा की घाटी तक के प्रदेश में रहते थे।

इस प्रकार अन्त में हम देखते हैं दक्षिण भारतमें जो जाति निवास करती है वह द्रविड़ जाति के नाम से प्रसिद्ध है। मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी द्रविड़ों की गणना क्षत्रियों में की गई है। पुराणों के अनुसार तो दक्षिण भारतके सभी निवासी आर्यों की सन्तान थे। यहां तक कि रावण जैसा राजा भी आर्य सन्तान था, पुलस्त्य ऋषि का पौत्र था। कुछ भी हो द्रविड़ लोग वस्तुतः में दक्षिण के ही मूल निवासी हैं तथा यह सिद्धान्त कि वे बाहर के किसी देश से भारत में आये यूरोपीय विद्वानों की निराधार कल्पना मात्र है जो मान्य किये जाने योग्य नहीं बन सकती।

---

* मध्य एशिया का इतिहास—राहुल सांकृत्यायन।

† तामिल साहित्य और संस्कृति—श्री अवधनन्दन।

× *The People of India. Sir H. Risley*

गये। स्थल मार्ग से आने वाले सिद्धान्त के समर्थक यह प्रमाण देते हैं कि बलूचिस्तान के एक भाग में जो ब्राहुइ भाषा बोली जाती है और जो द्रविड़ भाषा से मिलती-जुलती मानी जाती है वह उन्हीं लोगों की है जो इस द्रविड़ टोली में से छूट गये थे तथा बलूचिस्तान में बस गये। इन लोगों का यह भी कथन है कि सिंधु घाटी में जिस प्राचीन नगरी सभ्यता का उद्घाटन हुआ है वह भी इन्हीं द्रविड़ों की है। श्री केनेडी तथा डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी अनुमान करते हैं कि द्रविड़ों के पूर्वज प्रारम्भ में भूमध्यसागर के किनारे रहते थे और वहीं से ये लोग भारतवर्ष में आये। इसा से लगभग ३५०० ई० पू० में ये लोग भूमध्यसागर से भारत की ओर चले। रास्ते में इनकी शाखायें इराक और इरान में भी रह गई जिन्होंने ईराक में सुमेरी सभ्यता की नींव डाली और वहाँ से जो लोग भारत में आये उन्होंने मोहंजोदड़ो, हरप्पा आदि स्थानों में सिन्धु सभ्यता की स्थापना की।*

इसके विपरीत अन्य विद्वानों का अनुमान है कि द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के निवासी थे जहाँ से वे समस्त उत्तरी भारत में फैले तथा उन्हीं लोगों ने सिन्धु घाटी में भी अपनी सभ्यता का प्रचार किया। इस प्रकार ये लोग भी सिन्धु सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता ही मानते हैं।

दक्षिण भारत के कुछ इतिहास लेखकों का मत है कि द्रविड़ लोग उत्तर पश्चिम की ओर से भारत आये थे और उन्होंने अपने से पहिले भारत में आये हुए कोलों को अपदस्थ कर देश के उपजाऊ प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। इनके मतानुसार कोल लोग हिमालय के उत्तरी-पूर्वी दर्रों से भारत में आये थे। बाद में जब द्रविड़ों ने उन्हें भगाया तब कोल लोगों ने जंगलों और पहाड़ों में भागकर शरण ली।†

श्री कनक सभाइ का मत था कि द्रविड़ लोग मंगोल जाति के थे और वे तिब्बत से चलकर बंगाल की खाड़ी को पार कर भारत के दक्षिण के प्रायद्वीप में जा पहुँचे और वहीं पर बस गये।

इस प्रकार द्रविड़ोंके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान लगाये हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो उक्त सभी अनुमानों के विरुद्ध अपना मत रखते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन ब्राहुइ लोगों को द्रविड़ों की टोली के अवशेष बताकर द्रविड़ों के एशिया माइनर से भारत में आने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, उन ब्राहुइ लोगों में तथा द्रविड़ों में नस्ल की भिन्नता है अर्थात् वे भिन्न भिन्न नस्लों से सिद्ध हुए हैं। कर्नल होल्डिच बताते हैं कि ब्राहुइ लोग तुर्क मंगोल जाति के

* संस्कृति के चार अध्याय श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'।

† प्राचीन भारत—मूल लेखक श्री निवासचारी तथा श्री रामस्वामी आयंगर (हिन्दी अनुवाद) पृ० २०।

विदेशी विद्वानों को भूमध्यसागर, एजियन सागर, सुमेर, बलूचिस्तान आदि स्थानों में द्रविड़ सभ्यता के जो चिह्न दिखाई दिये हैं उसका कारण यही है कि द्रविड़ लोग अत्यन्त प्राचीन काल से कुशल नाविक रहे हैं तथा उनका व्यापार दूर-दूर के देशों से था। प्राचीन तामिल साहित्य में समुद्री व्यापार का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। अत्यन्त प्राचीन काल में भी ये लोग खाल्दिया, मिस्र तथा यूनान और रोम तक से व्यापार करते थे। यह भी माना जाता है कि ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी में मिस्र का राजा दक्षिण भारत में मलमल, आबनूस, दालचीनी तथा अन्य वस्तुएँ मँगाता था। ऐसी अवस्था में द्रविड़ों का निरन्तर आवागमन उक्त दूर दूर के देशों में रहता होगा। यह भी सम्भव है कि उनकी कुछ टोलियाँ किसी समय स्थल मार्ग से भी भारत वापस आई हों तथा उनमें से कुछ लोग सुमेर, बलूचिस्तान तथा सिन्ध में रह गये हों तथा उन देशों की सभ्यता पर इस प्रकार इनका कुछ प्रभाव पड़ा हो। किन्तु वे मूल निवासी दक्षिण भारत के ही हैं।

क्या आर्य बाहर से आये ?

दूसरी बड़ी समस्या है आर्यों की। यूरोपीय विद्वानों की मान्यता है कि द्रविड़ों के बाद आर्य-जातीय लोग भारत में आये और उन्होंने द्रविड़ों को हराकर दक्षिण की ओर ढकेल दिया। ये आर्य लोग १५०० ई० पू० के लगभग भारत के उत्तर पश्चिमी दर्रों के मार्ग से भारत में आये थे अर्थात् आर्य लोगों को भारत में आये डेढ़ दो हजार वर्ष ईसा पूर्व से अधिक नहीं हुआ।1 ये लोग मानते हैं कि इन आर्यों के विशिष्ट गुणों का निर्माण ईसा से लगभग ३००० हजार वर्ष पूर्व यूराल पहाड़ के दक्षिण के प्रदेश में हो चुका था। वहाँ से उनके कुछ समुदाय पश्चिम की ओर गये और पोलैण्ड होकर सारे यूरोप में फैले। इनकी दूसरी शाखा यूराल पर्वत के दक्षिण में स्थित अपने मूल स्थान को छोड़कर मध्य एशिया में अथवा कांकेशस प्रदेश से होती हुई मेसोपोटामिया में चली गई। फिर इन्हीं में से कुछ कबीले पूर्व की ओर बढ़कर ईराक में फैले और कुछ अन्य कबीले पूर्वी ईरान में होते हुए भारत में बढ़ आये जहाँ वे वैदिक आर्यों के रूप में प्रकट हुए।

यद्यपि इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है किन्तु यूरोपीय विद्वानों का बहुत बड़ा बहुमत इसी पक्ष का रहा है और उन्होंने अपने मत को बार-बार तथा इतनी दृढ़ता

---

1 *Sometime after 2000 B C the Sanskrit speaking Aryans separated from their kinsmen on the plateau of Iran and began to enter India from North West* – *History of Mankind II Webster* p 68

The nature of our source does not permit any accurate dating of this event (invasion by Aryan tribes) but a general opinion based on such evidences as is available places it about the middle of second millennum B C or the centuries immediately following

—*Encyclopedia Brittanica Vol XII*

से दुहराया है कि इतिहासकारों में यही मत मान्यता प्राप्त कर चुका है तथा अनेक प्रसिद्ध भारतीय इतिहास लेखक भी इसी मत का समर्थन करते हैं तथा उसे ठीक मानते हैं।† इतना ही नहीं इसके विरुद्ध मत रखने वाले को भारतीय सभ्यता का अनुचित पक्षपाती तथा इतिहास से अनभिज्ञ अथवा ऐतिहासिक सत्यों की उपेक्षा करनेवाला कहा जाता है तथा उसके मत की कोई साख नहीं समझी जाती।०

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर सबसे बड़ा प्रभाव आर्य जाति का ही है। अत यह प्रश्न कि आर्य कौन थे और कहाँ से आये बड़ा महत्वपूर्ण बन जाता है तथा गम्भीर विचार के योग्य है। इसी कारण यहा इस प्रश्न पर कुछ विस्तृत विवेचन तथा विचार किया जाना उचित जान पड़ता है।

आर्य लोग भारत के मूल निवासी नहीं हैं तथा ये बाहर से इस देश में आये इस मत के मुख्य प्रवर्तक तथा जन्मदाता सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान सर विलियम जोन्स तथा जर्मन विद्वान डा० मेक्समूलर माने जाते हैं। इनका उक्त सिद्धान्त पाश्चात्य भाषा विज्ञान पर आधारित माना जाता है और इसी कारण इस तर्क की साख भी मानी जाती है। उनके मत का निष्कर्ष यह है कि उत्तरी भारत से लेकर यूरोप के पश्चिम में आयरलैण्ड तक बोली जाने वाली प्राय सभी प्रमुख भाषाओं के शब्दों म संस्कृत के शब्दों से समानता पाई जाती है तथा भारत एव ईरान की प्राचीन भाषाओं में ऋग्वेद तथा अवेस्ता की भाषाओं में—तो बहुत अधिक समानता दिखाई देती है। इससे स्पष्ट है कि इन

---

† आर्यों का आदि स्थान कहाँ था इस प्रश्न पर तो काफी बहस रही है लेकिन इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि आर्य भारतवर्ष में और पश्चिमी एशियामें एक साथ प्रविष्ट हुए और ईरानी और भारतीय आर्य करीब २५०० ई०पू० में अलग हुए। भारतीय आर्यों ने इस देश म २००० ई० पू० और १४०० ई०पू० के बीच अफगानिस्तान और हिन्दूकुश के रास्ते से होकर प्रवेश किया और सबसे पहले ये सिन्ध घाटी की उपरली घाटी में बसे। बाद में ये धीरे धीरे आगे बढ़ते हुए गंगा की घाटीमें बसे।

प्राचीन भारतीय वेशभूषा—डा० मोतीचन्द्र

आर्य कहा से आये यह कहना तो कठिन है पर ये आये अवश्य कहीं बाहर से। वे अपने भाई ईरानी आर्यों को पीछे ईरान म छोड़ते सप्त सिन्धु में आ बसे।

—सांस्कृतिक भारत—भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ २६

० कुछ भारतीय विद्वान यह विश्वास करते हैं कि आर्य भारत भूमिके आदि निवासी थे उनका मूल स्थान बाहर कहीं न था—परन्तु इस तर्क की विशेष साख नहीं है। अनेक त्रुटियों के कारण यह मत ग्राह्य न हो सका।

—प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय

समस्त भाषाओं की जन्मदात्री कोई एक ही भाषा रही होगी अर्थात् इन भाषा-भाषियों के पूर्वज आरम्भ में एक ही स्थान पर एक ही छत के नीचे रहे होंगे और एक ही भाषा बोलते रहे होंगे। बाद में जीवन यापन की कठिनाइयों के कारण वे वहाँ से चल दिये और भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभक्त हो गये। इनमें से कोई शाखा पूरब की ओर गई और कोई पश्चिम की ओर। पश्चिम की ओर जानेवाली शाखा यूरोप तक पहुँची और पूरब की ओर आनेवाली शाखा भारत में आई और पञ्जाब तथा आसपास के क्षेत्रों में बस गई। प्रो॰ मेक्समूलर के शब्दों में 'किसी प्रागैतिहासिक काल में एक ऐसा समय था जबकि भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों और जर्मनों के पूर्वज एक ही छत के नीचे रहते थे।

इस मत के अनुसार प्रायः समस्त यूरोप के लोग उसी परिवार से निकले हैं जिस परिवार के भारतवासी हैं। भारत की ओर आने वाली शाखा की एक टुकड़ी ईरान में रह गई। इसी कारण ईरान और भारत की प्राचीन भाषाओं—वेद की संस्कृत और अवेस्ता की जेन्द—में बहुत अधिक साम्य है। पहले इस भाषा परिवार का नाम इन्डो-जर्मन रखा गया था, परन्तु जब यह नाम यूरोप के बहुत से लोगों को पसन्द न आया तो उसका नाम 'इन्डो यूरोपियन' कर दिया गया। ये समस्त जातियाँ इन्डो यूरोपियन जातियाँ और इनकी भाषा इन्डो यूरोपियन भाषा कहलाने लगी। इन्हीं जातियों को बहुत से लोग आर्य भी कहने लगे और इस प्रकार यूरोप की अनेक जातियाँ आर्य मानी जाने लगीं।

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि आज के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किये गये मत का ही विशेष आदर होता है। भाषा विज्ञान भी एक विज्ञान है। अतः भाषा विज्ञान के आधार पर प्रस्तुत किये गये आर्यों के मूल स्थान सम्बन्धी उक्त सिद्धान्त को समस्त यूरोपीय विद्वानों ने ही नहीं संसार भर के और भारतवर्ष के भी विद्वानों ने सहज ही स्वीकार कर लिया और आज भी यही सिद्धान्त इतिहासकारों में सबसे अधिक मान्य है।

आर्यों का आदिस्थान कहाँ ?—

दूसरा प्रश्न यह था कि आखिर वह स्थान कौन-सा था जहाँ अलग अलग होने से पूर्व उक्त समस्त जातियों के पूर्वज एक साथ रहते थे। यह प्रश्न भी भाषा विज्ञान के नाम पर हल किया गया। कहा गया कि उक्त इन्डो यूरोपियन जाति (हिन्दुस्तान से यूरोप तक फैली हुई होने के कारण यह नाम रखा गया) अथवा आर्य जाति के लोगों का तथा उनकी संस्कृति का सबसे अधिक परिचय हमें वेद तथा अवेस्ता से ही मिलता है तथा भारतीय और ईरानी ये दो ही मुख्य जातियाँ हैं जिनके पूर्वजों का एक ही इतिहास बहुत समय तक रहा जान पड़ता है। अतः उनका आदिम स्थान किसी ऐसी

जगह रहा होगा जो भारत और इरान के—वेद और अवेस्ता की भाषा बोलनेवाले लोगों के—दोनों के ही निकट रहा होगा। ऐसा स्थान मध्य एशिया ही हो सकता है। यहीं से एक शाखा इरान गई होगी, दूसरी भारत चली आई होगी और तीसरी पश्चिमकी ओर चल पड़ी होगी और चलते-चलते यूरोप के पश्चिमी देशों तक पहुँच गई होगी।

एशिया में हिंदूकुश पहाड़ के उस पार कास्पियन समुद्र के नीचे पामीर पर्वत की उपत्यका है। यह प्रान्त भारत और इरान दोनों ओर जाने के लिये सुविधाएँ देता है तथा यहा से यूरोप जाने के लिये भी मार्ग है। अत यह निश्चित मान लिया गया कि मध्य एशिया का यही प्रदेश आर्योंका मूल स्थान रहा होगा। इस प्रकार मध्यएशिया का सिद्धान्त चल पड़ा।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस मध्य एशिया से बाहर जानेवाली आर्यों की केवल दो ही मुख्य शाखायें थीं जिनमे से एक यूरोप की ओर चली गई और दूसरी भारतकी ओर आई, और जो शाखा भारत की ओर आई उसी के कुछ लोग इरान में छूट गये अथवा रह गये। इसी कारण भारतीय और ईरानी आर्यों की भाषा म, उपासना विधि में तथा विचारों में सबसे अधिक साम्य है। दोनों ही प्रकृति के दिव्य तत्वों, सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदि को देवता मानकर पूजा करते थे।

कई इतिहासकार मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को तो स्वीकार करते हैं कि भारतीय, ईरानी तथा यूरोपीय आर्यों के पूर्वज प्रारम्भ म एक साथ रहे होंगे, किन्तु वे उस स्थान को मध्यएशिया में न मानकर कोई अन्य स्थान मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यह स्थान कृष्ण सागर (ब्लेक-सी) के उत्तर का प्रशस्त यूरोपीय मैदान था तथा कुछ का कथन है कि यह स्थान दक्षिणी रूस के स्टेपीज में है।1 हाल में रूस के एक पुरातत्त्वविद ने यह सिद्ध किया है कि आर्य जाति के पूर्वज पूर्वी यूरोप के स्टेपीज अथवा दक्षिण रूस के कोरासमिया प्रान्त में रहते थे वहां से चलकर वे मध्य एशिया में गये और वहां से भारत आदि देशों में गये।2 श्री गाइगर तथा कुछ अन्य लेखक इस आधार पर कि

1 *The original home of Aryans appears to have been Southern Russia from which they spread out in several directions The Indo Aryans and Iranians on the other hand moved eastward across the Steppes where they proceeded to found there two great nations in India and Iran—Lucy Britt Vol VII India ancient history*

2 *Recent Archaeological Discoveries in Chorasmia in connection with some problems of ancient history of India—by Dr S P* Tolstov (*Modern Review December 1953*)

आर्य तथा जर्मन भाषाओं में अधिक साम्य है—आर्यों का मूल निवास पश्चिमी जर्मनी अथवा जर्मनी और स्वीडन नार्वे का अन्तरीप मानते हैं तथा गाइल्स के मत से वह भू-भाग आस्ट्रिया और बोहेमिया का सम्मिलित भू भाग है। अन्य लोगों की राय में यूरोप के उत्तर में यूराल पहाड़ से लेकर अटलांटिक महासागर तक जो लम्बा मैदान है उसी में आर्य जाति और भाषा का विकास हुआ। कुछ लेखकों के अनुसार मध्य तथा पूर्वी यूरोप से अर्ध घुमक्कड़, अर्ध स्थायी किसान लोग दलों में दक्षिण और पश्चिम, दक्षिण पूर्व और उत्तर पश्चिम में चल पड़े और प्राचीन काल की ग्रीक, थ्रेशियन, फ्रीजियन, आर्मीनियन, आर्य (हिन्दी ईरान) जर्मन, केल्ट तथा इटाल्नी संस्कृति स्थापित की। बाद में हिन्दी यूरोपीय लोगों से हिन्दी ईरानी दल अलग हो गया और एक भिन्न जलवायु वाले देश की ओर चल पड़ा।* श्री ह्यू विंक्लेर नामक जर्मन पुरातत्वज्ञ जिन्होंने मितन्नी (बोगजकोई) के सुप्रसिद्ध लेख का अनुसंधान किया आर्यों को उत्तरी मेसोपोटामिया अर्थात् मितन्नी का ही मूल निवासी मानते हैं और हित्ताइत लोगों के साथ भी उनका सम्बन्ध बताते हैं। इसी प्रकार प्रो० वाडेल आर्य लोगों को सुमेरी मानते हैं क्योंकि सुमेर में भी आर्य प्रभाव दिखायी देता है।

तात्पर्य, यूरोपीय विद्वानों को एशिया में अथवा यूरोप में जहां कहीं भी प्राचीन आर्यों के जीवन से मिलते जुलते कुछ चिह्न दिखाई देते हैं अथवा आर्य सभ्यता का कुछ प्रभाव दिखाई देता है वहीं वे आर्यों के मूल निवास की कल्पना कर बैठते हैं और एक नया सिद्धान्त खड़ा कर देते हैं।

आर्य लोग मध्य एशिया से या अन्य किसी स्थान से भारत में कब आये इस सम्बन्ध में भी इतिहासकारों ने अपने अपने मत प्रकट किये हैं जो बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। केम्ब्रिज इतिहास के लेखक श्री रैपसन का मत है कि वैदिक आर्य ईसा से लगभग २५०० वर्ष पूर्व के अन्दर ही भारत में आये और तभी से भारतीय आर्यों का इतिहास आरम्भ होता है।+

कुछ लोगों का मत है कि आर्यों का भारत में आगमन दो दलों में हुआ। पहला दल जो प्रधान दल था, अफगानिस्तान तथा खैबर घाटी होता हुआ पंजाब में चला आया और दूसरा दल बाद में चित्राल, गिल्गिट और गगातरी के दुर्गम मार्ग से होता हुआ भारत में उतरा। यही दो दल सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी नाम से प्रसिद्ध हुए। ये बाद के लोग गंगा और जमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में बस गये तथा पुरूरवा की कथा इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखती है।

---

* प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—श्री रांगेय राघव।

+ *Cambridge History of India - E J Rapson Vol I p 72*

अधिकांश यूरोपीय इतिहासकार तो भारत में आर्यों का आगमन बाहर से हुआ मानते ही हैं। कुछ भारतीय विद्वान भी इसी मत को मानते हैं। इनमें प्रमुख स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक हैं। वे आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया नहीं किन्तु उत्तरी ध्रुव मानते हैं। उनके कथन का आशय यह है कि अति प्राचीन काल में उत्तरी ध्रुव प्रदेश इतना ठंडा नहीं था जितना कि वह आज है तथा निवास के योग्य था। बाद में जब हिमयुग में वहाँ पर यह ठण्ड असह्य हो गई तब आर्य लोग वहाँ से निकल पड़े और इधर उधर घूमते हुए तथा ठहरते हुए भारत में आये। यह काल ८-१० हजार वर्ष पूर्व था।

महाराष्ट्र के एक दूसरे विद्वान श्री नारायण राव पावगी का मत है कि आर्यों का मूल स्थान तो भारत ही था किन्तु सम्भवत उनके उपनिवेश उत्तरी ध्रुव तक बसे हुए थे और वहीं से लौट कर वे फिर भारत में आये थे।+ काशी के विद्वान लेखक श्री सम्पूर्णानन्द का यही मत है कि आर्यों की आदि भूमि भारत की सप्तसिन्धु प्रदेश में थी जहाँ से सम्भव है आर्यों के कुछ दल किसी कारण से उत्तरी ध्रुव में पहुँच गये हों और फिर हिम युग के कारण वहाँ से लौटकर भारत आये हों। श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि भारतीय आर्य इस से डेढ़ हजार वर्ष पहले भारत पहुँचे।✣ यह मत यूरोप के लेखकों से मिलता-जुलता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर श्री अविनाशचन्द्र दास पहले भारतीय विद्वान हैं जिन्होंने ऋग्वेद के गहन अध्ययन तथा अन्य प्रमाणों एवं युक्तियों के आधार पर आर्यों के बाहर से आने के सिद्धान्त का तर्क पूर्ण खण्डन किया तथा अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया कि आर्य लोग कहीं बाहर से भारत में नहीं आये बल्कि भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश के ही मूल निवासी थे। यही उनका मूल स्थान था। यहीं उनकी सभ्यता का विकास हुआ था यहीं से वे भारत के अन्य प्रान्तों में फैले। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि आर्य सभ्यता डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व की नहीं, बल्कि २०-२५ हजार वर्ष पुरानी है। श्री सम्पूर्णानन्द जी भी इसी मत के समर्थक हैं तथा अनेक बातों में उन्होंने श्री दास के मत को उचित माना है।

वास्तव में भारतीय परम्परा, ऋग्वेद के मन्त्र साहित्यिक एवं अन्य प्रमाण श्री अविनाश चन्द्र दास के मत का ही समर्थन करते हैं। अतः यही मत सबसे अधिक युक्तियुक्त तथा तर्कपूर्ण दिखाई देता है। आर्यों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसे संसार के सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। किन्तु ऋग्वेद में अथवा अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, कोई संकेत तक नहीं मिलता कि आर्य लोग सप्तसिन्धु

+ *The Aryavartic home and its colonies—N Paoji*

✣ मध्य एशिया का इतिहास भाग १ अध्याय ६।

में जो भारत में उनका निवास स्थान था, कहीं बाहर से आकर बसे हों। प्राय यह देखा जाता है कि जो जातिया किसी एक देश से दूसरे देश में आकर बसती हैं वे प्राय अपने मूल-स्थान का स्मरण रखती हैं तथा उनकी परम्पराओं में भी यह बात चलती रहती है। प्राचीन सुमेर के लोगों में यह परम्परा सुदृढ थी कि उनके पूर्वज पूर्व दिशा के किसी देश से यहा पहुँचे थे तथा वे समुद्र के मार्ग से यहा आये थे। ईरानी आर्यों के ग्रन्थ अवेस्ता में भी ऐसे सकेत मिलते हैं कि उनका आदि स्थान कहीं और था। इसे उन्होंने 'आर्यानम् वेजो' कहा है किन्तु भारतीय आर्यों में ऐसी कोई परम्परा नहीं रही। वेदों में—विशेषत ऋग्वेद में—सप्त सिन्धु का देश ही उनका घर प्रतीत होता है। वे यहा की भूमि की, नदियों की स्तुति करते हैं। सिन्धु की महिमा का उल्लेख ऋग्वेद के दशम् मण्डल (सूक्त ७५ मन्त्र ७) में मिलता है तथा सरस्वती का वर्णन अनेक स्थानों में (१ ३-११, ६-६१-२, ६-६१-१२, ७ ९५ ४) में मिलता है।।

फिर यदि भारत के वेदों में ऐसा उल्लेख नहीं है तो किसी अन्य देश के प्राचीन ग्रन्थों में ही—जहा से भी आर्य आये हों—ऐसा उल्लेख मिलना चाहिये था अथवा ऐसी परम्परा होनी चाहिये थी कि वहीं के आर्यों ने भारत को तथा अन्य देशों को जीता था तथा वहा सभ्यता का प्रचार किया था, किन्तु अन्य देश में भी न ऐसा कोई उल्लेख मिलता है, न ऐसी कोई परम्परा ही है। यदि यह माना जाय कि उस देश के —मध्य एशिया का अथवा अन्य किसी देश के जहाँ से भी आर्य बाहर गये सभी मनुष्य अपना देश छोड़कर बाहर चले गये थे अत वहाँ परम्परा के लिये कोई स्थान ही नहीं रह गया था तो यह भी विचारणीय है कि यहा के एकदम सभी लोग अपना मूल स्थान क्यों छोड़ गये। यह देश एकदम आर्य शून्य क्यों हो गया।

फिर यह बात भी विचारणीय है कि यदि आर्य लोग किसी बाहर के देश से भारत में आये होते तो लगभग १०० वर्ष की खोज बीनके बाद कुछ तो प्रमाण ऐसे मिलते जिनसे उनका मूलस्थान निश्चित रूप से बताया जा सकता, किन्तु उक्त सिद्धान्त तो आज तक कल्पना के आधार पर ही चल रहा है, मध्य एशिया का सिद्धान्त बहुमान्य होते हुए भी अब भी सर्वमान्य नहीं है और यूरोपीय विद्वान आर्यों के मूल स्थान का पता लगाने के लिये अब भी भटक रहे हैं।

एक अन्य दृष्टि से भी आर्यों के बाहर से आने के सिद्धान्त का खण्डन होता है। ऋग्वेद (मण्डल १० सूक्त ७५) में पञ्जाब की नदियों के नाम आये हैं यथा —

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥१०।७५।५॥

। आर्यों का आदि देश—श्री सम्पूर्णानन्द।

इस मत में नदियों का क्रम गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलज), परुष्णी (रावी) असिक्नी (चनाव), मरुद्वृधा (व्यास) तथा वितस्ता (झेलम) मिलता है अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर। यदि आर्य भारत में उत्तर पश्चिम की दिशा में आये होते तथा धीरे-धीरे पूरब की ओर अर्थात् गंगा, जमुना की ओर बढ़े होते तो नदियोंका क्रम उसी प्रकार से अर्थात् पश्चिम से पूरब की ओर होना चाहिये था। उक्त मत यही साबित करता है कि समस्त पंजाब तथा गंगा जमुना का प्रदेश प्रारम्भ से आर्यों का ही प्रदेश था।

नदियों के उक्त क्रम के अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि गंगा-यमुना के दुआबे में प्राचीनकाल में आर्य सभ्यता का विस्तार था। भारत सरकार के सूचना-विभाग के एक लेख में भी कहा गया था कि—गंगा-यमुना के दोआब में प्राचीन आर्य सभ्यता का विस्तार था तथा यह विश्वास करने के कारण मौजूद हैं कि कई प्राचीन नगर यमुना के उस पुराने मार्ग पर स्थित थे जहां अब पूर्वी यमुना नहर बहती है।1

इसी सम्बन्ध में विक्रम सम्वत् से ३-४ सौ वर्ष पूर्व के भारतीय निवास के आधार पर मेगस्थनीज ने लिखा है—कहा जाता है कि भारत अनगिनत और विभिन्न जातियोंसे बसाया गया है इनमें से एक भी मूल में विदेशी नहीं थीं बल्कि सबकी सब इसी देश की थीं।*

इस प्रकार भाषा विज्ञान पर आधारित कहा जाने वाला आर्यों के भारत में बाहर से आने का सिद्धान्त वास्तव में दुर्बल आधारों पर स्थित एक कल्पना मात्र है तथा वास्तव में आर्य लोग भारत के ही मूल निवासी सिद्ध होते हैं।

इस सम्बन्ध में डा० सत्यनारायण का विवेचन भी उल्लेखनीय है। उनका कथन है, "भाषा विशेषज्ञ यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि यदि बहुत बड़ी संख्यामें आर्य सारे यूरोप में नहीं बसे तो उनकी भाषा फैली कैसे? पर भाषा के इस प्रसार के लिये उसके बोलने वाले एक ही पूर्वजों का होना कुछ जरूरी नहीं है। यह निश्चित है कि प्राचीन काल में भारत का सम्बन्ध विशेषकर व्यापारिक सम्बन्ध दूर दूर के देशों से था। आर्य भाषा कुछ तो इस प्रकार बाहर जा सकती थी और अवश्य ही गई भी होगी। दूसरे आर्यों के आदि निवास से समय समय पर कुछ लोग अवश्य निकले और इधर उधर

1 *The early Aryan Civilisation flourished in the Ganga Jamna Doab There is reason to believe that several ancient towns lay on an old course of the Yamuna now followed by the Western Jamna Canal Some Ancient towns of the Punjab by* Dr Y D *Sharma - Press note dated 21 8 1951*

२ हमारा देश—डा० सत्यनारायण पृष्ठ ७३।

फैले। वे जहाँ पहुँचे वहाँ वालों की अपेक्षा अधिक सभ्य और जीवन संग्राम के लिये अधिक सनद्ध थे। इसलिये उनकी धाक फैल गई और आर्य भाषा सर्वत्र फैल गई।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि आर्यों का आदि निवास भारत का सप्तसिंधु प्रदेश है और वहीं से वे ईरान, इराक, सीरिया तथा उसके पश्चात् मिस्र, यूनान तथा यूरोप के अन्य देशों में फैले तथा प्रत्येक स्थान पर उन्होंने अपनी उच्च सभ्यता की छाप छोड़ी। यदि आज भी उन देशों की भाषाओं पर तथा उनकी सभ्यता पर आर्य भाषा तथा संस्कृत की छाप दिखाई देती है तो उसका कारण यही है कि आर्यों की भाषा तथा सभ्यता की उन पिछड़े हुए लोगों की भाषा तथा सभ्यता पर इतनी गहरी छाप पड़ी कि उसके चिह्न आज तक स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने यह शंका उठाई कि भारत प्राचीन काल में भी धन धान्य से पूरित देश था फिर वहा से आर्य लोग इतनी बड़ी संख्या में अपना देश छोड़कर बाहर क्यों गये ? यह शंका अत्यन्त निर्बल है। आगे इसी अध्याय में उन कारणों पर प्रकाश डाला गया है जिनसे आर्यों के बहुत से दलों को विवश होकर देश से बाहर जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त बहुत से लोग व्यापार के हेतु भी बाहर गये। हम सभी मानते हैं कि ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग आर्यों द्वारा पूर्व की दिशा में बढ़कर सुमात्रा, जावा बाली, मलय आदि टापुओं और देशों में आर्य उपनिवेशों की स्थापना की गयी थी। क्या इस ऐतिहासिक तथ्य को असत्य ठहराया जा सकता है ? तब क्या उस समय भारत में धन-धान्य की इतनी कमी हो गई थी कि लाखों को जीविका के लिये बाहर जाने के लिए विवश होना पड़ा। उन दिनों भारतकी जनसंख्या भी इतनी नहीं बढ़ी थी कि इस देशमें उन लोगों के लिये स्थान न रहा हो। वे वस्तुतः में वे व्यापार तथा अन्य कारणों से बाहर गये। इसी प्रकार अति प्राचीन काल में भी कुछ तो पारस्परिक संघर्ष से बचने के लिये तथा कुछ व्यापारादि कारणों से बहुत से लोगों को देश से बाहर जाना पड़ा।

पृथ्वी के दोहन की कथा—

आर्यों की आदि निवास भूमि यहीं थी और इसी भूमि पर उनकी सभ्यता का प्रारम्भिक विकास हुआ इसका आधार पुराणों में भी मिलता है। वायु पुराण (अध्याय ६२) में पृथ्वी के दोहन की कथा है जो वास्तव में सभ्यता के विकास—पृथ्वी से अनाज, खनिज द्रव्य आदि प्राप्त करने—का ही एक रूपक है, क्योंकि भूमिसे कृषि द्वारा अन्न प्राप्त करना धातुओं का उपयोग करना यही सभ्यता की सीढ़ियां हैं। पुराणों की कथा इस प्रकार है कि एक बार राजा प्रथु, (मनु पुत्र इक्ष्वाकु के वंश के पांचवें राजा जिनके नाम पर ही इस भूमि का नाम पृथ्वी पड़ा) पृथ्वी को निरर्थक समझकर उसे मार डालना चाहते थे। तब पृथ्वी ने गौ रूप धारण कर लिया और प्रथु से कहा—राजा ! यदि तुम अपनी प्रजा

का कल्याण करना चाहते हो तो मुझे मत मारो—मैं अन्न रूप में परिणत हो जाऊँगी। तब परम ऐश्वर्यशाली प्रभु ने चाक्षुष मनु को बछड़ा बनाकर अपने करतल में अन्न राशि का पृथ्वी से दोहन किया। इसी प्रकार अनेक बार पृथ्वी का दोहन किया जाना वर्णित किया गया है। इसका अर्थ पृथ्वी से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ—अन्न, सोना चांदी आदि खनिज पदार्थ प्राप्त किया जाना ही जान पड़ता है।

पुराणों की उक्त कथा से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों पृथ्वी प्रायः असमतल अर्थात् ऊँची नीची थी और जहाँ-तहाँ पृथ्वी एकसमान थी अथवा समतल बना ली गई थी, वहाँ-वहाँ प्रजा-जन आ-आकर अपने निवास बनाकर रहने लगे। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि राजा प्रथु के समय तक मनुष्यों का आहार मात्र फल मूल आदि ही रहा होगा, जिससे निर्वाह में कठिनाई होती थी। किन्तु प्रथु के कार्यकाल में ही भूमि समतल की जाकर रहने योग्य बनाई गयी, फिर कृषि द्वारा अन्नोत्पादन किया गया तथा फिर भूमि के भीतर से अनेक प्रकार की धातुएँ भी प्राप्त की गई। इस प्रकार पृथ्वी का दोहन प्रारम्भ हुआ और यह दोहन आज तक उसी प्रकार चल रहा है। भूमि का दोहन राजा प्रथु के ही समय में आरम्भ होने के कारण इसका नाम पृथ्वी हुआ। पुराणों के अनुसार यह वैवस्वत मनु के काल की घटना है। पाषाण युग के पश्चात् कृषि और धातु युग का यह प्रारम्भ जान पड़ता है।

उक्त पौराणिक कथा का भी अर्थ यही निकलता है कि आर्य लोग सभ्यता के आरम्भ काल से—पाषाण युग से—इसी भूमि पर बसे हुए हैं तथा यहीं उनकी सभ्यता का विकास हुआ। इसका अर्थ भी यही है कि आर्यों का आगमन इस देश में बाहर कहीं से नहीं हुआ—वे आरम्भ से यहीं पर बसे थे।

धातु काल—

धातु युग भारत में कब और किस प्रकार आया इस सम्बन्ध में विद्वानों की भिन्न भिन्न कल्पनायें हैं। पहिले यह अनुमान था कि उत्तर भारत में पूर्व पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण काल के पश्चात् ताम्र काल आया और उसके पश्चात् लौह युग आया—परन्तु दक्षिणी भारत में उत्तर पाषाण काल के पश्चात् जिसे नव पाषाण काल भी कहते हैं एक दम लोह का युग आ गया अर्थात् वहाँ ताम्र काल आया ही नहीं। इसका कारण यह था कि उत्तरी तथा मध्य भारत के कई स्थानों में तो ताम्बे के हथियार, औजार मिले थे अर्थात उत्तरी भारत में कानपुर, फतेहगढ़, मैनपुरी, मथुरा आदि में तथा मध्य भारत के भी कुछ स्थानों में तांबे की तलवारें भालों की मूठें आदि पाई गई परन्तु दक्षिणी भारत में ऐसे कोई हथियार नहीं मिले हैं। परन्तु अब यह भी धारणा बदल गई है क्योंकि दक्षिणी भारत में भी कई स्थानों पर तांबे और कांसे के औजार मिले हैं और वे ऐसे

अब इस मत पर थोड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि ऋग्वेद किसी एक काल का अथवा किसी एक व्यक्ति का बनाया हुआ ग्रन्थ नहीं है, उसके भिन्न भिन्न सूक्त, जिनकी संख्या एक सहस्र से अधिक है, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा तथा भिन्न-भिन्न समयों में बनाये गये हैं जिनके निर्माण काल में सौ दो सौ वर्षों का नहीं सहस्रों वर्षों का अन्तर रहा होगा। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र विद्वानों द्वारा अत्यन्त प्राचीन बताये जाते हैं। उदाहरणार्थ जिस मन्त्र में सरस्वती नदी का समुद्र में मिलना बताया गया है वह अधिक प्राचीन होगा, क्योंकि वह समुद्र आज का अरब सागर नहीं, बल्कि समुद्र था जो पूर्वकाल में राजपूताना के स्थान पर था और जिसका अवशेष आज भी साम्भर झील के रूप में मौजूद है। जैसा श्री अविनाश चन्द्र दास ने बताया है। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक एच० जे० वेल्स के मतानुसार यह समय ५० हजार वर्ष पूर्व से लेकर २५००० वर्ष पूर्व तक का था।

इसे दृष्टि में रखते हुए जब हम श्री मैक्समूलर के मत पर विचार करते हैं तो वह अत्यन्त सङ्कुचित तथा निर्बल आधारों पर स्थित दिखाई देता है जैसा कि ऊपर कहा गया है। ऋग्वेद जो अब संहिता रूप में प्राप्त होता है, भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न समयों तथा स्थानों पर बनाये हुए मन्त्रों का संग्रह है। श्री बेरीडेल कीथ का भी मत है कि इन मन्त्रों की रचना बहुत दीर्घ समय तक तथा भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न समुदायों के ऋषियों द्वारा हुई तथा बाद में इन सब मन्त्रों का संग्रह हुआ।[1] श्री विटरनित्स के मत से भी ऋग्वेदिक साहित्य के स्तरों में शताब्दियों का अन्तर है। यह अन्तर सौ दो सौ वर्ष का मानना पर्याप्त नहीं बल्कि यह अन्तर सहस्रों वर्षों का रहा होगा क्योंकि जैसा कि सर्वविदित है वेदों का संहिता रूप में संग्रह श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत के लगभग किया और यह काल कुछ विद्वानों के मत से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ई० पू० तथा अन्य विद्वानों के मत से ३००० ई० पू० था तथा यह भी ज्ञात होता है कि संहिताओं में कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो संग्रह होने के थोड़े ही दिन पूर्व बनाये गये थे तथा इस प्रकार वे प्राचीन मन्त्रों से सहस्रों वर्ष पीछे के हैं।

फिर ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद बना और इसके बनने का समय भी विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद से बहुत बाद का है क्योंकि दोनों वेदों की सामग्री को देखते हुए उनके काल में बहुत अन्तर होना स्पष्टतः दिखाई देता है। यजुर्वेद काल में आर्य सभ्यता का क्षेत्र सप्तसिन्धु से हटकर पञ्चाल देश बन गया था। फिर सामवेद बना और फिर अथर्ववेद। अथर्ववेद की रचना बहुत बाद में हुई मानी जाती है फिर भी सम्भवतः यह ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण के पूर्व हो चुका था।

---

1 *History of Sanskrit Literature A Berridale Keith*

वेदों के पश्चात ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और यह रचना उस समय में हुई जब लोगों को वेदों का अर्थ समझना ही कठिन होगया था। ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना का उद्देश्य ही वैदिक कर्मकाण्ड को स्पष्ट करना तथा वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करना था। कितने ही स्थल जो वेदों में गुह्य तथा अस्पष्ट थे ब्राह्मणों में कथा रूपमें स्पष्ट किये गये। इसका अर्थ ही यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण काल में वेद ग्रन्थ काफी प्राचीन हो चुके थे और उनका अर्थ समझना कठिन हो रहा था। यह काल सौ दो सौ वर्ष का अथवा दो चार पीढ़ी का नहीं हो सकता बल्कि सहस्रों वर्षों का ही रहा होगा। फिर ब्राह्मण ग्रन्थ भी एक दो नहीं अनेक हैं जो सबके सब एक साथ ही नहीं बन गये होंगे। उनके बनने में भी सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं जैसे ऋग्वेद के ऐतरेय तथा कौषीतकी एवं यजुर्वेद का शतपथ। यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण-काल में आर्य लोग प्रायः समस्त भारत से—गान्धार और बाल्हीक से लेकर मगध और अंग तक—परिचित हो गये थे। अतः यह काल भी वेदों के काल से काफी बाद का रहा होगा—सैकड़ों वर्ष बाद का।

ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आरण्यक बने जो यद्यपि वर्तमान में ब्राह्मणों के अन्त में जुड़े हुए मिलते हैं परन्तु मूलतः वे ब्राह्मणों से बहुत बाद में बने होंगे। ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के बाद उपनिषदों का क्रम चला। इनमें ईश्वर सम्बन्धी गहन चिंतनपूर्ण विचार हैं। उपनिषद भी दो चार नहीं अनेक हैं। मुख्य मुख्य उपनिषद ही १५-२० माने जाते हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि। ये उपनिषद भी एक साथ अथवा सौ पचास वर्षों में न बन गये होंगे।

उपनिषदों के बाद उस नये प्रकार के साहित्य का प्रारम्भ हुआ माना जाता है जो सूत्र साहित्य कहलाता है—धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि के ग्रन्थ अलग-अलग बने। इनके बनने में भी काफी समय लगा होगा। इनके अतिरिक्त वे भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनकी गणना 'वेदांग' में की जाती है। निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण आदि इनका निर्माण भी वेदों के अर्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही हुआ था। इनमें से भी अधिकांश ग्रन्थों की रचना बुद्धकाल से पूर्व हो चुकी थी। उदाहरणार्थ यास्क महर्षि का निरुक्त ६ वीं अथवा ७ वीं शताब्दी ई० पू० की रचना समझी जाती है। पाणिनि का सुप्रसिद्ध व्याकरण, अष्टाध्यायी यद्यपि ५ वीं शताब्दी ई० पू० की रचना समझी जाती है, परन्तु पाणिनि से भी पूर्व व्याकरण के अनेक रचयिता हो चुके थे—शाकटायन, भारद्वाज, इन्द्र, बृहस्पति, शाकल्य, आपिशालि, गार्ग्य, गालव, शौनक, कश्यप आदि जिनका उल्लेख पाणिनि ने स्वयं अपने ग्रन्थ में किया है। इसी प्रकार ज्योतिष ग्रन्थों का रचना काल लोकमान्य तिलक के अनुसार १४०० ई० पू० है।

इस प्रकार ऋग्वेद से लेकर वेदांग ग्रन्थों तक एक विशाल साहित्य बुद्ध के पूर्व तक निर्मित हो चुका था। संसार के किसी भी प्राचीन देश में उस प्राचीन काल में इतना साहित्य निर्मित नहीं हुआ। इस समस्त विशाल साहित्य को ५ ६ सौ वर्ष में निर्मित मानना अत्यन्त अनुदार तथा संकुचित दृष्टिकोण का ही परिचायक है। श्री अविनाश चन्द्र दास वेदों से लेकर वेदांग तक का काल १५ २० हजार वर्ष मानते हैं।1

यदि श्री दास के मत को अत्युक्तिपूर्ण भी माना जाय तब भी श्री मैक्समूलर का मत तो किसी प्रकार बुद्धिगम्य तथा ग्राह्य नहीं है। इस काल की गणना कई अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आधारों पर की है। इनमें सबसे अधिक बुद्धिगम्य सिद्धान्त लोकमान्य तिलक का है। उनका अनुमान श्री मैक्समूलर जैसा केवल कल्पना पर आधारित नहीं वरन् ज्योतिष तथा गणित जैसे विज्ञान पर आधारित है। संक्षेप में उनका तर्क यह है कि वेदों के रचना काल में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी। आज के समान अश्विनी भरणी से नहीं अर्थात् मृगशिरा ही सबसे पहला नक्षत्र गिना जाता था तथा रात दिन बराबर होना भी इसी नक्षत्र के समय होता था। ज्योतिष के अनुसार वर्ष में दो बार रात दिन बराबर होते हैं। २१ मार्च तथा २१-२२ सितम्बर को जबकि सूर्य पृथ्वी की भूमध्य रेखा के बीच में आता है। इसी को बसन्त तथा शरद सम्पात कहते हैं। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के इस सिद्धान्त के आधार पर कि एक नक्षत्र पर १००० वर्ष का काल विषुव सम्पात का काल होता है तथा ऋग्वेद में बसन्त सम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होने का उल्लेख मिलता है यह निश्चित किया कि वेदों का रचना-काल लगभग ४५०० वर्ष ई० पू० है यह अनुमान न अयुक्तिपूर्ण जान पड़ता है न संकुचित।

भारत के एक अन्य ज्योतिषी का दावा है कि ऋग्वेद का रचना काल १४००० ई० पू० से बाद का नहीं हो सकता।2 हिन्दी के विद्वान तथा अन्वेषक श्री भगवद्दत्त का दृढ़ विश्वास है कि ईसा से लगभग ७ हजार वर्ष पूर्व ऋग्वेद के दशम मण्डल का नासदीय सूक्त तथा अन्य सूक्त अवश्य विद्यमान थे तथा इससे कम समय तो हो ही नहीं सकता।3 श्री भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि ३००० ई० पू० का समय ही ऋग्वेद की प्रारम्भिक ऋचाओं के निर्माण का काल जान पड़ता है4 यद्यपि श्री उपाध्याय अन्यत्र5 भारत में आर्यों का आगमन १५०० ई० पू० में ही मानते हैं।

---

1 *Rigvedic India – Abinas Chandra Das Chapter XII*

2 श्री केदारनाथ राजज्योतिषी—वेदों का काल निर्णय, दैनिक हिन्दुस्तान अगस्त १९५६

3 भारत का प्राचीन इतिहास—श्री भगवद्दत्त पृष्ठ ५८

4 भारत का प्राचीन इतिहास—श्री भगवतशरण उपाध्याय ऋग्वेद का काल परिशिष्ट पृष्ठ ३६

5 सांस्कृतिक भारत—श्री भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ २४-२५

अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रो० विल्सन उसे १२ वीं सदी ई० पू० से २० वीं सदी ई० पू० तक मानते हैं। श्री बुह्लर तथा विंटर निज़ के अनुसार वैदिक साहित्य ३००० ई०पू० का है तथा भारतीय संस्कृति चार हजार वर्ष ई० पू० की है। जर्मन विद्वान जैकोबी ने ज्योतिष गणना के ही आधार पर ऋग्वेद का रचना काल ६ हजार वर्ष ई० पू० के लगभग निश्चित किया। यह मत लोकमान्य तिलक के मत से मिलता जुलता ही है, क्योंकि लोकमान्य तिलक ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का रचना-काल ४५०० ई०पू० से पूर्व का मानते हैं। अतः यूरोपीय विद्वानों में से श्री जैकोबी का मत अधिक साधार तथा ग्राह्य है।

जैसा कि ऊपर कहा गया लोकमान्य तिलक के मतानुसार जहाँ बहुत से मन्त्रों का समय ४५०० ई० पू० का है वहाँ अनेक मन्त्रों का समय इससे बहुत पूर्व का है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के एक मन्त्र (३ ३९-७) में कहा गया है कि बहुत प्राचीन काल में पूर्वज लोग वेद मन्त्रों का गान करते थे। इसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद के मन्त्र निर्माता ऋषि अपने से भी बहुत पहले के काल की ओर संकेत करते हैं तथा इस प्रकार हमें बहुत पीछे की ओर ले जाते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र बनने के समय से भी बहुत पूर्व कुछ प्राचीन ऋषियों द्वारा वेद मन्त्र बनाये जा चुके थे। तथा पुराने ऋषियों द्वारा उनका गान भी होता था। इस प्राचीन काल का अनुमान करना कठिन है।

इसी प्रकार ब्राह्मणों के रचना काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अनुमान लगाये हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार ब्राह्मणों के काल में कृत्तिका नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना होने लगी थी तथा कृत्तिका नक्षत्र में ही रात दिन बराबर होते थे और यह काल खगोल तथा ज्योतिष के सिद्धान्तों के अनुसार आज से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व अथवा २५०० ई० पू० से २७०० ई० पू० तक के लगभग रहा होगा। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य भी ब्राह्मणों का रचना काल २७०० ई० पू० के लगभग मानते हैं। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर ही शतपथ ब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० माना है।

बोगजकोई के लेख का महत्त्व—

ऋग्वेद की प्राचीनता के सम्बन्ध में इसी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में (१९०७ में) एक ऐसा प्रमाण उपलब्ध हुआ जिसकी उपेक्षा यूरोपीय इतिहासकार भी न कर सके तथा जिसके कारण उन्हें अपना मत बदलने के लिये बाध्य होना पड़ा। यह है बोगजकोई स्थान (सीरिया प्रदेश) में प्राप्त कुछ लेख जिनकी खोज का श्रेय एक जर्मन विद्वान ह्यू विंक्लर को प्राप्त है। इतने पुराने लेखों में आर्यों के इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्य के नाम देखकर यूरोपीय विद्वान आश्चर्य चकित रह गये और उन्हें मानना पड़ा कि ये तो सभी

आर्य देवता हैं क्योंकि ऋग्वेद में उनके सम्बन्धमें अनेक मंत्र मिलते हैं। इससे यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित होगई कि इसा से लगभग १॥ हजार वर्ष पूर्व अथवा आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व पश्चिमी एशिया जैसे सुदूर देश में आर्य लोग मौजूद थे तथा अपने राज्यों की स्थापना कर चुके थे। यह भी स्पष्ट था कि पश्चिमी एशियाके इन आर्यो के देवता वे ही थे जिनका वर्णन ऋग्वेद में है। अत ऋग्वेद का रचना काल इससे बहुत पूर्व होना ही चाहिये, क्योंकि ऋग्वेदके रचना काल के न जाने कितने समय पश्चात् आर्य लोग भारत से चले होंगे, उस मार्ग में तथा पश्चिमी एशिया के छोर तक पहुँचने में तथा फिर वहा पर अपने राज्यों की स्थापना करने में न जाने कितना समय लगा होगा।

इस बोगजकोइ के लेख से यह भी स्पष्ट है कि जो विद्वान यह मानते हैं कि आर्य लोग ईसा से १। हजार वर्ष पूर्व बाहर से भारतमें आये उनकी मान्यता कितनी निराधार तथा असत्य है क्योंकि जब आर्यों की कुछ शाखायें भारत से चलकर लम्बा मार्ग तय करती हुई लगभग १॥ हजार वर्ष पूर्व एशिया के पश्चिमी छोर पर जा पहुँची तो वे आर्य भारत में तो उससे सैकड़ों या सहस्रों वर्ष पूर्व से रहते होंगे।

लघु एशिया में आर्य सभ्यता के उक्त चिन्हों को देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि यूरोप अथवा दक्षिणी रूस ही आर्यों का आदि स्थान था तथा वहां से वे लघु एशिया होते हुए भारत की ओर बढ़े थे तथा इसी यात्रामें अपने कुछ चिन्ह लघु एशिया में छोड़ गये अर्थात पूरब की ओर यात्रा करते समय ही इस प्रदेश से भी उनका सम्पर्क हुआ था। परन्तु यह केवल उलटी गगा बहाना है, क्योंकि इसका अर्थ तो यह होता है कि आर्यों का ऋग्वेद यूरोप में अथवा रूस में बन चुका था और इन्द्र, वरुण, मित्र तथा नासत्य देवताओंकी कल्पना वहीं पर विकसित हो चुकी थी। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रायः सभी विद्वान इस बात में सहमत हैं कि ऋग्वेद की रचना कम से कम उसके अधिकांश भाग की रचना पञ्जाब अथवा सप्तसिन्धु प्रदेश में ही हुई थी। ऋग्वेद में कुछ ऐसे मंत्र अवश्य मिलते हैं जिनका सम्बन्ध भारत के बाहर के प्रदेशों से ज्ञात होता है। लोकमान्य तिलक के मतानुसार अनेक मंत्रों में ध्रुव प्रदेश की अवस्थाओं का वर्णन है। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद में खाल्दिया आदि देशों के शब्द भी खोज निकाले हैं। इसका कारण, यही ज्ञात होता है कि भारत से जो आर्य जन बाहर गये थे अपने मूल देश से भी सम्पर्क बनाये रहे होंगे। अथवा यह भी सम्भव है कि भारत के कुछ ऋषि लोग भारत से बाहर हो आये हों तथा यहां लौटकर उन्होंने कुछ मंत्र ऐसे बनाये जिनमें बाहर के देशों की भाषा अथवा अवस्था की भी कुछ झलक आ गई हो। भारत तथा अन्य देशोंमें व्यापारिक सम्पर्क का भी यह परिणाम हो सकता है। परन्तु ऋग्वेद की रचना भारत से बाहर हुई मानना बुद्धिगम्य नहीं है। ऋग्वेद में पञ्जाब की

नदियों का सिंधु और सरस्वती का, गंगा और यमुना का वर्णन उक्त मान्यता के विपरीत प्रमाण प्रस्तुत करता है। इन नदियों के तट पर हुए कुछ युद्धों का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। अतः ऋग्वेद की रचना पंजाब में ही हुई मानना अधिक तर्कपूर्ण तथा बुद्धिगम्य है। जब इस सिंधु प्रदेश में भारत में इन्द्र, वरुण, मित्र तथा तथा नासत्य आदि देवताओं की कल्पना तथा उनकी उनकी उपासना परिपक्व रूप ग्रहण कर चुकी होगी तभी भारत से कुछ आर्यदल पश्चिम की ओर गये होंगे और सुदूर लघु एशिया तक पहुँचकर भी उन्होंने अपनी उपासना पद्धति न बदली होगी। वे उन्हीं देवताओं की पूजा करते रहे होंगे, तभी वहां के लेख में—संधिपत्र में—उन देवताओं का आवाहन किया जाना संभव है। इस दृष्टि से बोगजकोई के लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

वेदों का सकलन—

यह सम्भव है कुछ यूरोपीय विद्वानों ने ऋग्वेदादि के संहिता रूप में संकलन को ही उनका निर्माण काल मान लिया हो। यद्यपि प्रो० मैक्समूलर का कथन तो स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का निर्माण १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक तथा अन्य अधिक प्राचीन मंत्रों का निर्माण १२०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक हुआ। फिर भी सम्भव है अन्य यूरोपीय विद्वानों ने इस मत का समर्थन यह मानकर किया हो कि वेदों का संकलन १५०० ई० पू० के लगभग हुआ माना जाता है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। वेदों का संकलन भी कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत काल के आस-पास किया था तथा यह काल कुछ विद्वानों की दृष्टि में ३००० ई० पू० तथा अन्य विद्वानों की दृष्टि में १५०० ई०पू० के लगभग है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों का संकलन मात्र किया था—निर्माण नहीं। वेदों के मंत्रों का निर्माण तो व्यास से सहस्रों वर्ष पूर्व भिन्न भिन्न स्थानों पर किया गया था। सहस्रों वर्षों तक ये मंत्र "मनुष्य के मस्तक की पुस्तक में सुरक्षित रहे" तथा जीवित रहे क्योंकि हमारे प्राचीन आर्य ऋषिगण लिखित की अपेक्षा मौखिक विद्या को ही अधिक महत्व देते थे। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में यह परम्परा अब तक भी बहुत कुछ वैसी ही चली आ रही है। इस प्रकार 'श्रुत' रूप में ही वेदों के मंत्र एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आते रहे और इसी गुरु शिष्य परम्परा से हमारी वेद विद्या सुरक्षित तथा जीवित रही।

इन वेदों का ग्रन्थ रूप में संग्रह तथा संकलन भी अनेक बार हुआ होगा क्योंकि जब मंत्रों की संख्या अधिक बढ़ी तब उनका कण्ठस्थ करना कठिन कार्य हो गया होगा फिर भी सबसे पहले उनका संकलन कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके चार शिष्यों द्वारा ही किए जाने का उल्लेख मिलता है। यह भी पता चलता है कि व्यास के पश्चात भी

वेदोंका सङ्कलन होता रहा, क्योंकि व्यास के बाद पतञ्जलि तथा शौनकके काल में भी वेदों का सङ्कलन होने का पता लगता है। शाकल और वाष्कल के संस्करण जिन्हें कुछ विद्वान् ऋग्वेद की शाखायें मानते हैं शौनक के समय में ही हुए माने जाते हैं।

इस प्रकार वेदों का सङ्कलन और संग्रह बहुत पश्चात्‌वर्ती काल तक चलता रहा परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदमन्त्रोंका निर्माण भी उसी काल में हुआ। वास्तव में वेदमन्त्रों का निर्माण उनका संग्रह किये जाने के—जिसके कारण उनका नाम संहिता पड़ा—सहस्रों वर्षों पूर्व हो चुका था।

वेद-कालीन आर्य सभ्यता —

इस प्रकार ऋग्वेद के निर्माण काल पर विचार करने के पश्चात् वैदिक सभ्यता पर प्रकाश डालना उचित होगा। ऋग्वेद के निर्माण का मध्यकाल ईसा पूर्व साढ़े चार हजार अथवा पांच हजार वर्ष पूर्व मानना युक्तिसंगत है। यह वही काल है जब सुमेर, अक्काद, मिश्र आदि की सभ्यताएँ प्रारम्भिक अवस्था में थीं तथा उन्नति की ओर बढ़ रही थीं। परन्तु भारतीय सभ्यता इसी काल की सभ्यता नहीं है अर्थात् वेदों का निर्माण काल तथा भारतीय सभ्यता का विकास-काल एक ही बात नहीं है। वैदिक सभ्यता तो वास्तव में इससे बहुत प्राचीन है। इसका आरम्भ वेदों के निर्माण काल से सहस्रों वर्षों पूर्व हो चुका था। वेदों में तो हमें उस सभ्यता की एक झलक मात्र मिलती है और वेदों में हमें जिस सभ्यता के दर्शन होते हैं वह एक विकसित सभ्यता है जिसके विकास में भी सहस्राब्दियाँ लगी होंगी। लो० तिलक तथा प्रो० ब्लूम फील्ड का यह कथन सत्य ही है कि वेदों की भाषा इतनी आदिम काल की नहीं दिखाई देती कि जिसे आर्य सभ्यता के प्रारम्भिक काल की भाषा कहा जा सके, बल्कि इस रूप में भाषा का विकास होने में भी कई सहस्र वर्ष लगे होंगे। श्री सम्पूर्णानन्द जी का भी यही मत है कि ऋग्वेद की भाषा प्रौढ़ता यह बतलाती है कि वह गँवारों की बोली न थी बल्कि कई हजार वर्षों के परिश्रम के बाद अपने तत्कालीन रूप को पहुँची थी। फिर जब वैदिक ऋषि अपने से भी पूर्व काल की ओर संकेत करते हैं तो वे निःसन्देह हमें बहुत पूर्व की ओर ले जाते हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों से भी यह स्पष्ट है कि उस समय तक छन्द शास्त्र का भी निर्माण हो चुका होगा। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में उसके छन्द का नाम भी दिया हुआ मिलता है यथा गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, बृहती आदि। दृष्टान्त ही छन्दों के लक्षण भी उस समय तक निश्चित हो चुके होंगे। अलङ्कारों की—उपमा रूपक आदि की—तो वेद-मन्त्रों में भरमार है। यह भी भाषा की प्रौढ़ता की सूचक है। लो० तिलक का अनुमान है कि भाषा के विकास का यह काल ८ हजार वर्ष का होना चाहिये तथा इस प्रकार वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ १२ हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता

चाहिये। अर्थात् भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ सुमेर, बेबीलोन, मिस्र आदि की सभ्यताओं से कई सहस्र वर्ष पूर्व हो चुका था।

पूर्व में पृथ्वी दोहन की कथा में बताया गया है कि यह वर्णन उस समय का ज्ञात होता है कि जब पाषाण-युगकी समाप्ति हो रही थी तब इस देश में कृषि एवं धातु युग का प्रारम्भ हो रहा था। विद्वानों ने यह उत्तर पाषाण काल २५००० ई० पू० से १०००० ई० पू० तक का माना है। इस दृष्टि से भी भारतीय सभ्यता का प्रारम्भिक काल १०-१२ हजार वर्ष ई० पू० अथवा अब से १४-१५ हजार वर्ष पूर्व ही माना ही माना जाना चाहिये।

यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि सभ्यता की ओर प्रगति की मंजिलें सब देशों में प्राय एक सी ही रही हैं—पूर्व पाषाण काल उत्तर पाषाण काल, धातु काल आदि परन्तु सभ्यता का विकास समस्त देशों में एक समान अथवा समानान्तर रूपम नहीं हुआ। कोई जाति सभ्यतामें अधिक शीघ्र उन्नति कर गई, कोई पीछे रह गई तथा बहुत धीरे धीरे सभ्यता की अगली मंजिलों तक पहुँची। उदाहरणार्थ मिस्र की सभ्यता ४-५ हजार ई०पू० में काफी उन्नत अवस्था को पहुँच गयी थी, परन्तु यूरोप के अधिकांश देश उस समय में पुरा पाषाण युग में ही रह रहे थे।

इसी प्रकार भारतीय सभ्यता जो कि मिस्री सभ्यता से बहुत पुरानी है अब से १४-१५ हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर १०-१२ हजार वर्ष पूर्व अर्थात् ८-१० हजार वर्ष ई०पू० में काफी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी होगी। वेद-मन्त्रों म जिस सभ्यता के दर्शन हमें मिलते हैं उससे भी यही प्रकट होता है। यहाँ हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि वेद-मन्त्रों में जिस सभ्यता के दर्शन होते हैं वह उन मन्त्रों के निर्माण-काल की ही सभ्यता नहीं है, बल्कि उसमें काफी प्राचीन काल की सभ्यता है। वेद मन्त्रों में अनेक बातें विभिन्न प्राचीन कालों की मिलती हैं जिनमें कुछ बातें अत्यन्त प्राचीन काल की हैं तथा कुछ बातें मन्त्रों के निर्माण काल की भी हो सकती हैं।

भारतीय सभ्यता का सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद ही है जो बहुत कुछ अविकल रूप में आज कल हमें प्राप्य है। अतः यहाँ हम प्रायः ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर ही आर्य सभ्यता अथवा भारतीय सभ्यता तथा उसकी उच्चता का दर्शन करेंगे।

सामाजिक अवस्था :—

ऋग्वेदिक काल में आयजन, जो अनुद्रुह्य, यदु, तुर्वश, पुरु, भरत आदि समूहों जिन्हें 'जन' कहते थे बटे हुए थे। पंजाब में मुख्यतः सरस्वती नदी के पास, तथा गंगा जमुना के दुआब में फैले हुए थे। कुछ आर्य जन अयोध्या तथा उसके आगे मिथिला तक भी फैले हुए जान पड़ते हैं।

इस समय तक—अथवा इससे बहुत पूर्व ही 'जन' दल का मुखिया 'राजा' कहलाने लगा था तथा उसका पद वंशागत बन गया था। राजा पर अंकुश रखने के लिये 'सभा' और 'समिति' नाम की दो संस्थायें भी होती थीं।

इन लोगों में बहुत सी बातों में आपसी मतभेद भी हो जाते थे तथा लड़ाइयाँ भी हो जाती थीं। एक लड़ाई में दस राजा शामिल हुए थे। इसका वर्णन ऋग्वेद में काफी मिलता है (ऋ० ७।८३।४।८) तथा उसे 'दाशराज' युद्ध कहा जाता है। इसमें भरतों का राजा 'सुदास' विजयी हुआ था।

ऋग्वेद में दसवें मण्डल में सुप्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' है जिसमें कहा गया है कि परमेश्वर का मुख ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, उरु वैश्य है तथा पैर शूद्र हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्यों की चार प्रमुख जातियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उस समय तक अस्तित्व में आ चुकी थीं। ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता था और शूद्र का सबसे नीचा। कुछ विद्वानों का कथन है—जो वास्तव में यथार्थ भी है कि पुरुष सूक्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि उक्त सूक्त के समय से ही वर्ण व्यवस्था का आरम्भ होता है बल्कि वर्ण व्यवस्था का आरम्भ तो उससे बहुत पूर्व हो चुका होगा। पुरुष सूक्त में तो केवल उसका उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत कुछ विद्वान 'पुरुष सूक्त' को बाद में जोड़ा गया मानते हैं तथा मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था का प्रचार ऋग्वेद काल के बहुत बाद में हुआ। इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है।

ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ काफी पढ़ी लिखी तथा विदुषी होती थीं। अनेक सूक्त महिला ऋषियों के बनाये हुए ऋग्वेद में मिलते हैं। १।१२६ की ऋषि रोमेशा, १०४० की घोषा और ५।२८ की विश्ववारा १०।४५ की इन्द्राणी, १०।१५६ की पुलोमा कन्या शची ८।६ की अत्रि पुत्री अपाला है।

उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी ऋग्वैदिक काल में कुछ नियम दिखाई देते हैं। ऋ० ३।३१।१,२ में कहा गया है कि कन्या का अपुत्र पिता कन्या में जामाता द्वारा उत्पन्न पुत्र (धेवते) को अपना पुत्र बनाये तथा कन्या के पिता का वही दायभागी पुत्र हो। इसमें यह भी बताया गया है कि कन्या पर गोत्र के पुरुष को दी जाती है। यही व्यवस्था आगे मनु ने भी दी है। (मनु अ० ६।१२७) तथा आज तक प्रचलित है।

ऋ० १०।६१।७ में पुत्र न होने की दशा में कन्या को ही पिता के धन का उत्तराधिकार होने तथा कन्या से उत्पन्न नाती के वारिस होने का वर्णन है। १०।८५ के मन्त्र २२-२८ में भिन्न गोत्र में विवाह का उपदेश है।

यज्ञों की प्रधानता—

वैदिक आर्य यज्ञों के बड़े प्रेमी जान पड़ते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अग्नि की स्तुति करते हुए उसे यज्ञ का देवता कहा गया है। विद्वानों का मत है कि उनका सारा

जीवन ही यज्ञमय बन गया था। वे वर्षा के लिये यज्ञ करते थे, बीमारियों से बचने के लिये यज्ञ करते थे, शत्रुओं पर विजय पाने के लिए भी यज्ञ करते थे तथा परलोक में सुख पाने के लिये भी। यज्ञों के साथ पशु हिंसा भी की जाती थी परन्तु यह प्रारम्भिक काल की प्रथा जान पड़ती है। पश्चात् कालमें पशु हिंसा बहुत कम हो गई थी। यज्ञोंके कारण ही जिसे कर्मकाण्ड भी कहा जाता था, आर्यों में अनेक मतभेद हुए तथा मतभेदों का अधिक बढ़ जाना पारस्परिक संघर्षों का कारण बना। इन मतभेदों तथा संघर्षों के कारण ही बहुत से आर्यों को स्वदेश छोड़कर बाहर जाने को विवश होना पड़ा।

यज्ञादि घृत से ही होते थे। अतः ये लोग दूध से घी तैयार करना भलीभाँति जान गये थे। घृत का नाम ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों में (१-१३४ ६, २ १०-४, ४-१० ६, ४-४८-५ आदि में) आया है। 'जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन' (२ १० ४) में अग्नि को हविषा (चरु) और घृतेन (घी से) जिघर्मि (सींच कर बढ़ाता हूँ) कहा गया है। उनके भोजन में भी घृत का काफी व्यवहार होता था। घृत और दूध उनके भोजन के मुख्य पदार्थ ही थे।

वस्त्राभूषण —

वैदिक काल के आर्य लोग वस्त्रों का उपयोग भलीभाँति जान गये थे। वस्त्र प्राय सादा और बिना सिले होते थे। शरीर के ऊपरी भाग के लिये दुपट्टा होता था जिसे 'उत्तरीय' कहते थे। डा० मोतीचन्द का अनुमान है कि वैदिक आर्य तीन कपड़े पहिनते थे—नीवि, वासस और अधिवास। नीवि या परधान शायद लुँगी या तहमत जैसा कोई वस्त्र था जिसे स्त्री और पुरुष समान रूप में व्यवहार में लाते थे। अधिवास शायद आधुनिक दुपट्टा या चादर का प्रारम्भिक रूप रहा हो।*

कपड़े प्राय ऊनी या अलसी के रेशे (क्षुमा) के बने होते थे। वस्त्रों की बुनाई से लोग भलीभाँति परिचित थे। एक मंत्र में ऋषि कहता है—मैं धार्मिक कर्तव्यों का न ताना जानता हूँ न बाना। ऋ० २०।१३२।१ में कपड़ा बुनने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'तन्तुभि स्त' का अर्थ तन्तुओं से व्याप्त होकर किया जाता है। 'इमेवयन्ति' का अर्थ तन्तुओं से पट के समान बुनते हैं तथा 'प्र वय अपवय' का अर्थ 'ऊपर से बुनो, नीचे से बुनो' है जिसमें वस्त्र बुनने का भाव स्पष्ट ही है। इसी से स्पष्ट है कि लोग ताने बाने की बुनाई से परिचित थे। यह बुनाई ऊनी वस्त्रों की होती थी या सूती की यह स्पष्ट नहीं होता। ऋग्वेद में सूती वस्त्रों का उल्लेख नहीं मिलता। इससे कुछ लोगों का अनुमान है कि शायद उस समय कपास से वस्त्रों का बनाना भी लोगों ने न सीखा हो। सिंधु घाटी की खुदाई में सूती वस्त्रों के चिह्न भी प्राप्त हुए हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता

* प्राचीन भारतीय वेशभूषा—डा० मोतीचन्द्र पृष्ठ २

वैदिक सभ्यता से बहुत बाद की है। अतः यह सम्भव है कि तब तक लोगों ने कपास से कपड़ा तैयार करना सीख लिया होगा। डा० मोतीचन्द के कथनानुसार मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में तकुओं की फिरकियों के मिलने से पता चलता है कि लोग सूत कातते थे। एक वस्त्र के टुकड़े के वैज्ञानिक अध्ययन से पता चलता है कि लोग कपास से अवगत थे।

श्री नरदेव शास्त्री के मतानुसार आर्य लोग जरीदार वस्त्र भी पहनते थे, क्योंकि ऋग्वेद (६।६१।४) में 'सुवसा' शब्द आया है जिससे जरीदार वस्त्रों का ही अर्थ लिया गया जान पड़ता है।[1]

वैदिक लोग वस्त्र प्रायः बिना सिले पहनते थे। इस उष्णता प्रधान देश में धोती, चादर ही आरामदेह और स्वास्थ्यवर्द्धक पहरावा था और उसे लोग चाव से पहनते थे। परन्तु इसका अर्थ नहीं कि वे सिलाई से परिचित न थे अथवा सिले वस्त्र कभी पहने ही नहीं जाते थे। स्त्रियां कञ्चुक या चोली पहनती थीं जो सिलकर ही तैयार होती थी। वस्त्र सीने की सुई (सूची) से वे भलीभाँति परिचित थे। ऋग्वेद (२।३२।४) में सूची का स्पष्ट उल्लेख है 'सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया (अर्थात् जिस प्रकार कभी न टूटने वाली सूई से वस्त्र सिये जाते हैं)।

किन्तु जान पड़ता है कि सिलाई का काम जानते हुए भी आर्यों ने अपनी सभ्यता में कभी सिले हुए वस्त्रों को मुख्य स्थान नहीं दिया। बुद्ध भगवान के समय तक इस देश के लोग प्रायः सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते थे क्योंकि बौद्ध मूर्तियों में सिले हुए वस्त्रों के दर्शन नहीं होते। यह भी सम्भव है कि साधारणतः सिले हुए कपड़े भी पहने जाते हों परन्तु पवित्र कार्यों में बिना सिले हुए वस्त्रों का ही उपयोग होता है। इसी प्रकार देवताओं के लिये बिना सिले कपड़े ही पहनाना उचित समझा जाता था।

स्त्री पुरुष आभूषणों के भी काफी शौकीन थे। वे सोने के हार, कुण्डल, (कर्णशोभन) केयूर, कङ्कण, नूपुर आदि आभूषण पहनते थे। निष्क भी शायद एक हार होता होता था जिसका वर्णन ऋग्वेद (१।१२६।७३) में आया है।

धातुओं का ज्ञान—

जो लोग धातुओं के प्रयोग से ही सभ्यता का माप करते हैं उनकी दृष्टि से भी आर्यों की सभ्यता काफी आगे बढ़ी हुई थी। ऋग्वेद में 'सुवर्ण' का नाम अनेक स्थानों पर आया है जिससे आर्य लोग सुवर्ण से भलीभाँति परिचित जान पड़ते हैं। सिन्धु नदी के लिये 'हिरण्मयी' तथा हिरण्यपात्र विशेषण भी दिये गए हैं जिससे अनुमान होता है कि सिन्धु नदी की रेतीम ही उनको सुवर्ण मिलता होगा। सुवर्ण से ही कुण्डल, कटक, निष्क आदि आभूषण बनाये जाते थे। अनुमानतः धातुओं में सबसे पहले उन्हें सुवर्ण का ही—

[1] ऋग्वेदालोचन—नरदेव शास्त्री पृष्ठ १७६

उसकी चमक से आकर्षित होने के कारण—पता लगा हो, उसके बाद ताँबे का पता लगा हो और ताँबे से वे अपने हथियार बनाने लग हों। ताम्र युग का समय साधारणत ४००० ई० पू० समझा जाता है। सम्भवत भारतमें यह इससे पूर्व आरम्भ हो गया होगा क्योंकि ऋग्वेद काल में लोग उससे परिचित थे। ऋग्वेद के 'अयस'[1] शब्द का अर्थ कुछ विद्वान 'लोहा' करते हैं और यदि यह अर्थ ठीक है तो उस समय के लोग लोहे से भी परिचित थे। किन्तु कुछ विद्वान यह मानते हैं कि लोहे का पता बहुत बाद में लगा होगा उस शब्द का अर्थ ताँबा या पीतल करते हैं। सिंधु घाटी में ताँबे तथा काँसे के एवं मिश्र धातु के भी बहुत से औजार मिले हैं जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक धातुओं का प्रयोग बहुत आगे बढ़ चुका था।

ऋग्वेद में तक्ष, लुहार, आदि शिल्पियों का भी वर्णन मिलता है इनमें एक वर्ग रथकारों का भी था। ये शिल्पी लोग भी किन्हीं धातुओं का प्रयोग अवश्य करते होंगे तथा धातुओं से वस्तुएँ बनाना जानते होंगे।

ऋ० ६-७५ संग्राम सूक्त युद्धोपकरणों—कवच, धनुस, तरकस, बाण आदि के नाम आते हैं जो किसी न किसी धातु के ही बनते होंगे। १० ५३ ४ में 'परशुरायस' शब्द है जिसका अर्थ सु+आयस परशु अर्थात् उत्तम लोहकारके बने परशु से होता है।

सातवें मण्डल के सूक्त ६३ मन्त्र ५ में हथौड़े से लोहे के समान शत्रु बल को ताड़ने का वर्णन है। इससे भी अनुमान होता है कि मन्त्रकार लोग लोहे से परिचित थे तथा लोहे के कई औजार बनते थे।× इसी प्रकार ७-१०१-८ में भी 'आयस' (त्रमायस प्रति धर्तयो) शब्द लोहे के अर्थ में प्रयोग किया गया जाना पड़ता है १०-७२-२ में लोहकार (कर्मार) शिल्पी के दृष्टान्त से गुरु के कर्तव्य का वर्णन किया गया है।

पशु पालन—गौ और अश्व—

पालतू पशुओं में ऋग्वेद में गौ का नाम अनेक स्थानों पर मिलता है। गौ धन उनका मुख्य धन था। सम्भवत वस्तुओं के लेन देन में गौ को ही माप माना जाता था। गौ के दूध से ही वे घृत तैयार करते थे जो भोजन में तथा यज्ञाग्नि में काम आता था।

गौ के पश्चात् ऋग्वेद में अश्व अर्थात् घोड़े की प्रधानता दिखाई देती है। ऋषियों

---

[1] 'त्वमायस प्रतिवर्तयो गोरिदो ११२१८
आयस लोहे के बने शस्त्रों को, गोर्दिव =भूमि और आकाश के बीच।
प्रतिवर्तय=फेंक (एजमेर भाष्य)

× 'घनेव वज्रिन् श्नथिह्यमित्रान्—७-६३—५ अर्थात् हे वज्रिन्! धीवरता वन शाल्मि (घना इव) जिस प्रकार हथौड़ों से दृढ़ लोहे को भी कूट डाला जाता है उसी प्रकार (घना) शत्रुओं का हनन करने वाले नाना राजनीतिक साधनों से शत्रुओं का (श्नथिहि) नाश कर।

ने गौ धन के सदृश अश्व धन के लिए भी देवताओं से प्रार्थनाकी है। स्पष्टत वे अश्व को भी काफी महत्व देते थे। घोड़े को वे रथों में भी लगाते थे। रथों का सबसे बड़ा उपयोग युद्धों में तो होता ही था, इसके अतिरिक्त प्रायः मनोरंजन के लिये भी रथ दौड़ आदि होती थी। रथचारी वैदिक आर्यों के आदर के पात्र थे। ऋग्वेद ४-४० ४ में घोड़े पर बैठने दौड़ने आदि का वर्णन आया है। ७ ७१ ४ में रथ का वर्णन है।

तिथि पत्र द्वादश मास—

लोकमान्य तिलक के अनुसार आर्य लोग दैनिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक यज्ञ करते थे और इन यज्ञों से ही कालमापन होता था। ब्राह्मणों में तीस दिन के चन्द्रमाका वर्णन किया गया है तथा ऐसे १२ मासोंके वर्षका जिसमें चन्द्र वर्षको सूर्य वर्ष से मिलाने के लिये बीच-बीचमें एक अधिक मास जोड़ दिया जाता था, भी वर्णन है।१

आकाशके कटिबन्ध को २७ या २८ भागों में बांटा गया था जिन्हें नक्षत्र कहते थे। इनसे सूर्य की तथा विशेषत चन्द्रमा की गतियों का मान होता था तथा चन्द्रमाके पृथ्वी के चारों ओर घूमने का भी ज्ञान होता था।

लोकमान्य तिलक का यह भी कथन है कि उन्होंने तैत्तरीय संहिता का—जिसमें ३० दिवस के चन्द्रमा का वर्णन मिलता है—काल २५०० ई० पू० माना है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे पूर्व आर्यों को काल-मान का ज्ञान नहीं था। वास्तव में ३६० दिन का वर्ष का समय समय पर जोड़े जाने वाले अधिक मास अथवा प्रतिवर्ष के अन्त में जोड़े जाने वाले (चान्द्र वर्ष को सौर वर्ष से मिलाने के लिये) १०-१२ दिनों का ज्ञान ऋग्वेद के मन्त्र निर्माताओं को था तथा ऋग्वेद के कई मन्त्रों (१-२५ ८, ६ १-१६४-११।१२ आदि) में उसका उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद १-१६४-११ में कहा गया है कि यह चक्र (वर्ष का) बराबर घूम रहा है यह कभी नहीं नहीं बिगड़ता, उसमें १२ आरे लगे हुए हैं अर्थात १२ मास हैं और (रात दिन को पृथक पृथक माना जाय तो) इस सम्वत्सर के ७२० पुत्र इसीके आश्रय में रहते हैं।२

1 *Arctic Home in the Vedas — B G Tilak Chapter IV*

२ मन्त्र (ऋ १ १६४ ११) इस प्रकार है—

> द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य
> आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थु

जिस प्रकार मन्त्र गतिशील कालचक्र (द्वादशार) बारह मास रूप आरों वाला (चक्र) सत्तत्य तत्र (द्याम परि) सूर्य के आश्रय पर वर्वर्ति) सदा घूमा करता है। यह कभी नाश होने के लिये नहीं होता प्रत्युत बराबर चलता रहता है और उस से (सप्तशतानि विंशतिश्च) सात सौ बीस (मिथुनास पुत्र) जोड़े के दिन रात रूप के पुत्र के समान विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार

इस अर्थ की पुष्टि ऋग्वेद १-१६४-४८ में की गई है जिसमें कहा गया है कि चक्र है सम्वत्सर (वर्ष) उसके बाहर आरे हैं बारह मास तीन नाभियाँ हैं—ग्रीष्म वर्षा और हेमंत तथा उस चक्र में चलायमान ३६० कीलें लगी हुई हैं अर्थात् दिन-रात को एक इकाई मानकर ३६० दिन माने गये हैं 'तस्मिन् त्साक त्रिशत न शकवो' अर्थात् उसमें दिन रात्रि रूप ३६० शंकु के समान कल है निरन्तर घुमाते ही दिन रात होते हैं।

ऋग्वेद १-१०५-१८ में चन्द्रमा को मासों का बनाने वाला कहा जाता है अर्थात चन्द्रमास का उल्लेख किया गया है। ऋ १-२५ ८ से ज्ञात होता है कि वे लोग सूर्य ग्रहण की गति भी जानते थे।

इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के काल में जो तिथि-क्रम प्रचलित था वह वैदिक काल से ही चला आता था। इतना ही नहीं वेद के मन्त्रकारों को यह भी ज्ञात था जैसा कि आधुनिक विज्ञानने सिद्ध किया है कि चन्द्रमा म प्रकाश स्वत का नहीं है, वह सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है। ऋग्वेद १ ८४ १५ में कहा गया है कि सूर्य रश्मियों ने अपने में से ही एक सुषुम्ना नामक रश्मि को चन्द्रमा के गृह में जाने की अनुमति दी है। इसका अर्थ यही है कि सूर्यकी एक रश्मि (उसका नाम भी मन्त्रकर्ताओंने दे दिया) चन्द्रमा में आती है और उसे प्रकाशित करती है। यह अर्थ निरुक्त (२ ६) के अनुसार है।२

इतनी ही आश्चर्यजनक बात यह है कि ऋग्वेद (३ ७ २) में किरणों वाले सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमा का वर्णन किया गया है। आकाश देश में रक्षा करने और सुख शान्ति देने वाले सूर्य के चारों ओर एक पृथ्वी (चरन्तिवर्त नि गौ) बार बार लौटकर आने वाला मार्ग चलती है। इसी प्रकार १०-६५ ६ में पृथ्वी के आकाश परि-भ्रमण से ऋतुओं की उत्पत्ति बताई गई है। 'या गौवतनि पर्येति निष्कृत' का अर्थ का भूमि ठीक प्रकार से बने मार्ग को तय करती है अर्थात् आकाश का परिभ्रमण करती है।

ऐसी दशा में ब्राह्मणों के काल में (३००० ई० पू० के लगभग) भारत में ज्योतिष ज्ञान का काफी विकास हो जाना स्वाभाविक है। शत पथ ब्राह्मण में एक श्लोक (५ १५ ३) कहा गया है—

कृत्तिका एतावद्दे प्राच्य दिशा न च्यवन्ते दिशञ्चयन्ते'

---

2 *Rigueda —Man math Nath DuttaP 152*

इन्द्र मित्र वरुण मग्नि माहुरथो—दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्
एक सद विप्रा बहुधा वदति अग्नि यम मातरिश्वान माहु

इसका अर्थ यह है कि विप्र अर्थात् विद्वान लोग एक ही मूल तत्त्व को (परमेश्वर को) विविध नामों से—अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं। वही परमेश्वर ऐश्वर्यमान होने से इन्द्र है तथा सबका स्नेही और मृत्यु से त्राणकारी होने से मित्र है। सब उसी को नाना नामों से और अलंकारों से स्तुति करते हैं अर्थात् सारे देवता एक ही हैं केवल ऋषि लोग ही उन्हें अनेकधा बखानते हैं।

जलयान और जलयात्रा—

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वैदिक आर्यों को समुद्र का ज्ञान न था, क्योंकि वे मध्य एशिया से पहाड़ी रास्तों से भारतमें आये थ तथा यहाँ आकर पजाबमें बस गये जो समुद्र से बहुत दूर था। किन्तु यह धारणा भी भ्रान्त है। ऋग्वेद से ही पता चलता है कि आर्यों को न केवल समुद्र का ज्ञान था बल्कि वे नौकाओं तथा जलयानों से भी परिचित थे तथा समुद्री व्यापार भी करते थे। ऋग्वेद १-३४-१५ म सागर के दृष्टान्त से अग्नि राजा का वर्णन किया गया है जिसम आता है कि वों (महान सागर के) समभितास (भारी गर्जना करने वाले) ऊमद (तरंगे) जिस प्रकार उमड़ती हैं इत्यादि। इसी प्रकार ऋ० १ ४६-११ में कहा गया है अभूदुपारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया जिसका अर्थ है समुद्र के अपार जल से भी अच्छी प्रकार पार जाने के लिये मार्ग अवश्य है। ऋ० १-६५ ३ में भी समुद्र का वर्णन है। १ ७१ ७ में कहा गया है कि ...ों में स्पण करने वाली बड़ी बड़ी नदियाँ जिम प्रकार समुद्र को प्राप्त होती ... इत्यादि।

इस प्रकार कई स्थानों पर समुद्र का उसकी विशाल तरंगों का उसमें मिलने वाली नदियों का वर्णन मिलता है। इससे यही ज्ञात होता है कि ऋग्वेदिक काल के लोग समुद्र से भलीभाँति परिचित थे। आगे एक स्थान पर (ऋ० १-११६-३।५) भुज्यु की भी कथा आती है। ७ ६८-७ में अश्विनों का भुज्यु को समुद्रसे पार करने का रहस्य बताया गया है। ७ ११६ १३ में भी यही बात कही गई है। वह अपने साथियों सहित समुद्रमें कई दिन तक भटकता फिरा था तथा अश्विनी ने उसे बचाया। अश्विनी की नौका को शतपद कहा गया है। अनुमानत यह सौ डाँडों से खेई जाने वाली कोई जहाज के समान ही नौका रही होगी। ऋग्वेद १० ६३-१० में भी 'नाव' का नाम आया है। एक अन्य मंत्र में कहा गया है—'हे ब्रह्मा मेरे शत्रुओं को नावों म रखकर समुद्र के उस ओर ले जा तथा मुझे मेरे कल्याणमय नाव (जहाज) क द्वारा सागर के उस पार ले चल कुछ ऐसे सौदागरों की भी चर्चा है जो लोभ वश अपने जहाज विदेशियों को बेच देते थे।

इससे अनुमान होता है कि वे लोग नावों और जलयानों से परिचित ही न थे बल्कि जलयानों का निर्माण भी करते थे तथा उन्हें दूसरे देशों के लोगों को बेचते भी थे।

ऋग्वेद १-१६७ २ की दूसरी पंक्ति है—'अधयदेषा नियुत परमा समुद्रस्य चिदन यन्त पारे' अर्थात अध (और वे यत् (जिस) एषा (इनके) परमा (उत्कृष्ट कोटि के साधन, उत्तम सेनायें, लाखों मनुष्य) समुद्रस्य चित पारे (समुद्र के परले पार भी) धनपन्त धन ऐश्वर्य की कामना से व्यापार करते हैं और ऐश्वर्य अर्जन करते हैं वे भी हमें प्राप्त हों।[१] इस मन्त्र से समुद्र पार व्यापार का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।

ऋ० ५ ५३ के मन्त्र ७, ८, ९ में भी व्यापारियों को समुद्र पारकर दूर-दूर देशों में जाने आने तथा व्यापारादि करने का उपदेश है।

डा० वान बूलर ने ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर ही यह मत स्थिर किया है कि उस समय भी आर्य लोग व्यापार तथा अन्य कार्यों के लिये अनेक दूर देशों में जाते थे और अन्य राष्ट्रों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ते थे। उनका कथन है कि हिन्दुस्तान और अरब के बीच मनुष्य जाति के बाल्यकाल से ही व्यापारिक सम्बन्ध चलता था *

मोहेंजोदड़ो की खुदाई में जो ३००० ई० पू० की समझी जाती है कई ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर नावों के चित्र बने हुए हैं। स्पष्टत उस समय तक भारत के लोग नावों से भलीभाँति परिचित हो चुके होंगे।

सिक्का—

प्राचीन संसार के सभी देशों में व्यापार प्राय वस्तुओं के आदान-प्रदान के द्वारा होता था। कई देशों में तथा सम्भवत भारत में भी गाय को वस्तुओं के मोल का माना जाता था तथा उसी की संख्या में वस्तुओं का दाम भी निश्चित किया जाता था, किन्तु यह बहुत प्रारम्भिक अवस्था रही होगी। शीघ्र ही धातु का पता लगने पर गायकी जगह विनिमय के माध्यम के रूप में धातु का प्रयोग होने लगा।

फिर भी ऋग्वेद (८ ४५) से ज्ञात होता है कि 'शुल्क' नाम का एक सिक्का उस समय प्रचलित था। सम्भवत यह ताँबे का या काँसे का छोटा सिक्का होता था जैसा कि लोक० तिलक का मत है।

'निष्क' भी एक प्राचीन सिक्का ज्ञात होता है। ऋग्वेदमें यद्यपि २ ३३ १० म निष्क का अर्थ सुवर्णादि के बने आभूषण से किया गया है जिसे रूद्र धारण किये हुए बताये गये हैं किन्तु अन्य स्थानों पर उक्त शब्द से सिक्के का भी बोध होता है। डा० डी० आर० भण्डारकर ने यही मत प्रकट किया है। ऋग्वेद १-१२६-२ में 'शत राज्ञो नाध-

१ आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद भाष्य का अंश।

* जगद्गुरु भारतवर्ष —पुस्त सम्पति राय भण्डारी पृष्ठ १५५

मानस्य निष्कमच्छतमश्वा भृय साम' शब्द है जिनसे ज्ञात होता है कि ऋषि कक्षिवान् ने एक राजा से एक सहस्र 'निष्क' दान रूप में प्राप्त किये। अजमेर वाले ऋग्वेद भाष्य में निष्क का अर्थ मुहरें ही किया गया है। सैकड़ों मुहरों को और सैकड़ों सधे हुए अश्वों (घोड़ों) को प्राप्त करें।

यह अनुमान किया जाता है कि जिस प्रकार आजकल अशर्फियों और मोहरों का हार बनाकर भी गहने के रूपमें पहना जाता है उसी प्रकार पूर्व काल में निष्कों का हार भी पहना जाता होगा यद्यपि वह था एक सिक्का ही। 'इसी कारण 'निष्क' का प्रयोग कण्ठहार तथा सिक्का दोनों ही अर्थों में किया गया है।

डा० अविनाशचन्द्र दास का मत है कि प्राचीन भारत में 'मना' नाम का भी एक सिक्का था जो सुवर्ण का होता था। इसका वर्णन ऋग्वेद ८ ७८-२ में है। भारत के इस सिक्के को पणि लोग बेबीलोनिया तथा असीरिया देशों में ले गये थे जहाँ उसका प्रयोग होने का पता मिलता है।

लिपि—

लिपि के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारत में ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व ही लिपि का प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि इससे पूर्व लिपि विद्यमान होने के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। अन्य लोग उसका प्रारम्भ १६०० ई० पू० के लगभग मानते हैं। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का मत है कि वेदों को संहिता रूप में लिख डालने की बात तभी सूझी होगी जब लेखन कला का आविष्कार हो चुका होगा तथा भारत में लेखन कला का प्रचलन ईसा से १८०० वर्ष पूर्व हुआ और संहितायें भी तभी से बनने लगी।[1] किन्तु वेदों का संहिताओं के रूप में संकलन तथा लेखन कब शुरू हुआ यह कहना कठिन है। यदि माना जाय कि श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास ने १६०० ई० पू० अथवा १८०० ई० पू० के लगभग वेदों का संग्रह किया तब भी यह जान पड़ता है कि वेदों के कुछ संग्रह द्वैपायन व्यास से पूर्व भी हो चुके होंगे। काउन्ट जनरल जरना का विचार है कि भारत के लोगों के पास ईस्वी सन् से २८०० वर्ष पहिले तथा अथेला ८०० वर्ष पहले के लिखे हुए ग्रन्थ विद्यमान थे।[०] इसका अर्थ यही है कि लिपि का आविष्कार भारत में इससे पूर्व ही अर्थात् ई० पू० से भी पूर्व हो चुका होगा। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ३००० ई० पू० से भी अथवा इससे पूर्व भी भारत में लिपि का प्रचलन था। श्री सुख सम्पत्ति राय भण्डारी ने अपनी पुस्तक में एक अन्य विद्वान द्वारा लीडेन नगर में हुई पौर्वात्यों की एक कांग्रेस में पढ़े गये एक

---

१ संस्कृति के चार अध्याय— श्री रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ ३०

० जगद्गुरु भारतवर्ष—सुख सम्पत्ति राय भण्डारी

पाश्चात्य विद्वान के लेख का उल्लेख किया है जिसमें उसने अधिकारपूर्वक तथा बल देकर कहा था—मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वैदिक संहिताओं में तथा ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे वाक्य हैं जो निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारत में लिखित अक्षरों का प्रचलन था।

इस प्रकार ऋग्वेद के समय की तथा उससे पूर्व की जिस सभ्यता के दर्शन ऋग्वेद तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के द्वारा होते हैं वह काफी उन्नत तथा विकसित थी, क्योंकि उन दिनों भारत के निवासियों को आर्यों को, धातुओं का ज्ञान हो चुका था तथा उनका विभिन्न प्रकार से वे उपयोग करने लगे थे, खगोल तथा ज्योतिष विद्याओं का भी बहुत कुछ ज्ञान उन्हें था। समुद्र में नावें चलाने का भी ज्ञान था तथा दूर-दूर के देशों से उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। यही सभ्यता आगे ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में और अधिक विकसित हुई। उपनिषद् इस बात के द्योतक हैं कि उस समय तक आर्य ऋषि गम्भीर विषयों पर ईश्वर तथा सृष्टि के निर्माण तथा आत्मा, जीवात्मा और परमात्मा आदि के सम्बन्ध में गम्भीर चिंतन करने लगे थे। आगे चलकर इसी चिन्तन के फलस्वरूप अनेक दर्शन शास्त्रों का विकास हुआ जिन्होंने यूनान आदि विदेशी दर्शनों को भी प्रभावित किया। इसी प्रकार पश्चात्वर्ती काल में रामायण तथा महाभारत जैसे काव्यों की रचना हुई जो पवित्रता की दिशा में आर्य सभ्यता की प्रगति के प्रमाण हैं। इनसे उस समय की सभ्यता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि यूरोपीय तथा भारतीय इतिहासकार इन ग्रन्थों को बहुत बाद का—ईसवी सन् के प्रारम्भ से कुछ ही शताब्दियों पूर्व का—मानते हैं तथा रामायण और महाभारत के कथानक को भी अनेक इतिहासकार काल्पनिक बताते हैं, किन्तु यह अनुमान सुनियुक्त नहीं है। वास्तव में इन दोनों ग्रन्थों का मूल रूप बहुत प्राचीन काल में निर्माण हो चुका था जिसका अनुमान करना कठिन है। बाद में धीरे धीरे इनमें वृद्धि होती रही तथा ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व तक उन्होंने बृहद् रूप धारण कर लिया जिस रूप में वे आज मिलते हैं।

इस वैदिक सभ्यता का विस्तार भारत में सहस्रों वर्षों तक रहा, किन्तु उसके क्रमबद्ध इतिहास के साधन नहीं हैं। वैदिक सभ्यता के पश्चात् जिस भारतीय सभ्यता के प्रामाणिक तथा साधार रूप में दर्शन होते हैं वह है सिन्धु घाटी की सभ्यता—अर्थात मोहेंजो दड़ो, अहुन्दड़ो हड़प्पा आदि के उत्खनन में उद्घाटित वस्तुओं द्वारा जिस सभ्यता के दर्शन होते हैं वह सभ्यता। अत आगे हम इसी सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सिन्धु सभ्यता क्या है ?

सिन्धु सभ्यता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा विवादग्रस्त भी है। इस सभ्यता के निर्माता कौन थे, कहाँ से आये थे, उनकी भाषा तथा लिपि क्या थी, धर्म क्या

था, इन बातों का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। फिर भी इस सभ्यता का उद्‌घाटन होना भारतीय इतिहास के लिये एक क्रान्तिकारी घटना है। यूरोपीय विद्वान चाहे उसे ईसा से २॥ ३ हजार वर्ष पूर्व की ही मानें, वास्तव में वह इससे पुरानी जान पड़ती है। फिर भी उसके उद्‌घाटन ने उन विद्वानों का मुँह बन्द कर दिया है जिनकी यह मान्यता थी कि भारत की कोई प्राचीन सभ्यता नहीं, भारतीय सभ्यता बहुत पीछे के काल की, सुमेर, बेबीलोन, मिस्र आदि की सभ्यताओं से हजारों वर्ष बाद की है। उनकी इस मूलबद्ध धारणा को मोहंजोदड़ो, हड़प्पा आदि दो चार स्थानों की खुदाइयों के कारण ही भारतीय सभ्यता जो ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व की ही समभी जाती थी, हजारों वर्ष पूर्व तक पहुँच गई। इन उत्खननों ने उन्हें यह मानने के लिये बाध्य किया कि अब से ५, ५॥ हजार वर्ष पूर्व भी, भारत में कोई सभ्यता विद्यमान थी तथा वह उच्च सभ्यता थी, चाहे वह भारत की किसी भी जाति की रही हो।

यूरोपीय विद्वान सिन्धु सभ्यता को प्रागैतिहासिक मानते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इतिहास के लिये जिन ठोस आधारों का होना आवश्यक समभा जाता है वे प्राचीन भारत में प्राप्त नहीं होते। दूसरे यूरोपीय विद्वानों की दृढ धारणा है कि भारतीय सभ्यता तथा भारतीय इतिहास भी १॥, २ हजार ई०पू० से अधिक प्राचीन नहीं हैं, किन्तु सिन्धु सभ्यता में सुमेर सभ्यता से काफी साम्य मिलता है जिसका विस्तृत विवरण सुमेर सभ्यता वाले अध्याय में दिया जा चुका है। इसी साम्य के कारण यूरोपीय अन्वेषकों को यह तो स्वीकार करना पड़ा कि यह सभ्यता सुमेरी सभ्यता की समकालीन अथवा उसके बाद की होनी चाहिये, किन्तु सिन्धु सभ्यता सुमेरी सभ्यता से प्राचीन हो सकती है यह बात उन्हें नहीं जँचती। वे सिन्धु सभ्यता को सुमेरी सभ्यता से प्रभावित मानते हैं। सुमेरी सभ्यता लगभग ४००० ई० पू० की सिद्ध होती है अतः उन्होंने सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ ३००० ई० पू० के लगभग माना है। उनकी यह भी कल्पना है कि सुमेर तथा सिन्धु घाटी दोनों की सभ्यतायें द्रविड़ सभ्यतायें हैं क्योंकि द्रविड़ लोग जो मूलतः भूमध्यसागर, के निवासी थे वहाँ से चलकर सुमेर में आये और वहाँ उन्होंने अपनी सभ्यता स्थापित की। इसके पश्चात् वे वहाँ से चलकर भारत में सिन्धु प्रान्त में आये तथा यहाँ भी अपनी सभ्यता का प्रसार किया। द्रविड़ों का सिन्धु घाटी में आगमन लगभग ३, ३॥ हजार वर्ष ई०पू० में हुआ होगा अतः तभी से इस सभ्यता का प्रारम्भ होता है। इस सभ्यता का दूसरा छोर आर्यों के भारत आगमन से मिलाने के लिये उन्होंने यह कल्पना की है कि लगभग १५०० ई० पू० में यह सभ्यता नष्ट हो चुकी थी। उनका मत है कि आर्य लोग जब १५०० ई० पू० के लगभग बाहर से पंजाब में आये तो उन्होंने आगे सिन्धु में बढ़कर सिन्धु की द्रविड़ सभ्यता को शीघ्र ही नष्ट कर दिया।

किन्तु यह कल्पना बुद्धिगम्य नहीं है। यदि यह भी माना जाय कि आर्य लोग भारत में बाहर से आये और १५०० ई० पू० के आसपास आये तब भी उन्होंने पंजाबमें आकर और वहां अपना घर बसाये बिना सिंधु में पहुँचकर एक सहस्रों वर्ष पुरानी, सुदृढ तथा उच्चकोटि की सभ्यता को नष्ट भ्रष्ट कर दिया यह कुछ समझ में आनेवाली बात नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो सिंधु सभ्यता एक अत्यन्त उन्नत, समृद्ध तथा सम्पन्न नगरी सभ्यता है जो मिस्र और मेसोपोटामिया आदि की समकालीन सभ्यताओं से भी कई बातों में बढ़ी चढ़ी मानी जाती है। उसकी उल्लेखनीय बातों में विशाल स्नानागार, सभा भवन, राजमहल, बड़े बड़े कमरे, लकड़ी के खम्भों पर छावनी लगाये जाने के चिह्न, अनेक प्रकार की मुहरें, एक नर्तकी की कांसे की सुन्दर मूर्ति, दुमंजिले और तिमंजिले मकान और उन तक पहुँचने के लिये जीने आदि वस्तुएँ हैं जो सुमेर के स्थानों से प्राप्त इन वस्तुओं से भी अच्छी हैं।

किन्तु यह प्रश्न कि इस सभ्यता के निर्माता कौन थे अभी तक हल नहीं हो सका है तथा इसका कारण पश्चिमी इतिहासकारों की कुछ भ्रान्त धारणायें ही जान पड़ती हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि यह सभ्यता भारतीय नहीं हो सकती और यदि वह भारतीय हो भी तब भी कम से कम आर्यों की तो नहीं हो सकती क्योंकि आर्य लोग एक तो भारत में बहुत बाद में आये—१॥, २ हजार ई० पू० के लगभग—दूसरे वे ग्रामों में रहते थे और खेती तथा पशु-पालन करते थे। अतः यह या तो द्रविड़ सभ्यता है या बाहर कहीं से आये हुए लोगों की है। अनेक भारतीय विद्वान भी इसी मत के अनुयायी हैं।

सिन्धु सभ्यता की कई बातें—

दुमंजिले तथा पक्की ईटों के बने हुए मकान, उन तक पहुँचने के लिये जीने, पानी के बहाव के लिये मोरियां, चित्रांकित मुहरें आदि सुमेरी सभ्यता से मिलती-जुलती देख कर कुछ विद्वानों—डा० वेडेल सिडनी स्मिथ आदि ने यह भी अनुमान किया है कि सुमेरी लोग ही प्राचीन आर्य थे और सुमेरी सभ्यता ही प्राचीन आर्य सभ्यता है तथा उन्हीं लोगों ने बाद में सिंधु में आकर इस सभ्यता की स्थापना की। इस प्रकार वे सिंधु सभ्यता को आर्य सभ्यता तो मानते हैं किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि आर्य लोग मूलतः सुमेर के निवासी थे और वहीं से वे भारत में आये। उनका मत है कि सुमेर वालों की एक शाखा ने सिंधु प्रान्त को जीतकर मोहनजोदड़ो बसाया और बाद में उनकी धारायें सप्त सिंधव में तथा उसके पीछे भारत के कोने-कोने में पहुँचीं। उन्हीं की अर्थात् सुमेरी आर्यों की ही दूसरी लहर पश्चिम की ओर गयी और उसने यूरोपीय देशों को बसाया। इस प्रकार ये विद्वान आर्यों का मूल स्थान मध्यएशिया न मानकर सुमेर मानते हैं और वहीं से उनका पूरब तथा पश्चिम में जाना बताते हैं।

श्री दिनकर ने अनुमान किया है * कि जब आर्य बाहर से — मध्य एशिया से — इस देश में आये तब ईरान से उनका सम्पर्क बना रहा। ईरानियों और वैदिक आर्यों के बीच सीमा विभाजन जैसी कोई बात नहीं थी। आर्यों के उपनिवेश मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। उधर ईरान की तरफ के मितन्नी और हित्ताइट वाले वैदिक देवताओं की प्रार्थनाएँ करते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस सभ्यता के निर्माता भूमध्यसागर के निकटवर्ती स्थानों—क्रीट तथा एजियन तटवर्ती द्वीपों से आये होंगे। अन्य लोगों का मत है —जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि द्रविड़ लोग ही आरम्भ में भूमध्यसागर तट के निवासी थे और वहां से वे लोग इराक, ईरान, बलूचिस्तान होते हुए सिन्धु में आये और वहां उन्होंने अपनी सभ्यता फैलाई। इस मत के समर्थन में ये लोग बलूचिस्तान के एक भाग में बोली जाने वाली ब्राहुई भाषा की ओर संकेत करते हैं जो द्रविड़ भाषा से मिलती-जुलती है। कुछ लोग इस मत के भी हैं कि सिन्धु सभ्यता है तो द्रविड़ सभ्यता ही किन्तु द्रविड़ लोग बाहर से नहीं आये बल्कि वे दक्षिणी भारत से ही चलकर समस्त उत्तरी भारत में फैल गये थे। वे ही लोग सिन्धु और बलूचिस्तान तक भी पहुँचे और सिन्धु में उन्होंने अपनी सभ्यता का प्रसार किया।

भारत में पुरातत्व के मुख्य अधिकारी सर जान मार्शल का—जिनका उक्त सिन्धु-घाटी के उत्खनन से घनिष्ट सम्बन्ध था—कथन है कि सम्भव है इस सभ्यता का विकास सिन्धु घाटी से ही हुआ हो। दूसरी ओर हड़प्पा की खुदाई से सम्बन्ध रखने वाले डा० मार्टीमर व्हीलर (१९४५ में संगठित पुरातत्व बोर्ड के डायरेक्टर जनरल) का अनुमान है कि हड़प्पा सभ्यता के निर्माता ई० पू० २५०० के लगभग कहीं बाहर से आये और हड़प्पा में आबाद हुए तथा उन्होंने हड़प्पा तथा उसके आसपास एक दुर्ग प्राकार की नींव भी डाली थी।

इस प्रकार सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध में अन्वेषकों तथा इतिहासकारों द्वारा अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं तथा आर्यों के आदि निवास, ऋग्वेद के निर्माण-काल आदि के समान यह प्रश्न भी अभी तक उलझन में पड़ा हुआ है। यही कारण है कि उक्त कल्पनाओं में से अधिकांश अत्यन्त दुर्बल आधारों पर गढ़ी गई हैं तथा केवल अनुमान मात्र हैं।

सिन्धु सभ्यता भारतीय तथा आर्य सभ्यता है —

श्री सिडनी स्मिथ तथा श्री वेडल आदि का यह अनुमान कि सुमेरी लोग आर्य थे तथा उनकी सभ्यता आर्य सभ्यता है तथा उन्हीं की स्थापित की हुई सिन्धु सभ्यता भी

---

* संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ १७३

आर्य-सभ्यता है। श्री निकर का यह कथन कि आर्यों के उपनिवेश ही मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे सत्य के बहुत निकट तक पहुँचते हैं, किन्तु वे सम्भवतः सत्य को पूर्णरूप से ग्रहण नहीं कर पाते। यह मानने के अनेक कारण तथा प्रमाण हैं कि सिन्धु-सभ्यता बाहर की नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता है तथा वह भारतीय आर्यों की ही कुछ शाखाओं की स्थापित की हुई है—यह सभ्यता आर्यों की तथा उनके भाई-बन्धुओं की, जो असुर कहलाते थे, स्थापित की हुई है। यह सम्भव है कि उसमें द्रविड़ों का भी कुछ हाथ रहा हो किन्तु द्रविड़ भी भारतीय ही हैं।

इस सम्बन्ध में पहले तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि सिन्धु-सभ्यता 'प्रागैतिहासिक' अथवा वैदिक सभ्यता से प्राचीन नहीं जैसा कि यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने भी धारणा बना रखी है, बल्कि यह वैदिक सभ्यता से बहुत पीछे की है। यह आर्यों से अनेक आधारों पर सैद्धान्तिक मतभेद रखनेवाली उनकी अन्य टोलियों द्वारा स्वतन्त्र रूप से विकसित की गई सभ्यता है तथा इस प्रकार यह आर्य-सभ्यता का ही एक विकसित रूप है।

इस तथ्य को समझने के लिए पहले हमें यह देखना पड़ेगा कि आर्यों की मुख्य मुख्य कौन-सी टोलियाँ थीं। उनकी दो सबसे मुख्य टोलियाँ थीं—'देव' तथा 'असुर'। जैसा श्री सम्पूर्णानन्द का कथन है 'देव' शब्द 'दिव' धातु से निकला है जिसका अर्थ है चमकना, जो चमकता है, प्रकाशमान है वह देव है। 'असुर' वह है जो 'असु' वाला है जो बलवान है जिसमें प्राणशक्ति है।[1] यह शब्द भी देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है जैसा ऋ० १-१७४-१ में इन्द्र को असुर कहकर सम्बोधित किया।[2] परन्तु पीछे से व्यवहार में अन्तर पड़ा। ऋग्वैदिक काल में ही धीरे धीरे 'देव' शब्द इन्द्रादि के लिये तथा 'असुर' शब्द उनके प्रबल शत्रुओं—दैत्यों—के लिये व्यवहृत होने लगा था।[3]

किन्तु आर्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा में 'असुर' शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में जारी रहा। उसने देवाधिदेव को उसी पुरानी उपाधि 'असुर महत्' से पुकारने की परम्परा बनाये रखी। परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक तथा दूसरी देवोपासक हो गई। पहली शाखा के लिए असुर शब्द बुरा तथा देव शब्द अच्छा हो गया, दूसरी के लिये 'असुर' शब्द अच्छा और 'देव' बुरा होगया। क्रमशः एक मत के अनुयायी देवों के झण्डे के नीचे आ खड़े हुए तथा दूसरे पक्ष के माननेवाले 'असुर' सेना में भर्ती हो गये।

---

[1] ऋग्वेद ३-५५ के कई मन्त्रों में असुर शब्द आया है जिसका अर्थ महान है।

[2] 'त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्' (१-१७४-१)

[3] आर्यों का आदि देश—सम्पूर्णानन्द अध्याय ६

श्री सम्पूर्णानन्द आगे लिखते हैं—"प्रजापति की अदिति नामक पत्नी से आदित्यों, अर्थात् देवों की और दिति से दैत्यों की उत्पत्ति बताई जाती है। इससे यह तात्पर्य निकला कि देव और दैत्य, सुर और असुर सौतेले भाई थे। उनकी आपस में लड़ाई थी। परन्तु मनुष्य (देव) लोग यज्ञ होमादि द्वारा देवों की उपासना करते थे इसलिये असुर लोग मनुष्यों का तंग करते थे। ये कथायें भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि देवासुर संग्राम सदा प्रकृति के मंच पर हुआ और नित्य होता रहता है वहीं उसकी आवृत्ति पृथ्वी पर आर्यों की दो शाखाओं में प्रजापति की ही दो सन्ततियों में हुई। इनमें से एक तो यज्ञों से देवों की तुष्टि करना चाहती थी और दूसरी इसका विरोध करती थी।

ऋग्वेद के भीतर ऐसी पर्याप्त सामग्री है जिससे यह विदित होता है कि किसी समय या यों कहिये कि दीर्घकाल तक आपसमें घोर युद्ध हुआ है। यह युद्ध किन कारणोंसे हुआ यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उन कारणों में उपासना विधि को प्रधान स्थान मिल गया यह निर्विवाद है और कारण दब गये पर यह बात दब न सकी। इसमें कोई समझौता सम्भव न था। एक को अपने असुरोपासक होने पर गर्व था दूसरे को देव पूजक होने का अभिमान था। एक इन्द्र को देवराज मानता था और उनके नाम पर लड़ता था दूसरा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम के साथ किसी दूसरे का नाम लेना नहीं चाहता था। एक पुरानी पद्धतिसे टलना नहीं चाहता था, दूसरा इस धार्मिक विकास का समर्थक था। दोनों पक्षों म खूब युद्ध हुआ। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि देव याजकों की जीत हुई इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि भारत में असुर याजक नहीं रह गये।"

वास्तव में 'देव' तथा 'असुरों' में तीव्र मतभेद होने का फिर संघर्ष तथा संग्राम होने का मूल कारण यही आ पड़ता है। इसी संग्राम के कारण असुर लोग आर्यों के क्षेत्र को तथा अन्त में आर्यों के देश को—अपने देश को छोड़ने के लिये बाध्य हुए। सम्भवतः आर्यों में कुछ दल ऐसे भी थे जो आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता पर—धन सम्पत्ति इकट्ठी करने पर तथा सुखका जीवन व्यतीत करने पर अधिक जोर देते थे। ऐसे ही लोगों में वे लोग भी रहे होंगे जो 'पणि' कहलाते थे। इसी प्रकार कई जातियां आर्यों से विभिन्न कारणों से मतभेद रखने वाली पैदा हो गई।

वायु पुराण (अध्याय ६८) तथा मत्स्य पुराण (अध्याय ६७) में भी यह उल्लेख आता है कि महर्षि कश्यप की अदिति, दिति, दनु, विनता, कद्रू आदि १३ स्त्रियां थीं जिनसे उनके वंश का दीर्घ विस्तार हुआ। इनमें से दनु के पुत्र अपने धर्म के परम विघातक एवं महान असुर थे तथा ब्राह्मण धर्म के भी विरोधी थे। दिति के पुत्रों में ही हिरण्यकश्यप तथा हिरण्याक्ष हुए जो प्रसिद्ध असुर कहे गये हैं। हिरण्यकश्यपु के पुत्र प्रह्लाद थे जो असुरों को छोड़कर देवों से मिल गये थे—उनके भक्त बने रहे। तात्पर्य

यह कि असुर कोई विदेशी लोग नहीं थे, आर्यों की ही एक भिन्न शाखा के वंशज थे। इन असुरों को ही ऋग्वेद में 'दस्यु' तथा 'दास' आदि नामों से कहा गया है। ए० रागोजिन नामक इतिहासकार ने यही मत प्रगट किया है कि आर्य लोग अपने ही उन साथियों को जो यज्ञ यागादि में श्रद्धा न रखते थे, वैदिक धर्म से च्युत मान लेते थे तथा इन्हें दस्यु, अनार्य, असुर आदि नामों से पुकारते थे।

इस सम्बन्ध में श्री अविनाशचन्द्र का मत है कि आर्यों में कुछ ऐसी जातियां भी थीं जो अन्य आर्यों के समान प्रगतिशील नहीं थीं तथा कुछ ऐसी भी जातियां थीं जो यद्यपि उनके समान ही आगे बढ़ी हुई थीं किन्तु जिनसे अन्य कारणों से आर्य लोग घृणा करते थे तथा असुर, दास तथा दस्यु आदि नामों से पुकारते थे। इनमें सभ्य तथा असभ्य सभी लोग सम्मिलित थे। ऐसे लोग धार्मिक कार्यों में, उपासना-विधि में तथा सामाजिक व्यवहारों में आर्यों से भिन्नता रखते थे। यही असभ्य जातियां आगे अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, फारस तथा लघु एशिया आदि देशों में फैलीं।[१]

तात्पर्य, आर्यों की बहुसंख्यक जातियों के साथ धार्मिक मामलों में, भौतिक दृष्टिकोण में तथा अन्य बातों में मतभेद होने के कारण तथा संघर्ष में हार कर अनेक टोलियाँ दूर-दूर के देशों में चली गईं। इन्हीं में से एक टोली ईरान गई और असुर महत् (अहुर मज्द) की उपासक कहलाई। इन्हीं में से एक टोली, जिनमें भौतिक दृष्टिकोण वादी असुर, पणि तथा अन्य लोग थे दक्षिण की ओर सिंधु में आ बसी और वहां उसने स्वतन्त्र रूप से अपनी सभ्यता का विकास किया। अपने भौतिक दृष्टिकोण के अनुसार ऊँचे ऊँचे और पक्के भवन बनवाये, स्नानागार बनवाये तथा ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताया। उन्होंने अपनी भौतिक सभ्यता को इतना ऊंचा उठाया कि वह नगरी सभ्यता मानी जाने लगी, क्योंकि आज वैसी सभ्यता के लक्षण नगरों में ही दिखाई देते हैं।

इस प्रकार दैत्य या असुर जिन्होंने सिन्धु सभ्यता का निर्माण तथा विकास किया, आर्यों के ही भाई बन्धु थे, किन्तु धार्मिक उपासना तथा अन्य कई बातों में उनका देव पूजक आर्यों से मतभेद हो जाने के कारण उन्हें अपने भाइयों से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से अपनी बस्तियां बसानी पड़ीं जहां उन्हें धार्मिक तथा सामाजिक पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

पणि लोगों के सम्बन्ध में मतभेद है कि वे आर्य थे अथवा अनार्य। इतना निश्चित जान पड़ता है कि ये लोग भी 'देव' नामक आर्यों से मतभेद रखते थे तथा अपने व्यापार की ओर अधिक ध्यान देते थे। ऋग्वेद में इनका कई स्थानों पर उल्लेख आया है। यह भी जान पड़ता है कि ये लोग व्यापार के अतिरिक्त पशुओं की चोरी, लूट मार आदि भी करते थे। अतः वैदिक आर्य इन्हें 'दस्यु' आदि निन्दा सूचक नामों से पुकारते थे

[१] Rigvedic India—Abinas Chandra Das p 47

और इनके विनाश की कल्पना करते थे। किंतु ये म्लेच्छ नहीं कहलाते थे। इससे अनेक विद्वान इनका आर्य होने की ही अधिक सम्भावना बताते हैं। निरुक्तकार यास्क ने 'पणिर्वणिग्भवति' कहकर पणियों को वणिक अथवा वैश्य बतलाया है। अपने व्यापार का फैलाव उन्होंने दूर दूर के देशों तक कर लिया था। इन्हें त्वष्टा की सन्तान भी कहा गया है और त्वष्टा वास्तु शास्त्र का ज्ञाता प्रसिद्ध है। इसी से अनुमान होता है कि जिस समय देवगण खेती करते थे तथा ग्रामों में रहते थे, उसी समय इन लोगों ने आर्यों के मुख्य दल से अलग होकर बड़े बड़े नगर बसा लिये और उन्हें भव्य भवनों से युक्त करके रक्षा के लिये परकोटे तथा दुर्ग भी बनाये जिनका संकेत ऋग्वेद में 'पुर' शब्द से मिलता है।

सिन्धु-सभ्यता द्रविड है ?

सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध में कुछ मत और भी हैं। एक अमेरिकी पुरातत्व शास्त्री मोरिस सिवेक ने गहरी खोज के आधार पर यह मत प्रकट किया था कि इस सभ्यता के संस्थापक यहूदी लोग थे जो अपने देश खाल्दिया से निकाले जाने पर इधर आये थे।* यहूदियों में यह परम्परा प्रसिद्ध ही है कि उनके आदि पुरुष इब्राहीम (अब्राहम) अपने मूल देश से निकाले गये थे। इसी आधार पर श्री सिवेक ने अनुमान किया है कि यहूदियों की एक टोली तो अब्राहम के नेतृत्व में नील घाटी की ओर चली गई थी और दूसरी उनके भतीजे लात के नेतृत्व में ईरान होती हुई भारत में आई और सिन्धु में बस गई जहां उसने अपनी सभ्यता का विकास किया।

किन्तु अन्य विद्वानों ने यह अनुमान नितान्त मनगढ़न्त बताते हुए कहा है कि अब्राहम का समय १५ वीं १६ वीं शताब्दी ई० पूर्व सिद्ध हुआ है और उस समय तक तो सर जान मार्शल तथा डा० मार्टीमर ह्वीलर दोनों के ही अनुसार-सिन्धु सभ्यता का अन्त हो चुका था। इस प्रकार श्री सिवेक का सिद्धान्त इस बात का उदाहरण है कि है कि पाश्चात्य इतिहासकार कितने निर्बल आधारों को लेकर एक नया सिद्धान्त खड़ाकर देते हैं तथा ग्रन्थ लिख डालते हैं।

कुछ लोग जैसा कि पूर्व में कहा गया है सिन्धु सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता मानते हैं।१

---

* सिन्धु घाटी सभ्यता—श्री मारिस सिवेक।

१ इस महान् सभ्यता के बनाने वाले इस देश के द्रविड़ थे। उन्होंने ही इसका आरम्भ आज से कोई ५ हजार वर्ष पहले किया था। इसी से करीब ३॥ हजार वर्ष पहले आर्यों ने इस देश में आकर इस सभ्यता का अन्त कर दिया।

—(सांस्कृतिक भारत—भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ २४ २५।)

तथा 'यह निश्चित सा हो चला है कि यह सभ्यता आर्येतर द्रविड़ों की है जो भारत मे आर्यों के आने के पूर्व जीवित थी—प्राचीन भारत, भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ ३

इनकी मान्यता के आधार भी सबल नहीं हैं। द्रविड़ों का प्राधान्य तथा द्रविड़ सभ्यता का प्रभाव अधिकतर दक्षिण भारत में ही रहा। कुछ लोगों का अनुमान है कि द्रविड़ों का विस्तार उन दिनों समस्त मध्यभारत तथा उत्तरी भाग तक हो गया था तथा सिंधु तक भी उनका प्रभाव रहा होगा। यह सम्भव है कि सिंधु-सभ्यता पर आर्य सभ्यता के अतिरिक्त पश्चात्काल में द्रविड़ों की सभ्यता का भी कुछ प्रभाव पड़ा हो जैसा कि डा० सत्यनारायण का मत है।+ किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। हाल के अनेक अन्वेषणों तथा उत्खननों के आधार पर प्रकट हुआ है कि मोहनजोदड़ो और हरप्पा में जिस सभ्यता का उद्घाटन हुआ है वह केवल सिंधु प्रान्त तक ही सीमित न थी। वह दक्षिण में गुजरात और सौराष्ट्र तक तथा उत्तर में पंजाब और गंगा के मैदान तक भी फैली हुई थी। सौराष्ट्र के लोथल और रंगपुर में राजपूताना के बीकानेर राज्य में प्राचीन सरस्वती नदी के प्रदेश में तथा सतलज और गंगा की उत्तरी उपत्यकाओं में भी सिंधु-सभ्यता से ही मिलते-जुलते खण्डहर प्राप्त हुए हैं तथा बहुत-सी वस्तुएँ भी मिली हैं। लोथल नगर मोहनजोदड़ो से ६०० मील दक्षिण पूर्व में सूरत के पास है। यहां भी कई तरह के हथियार तथा औजार, तांबे और कांसे की कुल्हाड़ियाँ, पिनें, गहने, सोने के बुन्दे, मनके आदि मिले हैं। तांबे का बना एक सुन्दर हंस भी मिला है जिससे ढलाई कला में प्रगति का परिचय मिलता है। गन्दे पानी के निकास के लिये मोहनजोदड़ो और हरप्पा के समान नालियां भी यहां थीं। स्नानागार भी उसी प्रकार के ईंटों के बने मिले हैं। उत्तर में अम्बाला जिले में स्थित रोपड़ का टीला सबसे अधिक समृद्ध सिद्ध हुआ है, यद्यपि वह लोथल से कुछ बाद का समझा जाता है। रोपड़ की खुदाई से भी विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि यहां भी प्रारम्भ में सिंधु सभ्यता के लोग रहते थे।

प्रश्न यह है कि क्या द्रविड़ों का तथा द्रविड़ सभ्यता का विस्तार किसी भी समय अम्बाला तथा उत्तरी पंजाब तक हुआ था। ऐसी सम्भावना उसी दशा में हो सकती है जब हम आर्यों को बाहर से आया हुआ मानें, परन्तु जैसा कि अनेक स्थानों पर बताया गया है यह मानना युक्तियुक्त नहीं है तथा आर्य लोगों के रहते हुए द्रविड़ लोग ठेठ पंजाब तक पहुँच नहीं सकते थे।

अतः सिंधु सभ्यता वास्तव में आर्य लोगों की ही कुछ शाखाओं की—असुर, पणि आदि की—मानना अधिक युक्तियुक्त है। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश तक इस सभ्यता का विस्तार यही प्रमाणित करता है कि यह सभ्यता यहां के स्थानीय लोगों की ही थी कहीं बाहर के लोगों की नहीं। पणि लोग व्यापारी होने के कारण अधिक सम्पन्न थे तथा असुर लोग त्वष्टा के वंशज होने के कारण शिल्पज्ञ थे। दानों की आध्यात्मिकता की

+ हमारा देश—डा० सत्यनारायण पृष्ठ २०१

अपेक्षा भौतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देने वाले थे। अतः उन्होंने धीरे धीरे एक उच्च कोटि की नगरी सभ्यता का विकास किया। एक ऐसी सभ्यता जो शेष आर्यों की सभ्यता से भिन्न तथा भौतिक दृष्टि से उच्च कोटि की थी। यह सम्भव है जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कुछ काल पश्चात इन असुर तथा पणि लोगों को दक्षिण से आये हुए द्रविड़ भी गुजरात तथा सिंधु में मिले हों तथा ये द्रविड़ भी उन लोगों के साथ मिलकर रहने लगे हों। द्रविड़ लोग भी पणियों के समान कुशल व्यापारी थे अतः यह सम्भव है कि उन्होंने भी सिंधु घाटी में अपनी कुछ बस्तियां बना ली हों। जो लोग इस सभ्यता में द्रविड़ प्रभाव देखते हैं उसका कारण हो सकता है।

जो विद्वान लोगों का यह विचार है कि आर्यलोग केवल ग्रामों में ही रहते थे, नगरी सभ्यतासे अनभिज्ञ थे अथवा नगर तब तक नहीं बने थे, उनका विचार पूर्णतया सत्य नहीं है। ऋग्वेद (४ ३०-२०) में पत्थर के बड़े बड़े नगरों का भी वर्णन मिलता है तथा हजारों खम्भों वाले मकानों का भी वर्णन आता है।१ जान पड़ता है उस समय भी धनवान तथा ऊँचे अधिकारी लोग पत्थर तथा लकड़ी के बने बड़े बड़े भवनों तथा महलों में रहते थे जिनमें खम्भे भी होते थे। ऋ० ६ १६ ६ में 'त्रिवरूथ' शब्द है जिसका अर्थ भाष्यकारों ने तिमंजिले मकान किया है।

सिन्धु-सभ्यता का अन्त—

जान पड़ता है कि आर्यों के मुख्य वासस्थान पंजाब से दूर आकर ये असुर और पणि आदि लोग सहस्रों वर्षों तक शान्तिपूर्वक रहे तथा इस समय में उन्होंने अपनी सभ्यता की बहुत उन्नति कर ली। व्यापारी वर्ग तथा धन-सम्पन्न लोगों के लिये यह कुछ आश्चर्य की बात भी नहीं है। उन्होंने मोहनजोदड़ो को एक उच्चकोटि का नगर बना दिया और उस नगर को सब प्रकार की सुख सुविधाओं से युक्त कर सुन्दर तथा समृद्ध बना दिया।

परन्तु ऐसा भी जान पड़ता है कि उत्तर से आर्य लोग धीरे धीरे पुनः इन असुरों का मुकाबिला करने के लिये सदलबल सिंधु घाटी की ओर बढ़ने लगे और सिंधु सभ्यता के निर्माताओं से एक बार फिर उनके युद्ध होने लगे। सिंधु घाटी के लोग धनवान अवश्य थे, वे ऐश्वर्य का जीवन बिताते थे, परन्तु इसी कारण वे वीरता तथा युद्धकला में पिछड़े हुए थे। वे अच्छे सैनिक न थे। अतः आर्यों के युद्ध-कला निपुण समूहों के सामने न टिक सके।

ऋग्वेद में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनमें इन्द्र से दासों तथा दस्युओं के दुर्ग तथा

---

१ शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत— दिवोदासाय दाशुषे ४-३०-२० इन्द्र पत्थर के बने सौ पुरों को (शत्रुओं के) विविध प्रकार से तोड़ फोड़ दे

पत्थरों के बने हुए सुदृढ़ पुरों को तोड़ने की प्रार्थना की गई है। एक स्थान पर 'हरियू-पिया' शब्द भी आया है कुछ लोगों का अनुमान है कि यह 'हरियूपिया' 'हड़प्पा' के लिये ही आया है। दोनों नामोंमें सादृश्य आश्चर्यजनक है किन्तु अन्य लोग 'हरियूपिया' एक नदीका नाम बताते हैं। नाम साम्य को देखते हुए 'हरियूपिया' का अर्थ 'हड़प्पा' ही लगता है।

ऋग्वेद के छठे मण्डल का २७ वां सूक्त भरद्वाज का आर्षसूक्त है १ उसमें इन्द्र के पराक्रम का वर्णन है। इन्द्र ने अभ्यावर्ती चायमान के द्वारा वरशिखों के वंशजों का वध कराया और उनका हरियूपिया नगर अपने अधिकार में कर लिया।

---

१ वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शेषेऽभ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन्
वृचीवतो यद्धरियूपियायां हन् पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त्। ६.२७.५
इसका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार किया गया है अभ्यावर्ती चायमानको ही इच्छित पुण्य का लाभ करा देने के लिये तूने (इन्द्र ने) वरशिखों के वंशजों का वध किया। हरियूपिया के पूर्व की ओर से अद्ध्भागमें स्थित वृचिवन को मार गिराया तब पश्चिम भाग में स्थित परम भय से विदीर्ण होगया।

किन्तु आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के ऋग्वेद भाष्यमें इस मन्त्र का अर्थ कुछ दूसरे ही प्रकार से किया गया है। इसमें हरियूपिया का अर्थ मनुष्यों को गुणों से युक्त करने वाली विद्या के निमित्त अथवा मनुष्यों के स्वामी राजा की पालन करने वाली नीति में लगे हुए, वृचीवन का अर्थ अविद्या के छेदन करनेवाली उत्तम इच्छा से युक्त विद्यार्थी अथवा प्रजा के उच्छेद करने वाली शक्ति से युक्त दुष्ट पुरुष, चायमान का अर्थ सत्कार करने वाले अथवा सत्कार करनेवाले प्रजाजन, अभ्यावर्तिन का अर्थ समीप रहनेवाले अथवा अनुकूल, वरशिखस का अर्थ उत्तम शिखा धारण करनेवाले या कुलवाले तथा वधीत् का अर्थ दण्ड दे अथवा दण्डित करे किया गया है। इस प्रकार संक्षेप में यह अर्थ किया गया है कि उत्तम आचार्य अपने शिष्यों की ताड़ना करे और उन्हें शिक्षा देता हुआ दण्ड भी दे अथवा राजा प्रजा जनको पुत्रवत् प्रेम करता हुआ भी हित से ही उनको दण्डित भी करे।

२ ऋग्वेद १०३८ मन्त्र की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है —

त्वया वयं दस्युमित्रदुरोऽनानुद परित्वा ऋजिस्वना।
इसका भी अर्थ आर्य साहित्य मण्डल वाले भाष्य में भिन्न प्रकार से किया गया है जो इस प्रकार है—हे सेनाग्ने, तू दस्युम्बर अर्थात् टेढ़ी चालों, कुटिल व्यवहारों का वर्तन या चलने वाले अनानुद अर्थात् अपने अनुकूल उचित पदाधिकारों को न

अध्याय १०

आर्य-सभ्यता का दूर देशों में विस्तार

(१) भारत और ईरान—

यूरोपीय तथा भारतीय इतिहासकार इस बात में एक मत हैं कि संसार में दो ही प्राचीन देश ऐसे हैं जहां आर्यों का निवास था— ये दो देश हैं भारत और ईरान। परन्तु इन देशों में आर्य लोग किस प्रकार पहुँचे इस सम्बन्ध में मतभेद है। यूरोपीय इतिहासकारों की धारणा है कि आर्य-जाति किसी समय मध्यएशिया में वास करती थी। वहां से वह जाति नई खाद्य सामग्री तथा पशुओं के लिये अच्छे चरागाहों की खोज में निकली और तब उस जाति का एक दल एल्बुर्ज पर्वतों की तलहटी में बस गया और दूसरा हिमालय के दक्षिण के प्रदेशों में आगया। एक ने अपने प्रदेश का नाम आर्यन रखा जो एर्यान और फिर ईरान बन गया। दूसरे दल ने अपने देश का नाम भारत अथवा आर्यावर्त रखा जो आज तक उसी नाम से प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वे सारी जातियां जिनकी भाषा संस्कृत से मिलती जुलती हैं प्राचीन काल में एक ही स्थान पर रहती थीं। वहां से लगभग ४ हजार वर्ष ई० पू० में (आज से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व) ये लोग छोटी छोटी टोलियों में अपनी भेड़ बकरियों को लेकर निकल पड़े और लगभग एक हजार वर्ष तक घूमने के बाद उनके दो भाग होगये जिनके वंशज आजके आर्य और ईरानी हैं। इन्हीं अनेक दलों में से एक दल यूरोप की ओर बढ़ गया और उसी की सन्तान आज की अनेक यूरोपीय जातियां हैं। प्रो० मैक्समूलर प्रायः इसी मत के हैं। उनका अनुमान है कि हिन्दू और ईरानी लोग एक साथ पंजाब की हृदस नदी तक आये। यहां धर्म के झगड़ों ने उन्हें अलग कर दिया। देवों के पूजने वाले अर्थात् हिन्दू लोग पंजाब में रहे और असुरों की पूजा करने वाले ईरानी लोग फारस को गये।१ श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि आज से ४ हजार वर्ष पूर्व इस आर्यवंश के दो टुकड़े हुए जिनमें से एक ईरान की ओर गया जिसकी सन्तान वर्तमान ईरानी हैं और दूसरा दल भारत की ओर आया।२ श्री भगवतशरण उपाध्याय का भी मत है कि आर्य लोग भारत में जरूर कहीं बाहर से आये थे और वे अपने भाई ईरानी आर्यों को पीछे ईरान में छोड़ते हुए सप्तसिन्धु में आकर बस गये।३

१ प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास —श्री रमेशचन्द्र दत्त

२ ईरान—राहुल सांकृत्यायन पृष्ठ २

३ सांस्कृतिक भारत—भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ २६

किन्तु इसके विपरीत अनेक भारतीय विद्वानों की धारणा है कि ईरानी लोग भारत से ही चलकर ईरान में गये। जहां तक प्रमाणों का सम्बन्ध है इस मत के समर्थन में इतने अधिक प्रमाण मिलते हैं कि यही मत अधिक युक्तियुक्त तथा सत्य जान पड़ता है। डा० सत्यनारायण का कथन है—"यह कल्पना ग़लत है कि मध्य एशिया से चलकर आर्यों की एक शाखा ईरान में रह गई तथा दूसरी भारत में चली आई अथवा आर्य लोग यूरोप की ओर से चलकर पहिले ईरान में बसे और फिर उन्हीं में से कुछ लोग भारत में आकर बस गये।*

ऐतिहासिक तथ्यों का गहन अध्ययन करने वाले स्व० श्री जयशंकर प्रसाद ने इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल में आर्यों के दो शाखाओं में विभक्त होने का कारण त्वष्टा और इन्द्र का संघर्ष था। त्वष्टा वेदों में विश्वकर्मा अथवा आविष्कारक कहे गये हैं। वैदिक काल के एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण उनके बहुत से अनुयायी थे। किन्तु इन्द्र का सम्प्रदाय भी प्रबल हो चला था और इसका कारण था धर्म-सम्बन्धी गहन मतभेद। त्वष्टा का सम्प्रदाय ईश्वरीय महत्ता से पूर्ण धर्म का शासन स्वीकार करता था, किन्तु इन्द्र आत्म विश्वास के प्रचारक और आत्मवाद के समर्थक थे। सम्भव है कुछ अन्य मतभेद भी रहे हों। बड़े बड़े धार्मिक विरोधों के मूल में सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद युद्धों का होना अनिवार्य बना देता है। इन्हीं विरोधों के फलस्वरूप 'दाशराज्ञ' युद्ध हुआ जिसमें इन्द्र ने सुदास की रक्षा और सहायता की थी। इन्द्र की प्रचण्ड शक्ति के द्वारा वृत्र × की धार्मिक सत्ता का आर्यावर्त प्रदेश से नाश हुआ और असुरोपासक लोग ईरान और उनके पश्चिम में हटने के लिये बाध्य हुए। ऋग्वेद में इस धार्मिक संघर्ष का स्पष्ट परिचय मिलता है।† वरुण उस प्राचीन कालमें एक मानवीय देवता थे और त्वष्टा इत्यादि लोग वरुण पूजाके प्राचीन समर्थक थे। वरुण 'राजा' और 'असुर' कहकर पूजित थे। यही असुर वरुण असीरिया के उपास्य देवता 'असुर', ईरानके 'अहुर मज़्द' और सुमेरिया के 'इयोस' थे। वैदिक आर्यों से अलग होकर पिछले कालमें ईरानी आर्यों के द्वारा प्रचलित यही असुर वरुण की उपासना अनेक रूपों में पश्चिमी एशिया के प्राचीन सभ्य देशों में फैली और इधर इन्द्र-पूजा का या इन्द्र का सम्प्रदाय वैदिक आर्यों में प्रधानता ग्रहण करने लगा।‡

---

* हमारा देश—डा० सत्यनारायण।

× वेदों में वृत्र को त्वष्टा का पुत्र बताया गया है।

† ऋ० ७।३३।३-५ तथा ७।८३।६

‡ 'दाशराज्ञ युद्ध' जयशंकर प्रसाद (गंगा का वेदांक जनवरी १६३२ में)

इस प्रकार श्री जयशंकर प्रसाद भी उसी मतके समर्थक थे जो यह मानता है कि प्राचीन भारतीय आर्यों में धार्मिक मामलों में मतभेद उत्पन्न हुआ और यह मतभेद इतना बढ़ा कि युद्धों का रूप ग्रहण करने लगा जिसके फलस्वरूप एक दल को—जो वरुण का उपासक था तथा उन्हें असुर कहता था—भारत छोड़कर बाहर जाने के लिए विवश होना पड़ा और इसी दल के लोग जाकर उस देश में बसे जिसका नाम उन्होंने आर्यान रखा। (क्योंकि वे भी आर्य ही थे) और जो बाद में एर्यान तथा ईरान कहलाया।

देव और असुर एक ही जाति के थे इसके प्रमाण भी वेदों में मिलते हैं। कुछ विद्वानों ने बताया है कि प्रजापति के पुत्रों में 'असुर' बड़े थे और 'देव' छोटे थे। असुरों को 'पूर्व देव' भी कहा गया है। सम्भवतः पहिले वे लोग ही राजा थे। जब असुर और देवों में झगड़े हुए तो 'पूर्व देव' ही जीतते रहे। किन्तु अन्त में देवों के राजा इन्द्र ने अवसर पाकर त्वष्टा पुत्र वृत्र को धोखे से मार डाला। इसके बाद असुर हार गये तथा देव राजा बन गये। इसके पश्चात् ही असुरों को अपना पुराना देश भारत छोड़कर बाहर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

श्री सम्पूर्णानन्द ने भी इसी मत का समर्थन किया है। उनके कथन का आशय यह है कि प्रजापति की अदिति नामक पत्नी से, आदित्यों अर्थात् देवों की और दिति से दैत्यों की (असुरों की) उत्पत्ति बताई गई है अर्थात् देव और दैत्य अथवा सुर और असुर सौतेले भाई थे, किन्तु इनकी आपस में लड़ाई रहती थी। देव लोग यज्ञहोमादि द्वारा देवताओं की उपासना करते थे, किन्तु असुर लोग इसे पसन्द न करते थे तथा देवों को तंग करते थे। इसी से 'देवासुर संग्राम' हुआ। दोनों पक्षों में घोर युद्ध हुआ। परन्तु अन्त में देवों की जीत हुई। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भारत में असुर, उपासक नहीं रह गये।×

भारतीय आर्यों के ईरान पहुँचने के सम्बन्ध में श्री सम्पूर्णानन्द का मत है कि सप्त-सिन्धव छोड़नेके बाद प्रवासी आर्यों की एक शाखा कुछ काल के लिये स्यात् उत्तर ध्रुव में रही हो (क्योंकि लोकमान्य तिलकने उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का आदि देश बताया है) और जब यह देश हिम-प्रलय के कारण बसने योग्य नहीं रह गया तो ये लोग घूमते फिरते ईरान पहुँचे होंगे। यह भी सम्भव है कि भारत छोड़ने के पश्चात् आर्यों की एक शाखा सीधे ईरान पहुँची हो तथा दूसरी शाखा उत्तरी ध्रुव का चक्कर काटकर वहाँ पहुँची हो। कुछ भी हो ईरान में गये हुए लोगों का मूलस्थान भारत ही सिद्ध होता है।

उक्त मत केवल अनुमान अथवा कल्पना मात्र पर ही आधारित नहीं है, बल्कि इसके समर्थन में प्रमाण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

× आर्यों का आदि देश—सम्पूर्णानन्द।

प्रथम तो भारतीय तथा इरानी आर्यों के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ऋग्वेद तथा जेन्दावेस्ता का ही प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वेदों में कहीं भी इस बात का कोई उल्लेख—कोई संकेत तक नहीं मिलता कि आर्य लोग कहीं बाहर से इस देश में आये थे। इसके विपरीत गंगा, जमुना, सप्तसिंधु प्रदेश की नदियों, सरस्वती, सिंधु आदि का ही वर्णन उनमें मिलता है। किन्तु इरानी धर्मग्रन्थ में आर्यों के किसी मूल-स्थान का उल्लेख मिलता है और उसे 'आर्याना वेजो' कहा गया है जिसे विद्वान लोग भिन्न भिन्न स्थानों पर बताते हैं। अवेस्ता (यास्ना ६-१७) के अनुसार 'देत्य' नदी के किनारे पर बसा हुआ 'आर्याना वेजो' ही इरानी धर्मगुरु जरथुस्त्र का घर था। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में एक स्थान पर जरथुस्त्र का इस प्रकार विलाप करते हुए बताया गया है—"मैं किस देश को जाऊँ, कहाँ शरण लूँ, कौन-सा देश मुझे और मेरे साथियों को शरण दे रहा है—न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है, न देश के दुष्ट शासक, मैं जानता हूँ कि मैं निःसहाय हूँ। मेरी ओर देख, मेरे साथ बहुत थोड़े मनुष्य हैं—ए अहुर मज्द (असुर महान्) मैं तुझ से विनीत प्रार्थना करता हूँ।" आदि।

श्री सम्पूर्णानन्द जी का विचार है कि यह उसी समय का विलाप है जिस समय पराजित होकर असुरोपासक आर्य सप्त-सिन्धव का परित्याग कर अपना आश्रय ढूँढ रहे थे। जरथुस्त्र और उनके अनुयायी बहुत काल तक बहुत से देशों में भटकते रहे होंगे। उक्त विलाप से यही अर्थ निकलता है कि जरथुस्त्र के साथ जो लोग ईरान देश में पहुँचे थे वे मूलतः किसी अन्य देश के निवासी थे।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है। यूरोपीय विद्वान प्रायः जरथुस्त्र का काल ७वीं या ८वीं शताब्दी ई० पू० मानते हैं। यह मान्यता उतनी ही भ्रान्त तथा असत्य है जितनी ऋग्वेद को हजार बारह सौ वर्ष ई० पू० में बना हुआ मानने की कल्पना। वास्तव में असुरोपासक आर्यों के इधर-उधर भटकते फिरने का यह काल लगभग ८ १० हजार वर्ष पहले रहा होगा। कई सौ वर्षों तक भटकते रहने के बाद ही वे लोग स्थायी रूप से उस देश में बसे होंगे जो आज भी ईरान या आर्यों का देश कहलाता है। वास्तव में जरथुस्त्र का समय भी काफी पुराना होना चाहिये।

कई यूनानी लेखक जरथुस्त्र के समय को ६००० ई० पू० के लगभग (अब से ८००० वर्ष पूर्व) मानते भी हैं और पारसी पुरोहित लोग ईरान की 'गाथाओं' का अस्तित्व जरथुस्त्र से भी पहले का मानते हैं। एक पुराना यूनानी लेखक मेन्थस जो ईसवी सन् पूर्व ४७० वर्ष में हुआ, कहता है कि जोरास्टर (यूनानियों ने जरथुस्त्र का नाम जोरास्टर कर दिया) ट्रोजन युद्ध से ६०० वर्ष पहले हुआ था और इस हिसाब से जोरा

स्टर का काल ई० सन् पूर्व २४०० वर्ष के लगभग सिद्ध होता है। एरिस्टोटल जोरास्टर का समय प्लेटो से पांच हजार वर्ष पहले बतलाया है।१

अंग्रेजी सन्दर्भ ग्रंथ एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में कहा गया है कि यद्यपि एड वर्ड मेयर नामक एक लेखक जरथुस्त का काल अनुमान से १००० वर्ष ई० पू० मानता है किन्तु असीरिया के लेखों के अनुसार जरथुस्त बहुत प्राचीन काल में हुआ था।२

जरथुस्त के सम्बन्ध में विचार करते समय एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। ऐसी परम्परागत कथा है कि मज्द (इरानी) धर्म के संस्कृत अर्थात् शुद्ध रूप को इरान में मग लोगों ने फैलाया।३ ये लोग मीडिया प्रदेश में रहते थे जो ईरान के उत्तर पश्चिम में है। उस मग अथवा मगीय धर्म के संस्थापक जरथुस्त ही माने जाते हैं।४ सम्भवतः मिद या मीडिया प्रदेश में मगों का अधिक प्रभाव था। श्री सम्पूर्णानन्द का मत है कि सम्भवतः ये मग भी उन्हीं लोगोंमें से है जो पारस्परिक संग्राममें हार कर बाहर चले गये थे। पुराणों के अनुसार (मत्स्य पुराण अध्याय ६) देवों में जिन्हें आदित्य (अदिति की सन्तान) कहा गया है उनमें एक मग भी हैं तथा दूसरे त्वष्टा है। जिस प्रकार बाहर जाने वालों में त्वष्टा की सन्तान पणि लोग माने जाते हैं उसी प्रकार मग की सन्तान ये मग लोग भी हो सकते हैं जो इरान तथा उत्तर पश्चिम के कोने में जाकर बसे।

ये मग लोग अपने साथ जो भाषा लाये वह 'जेन्द' कहलाती थी जो वैदिक 'छन्द' का विकृत रूप समझा जाता है। जेन्द पहलवी और संस्कृत एक ही कुटुम्ब की भाषायें हैं परन्तु जेन्द संस्कृत के अधिक निकट मानी जाती है। एक विद्वान ने तो यहां तक सिद्ध किया है कि जन्दावेस्ता की कई पंक्तियां थोड़े हेर फेर के साथ वेद की ऋचायें बन जाती हैं।5

१—जगद् गुरु भारतवर्ष—सुख सम्पत्तिराय भण्डारी।

2 *Assyrian inscriptions relegate him to a more ancient period Edward Meyer conjecturally puts the date of Zoroaster at 1000 B C —Encyclopedia Brittanica Zoroaster*

३—आर्यों का आदि देश—सम्पूर्णानन्द पृष्ठ ७३

4 *He was famous in antiquity as the founder of the wisdom of Magi Whatever his date he was their teacher and instructor in the Magian religion modified their former religious customs and introduced a composite belief Probably he belongs to the old school —Midian Magi —Encyclopedia Brittanica Zoroaster*

5 यथा —अवेस्ता—"योयथा पुथ्रम तउरुनम्‌ हाओमम वन्दएता मश्यो,
और संस्कृत—यो यथा पुत्र तरुण सोमंवदेत् मर्त्य।

जेन्दा वेस्ता के अहुर मज्द मिथ्र और वेरीथ्राघ्र देवता असुर, महत्, मित्र तथा वृत्रहन् के रूप माने जाते हैं। ऋग्वेद में जैसी स्तुति इन्द्र की की गई है वैसी ही अवेस्ता में अहुरमज्द की है। संस्कृत और जेन्द भाषाओं में समानता देखकर सर विलियम जोन्स तो आश्चर्य चकित रह गये थे। उन्होंने ड्यू पेरन के जेन्द कोष में १० में से ६-७ शब्द शुद्ध संस्कृत के बताये हैं।+

इन कथनों का तात्पर्य यह है कि जरथुस्त का समय ७ वीं अथवा ८ वीं शताब्दी ई० पू० न होकर कई सहस्राब्दी ई० पू० होना चाहिये तथा प्राचीन ईरानी (जेन्द) तथा संस्कृत भाषाओंमें भी बहुत अधिक साम्य दिखाई देता है।

उक्त भाषा साम्यके अतिरिक्त अन्य कई प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि ईरान के प्राचीन निवासी भारत से ही गये हुए लोग थे। जरथुस्त की वाणी 'गाथा' कहलाती है जो शुद्ध संस्कृत शब्द है। डा० तारापोर वाला का कथन है कि भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से गाथा और ऋग्वेद के आरम्भिक मंत्र समान हैं एवं दोनों में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है।×

अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारतीय आर्यों में चार जातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विकास भारत में ही हुआ तथा उपनयन आदि संस्कार भी यहीं पर विकसित हुए। ईरानियों में भी भारत के समान चार जातियां—अथ्रवन, रथेस्तार, वस्त्रोय और हुती—का होना तथा उपनयन संस्कार (जिसे नवजोत कहा जाता है) का प्रचलन यही सिद्ध करता है कि ये लोग भारत से अपनी कुल प्रथायें भी वहाँ ले गये अथवा भारत में उनमें जो प्रथाएँ प्रचलित थीं, उन्हें उन्होंने अपनी नई भूमि में भी चालू रखा।

ईरान की प्राचीन पुस्तकोंमें जरथुस्तको 'दस्युमा' भी कहा गया मिलता है जो वैदिक शब्द 'दस्यु' का ईरानी रूप दिखाई देता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्दके समान 'दस्यु' भी एक अनादर सूचक शब्द बन गया है, परन्तु ईरानी साहित्यमें यह शब्द भी सम्मानसूचक माना गया है।® 'दस्यु' और 'असुर' ऋग्वेद में प्रायः एक ही मान गये हैं और जान पड़ता है कि जिस प्रकार 'असुर' शब्द बाद के काल में अनादर सूचक बन गया उसी प्रकार 'दस्यु' भी बन गया। किन्तु ईरान में ये दोनों ही शब्द सम्मानसूचक बने रहे। प्रारम्भ में 'असुर' शब्द आदरसूचक था क्योंकि ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि

+ *I was not little surprised to find that out of ten words in Du Perron's Zend Dictionary six or seven were pure Sanskrit.—Sir William Jones.*

× संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ ३२।

® हमारा देश—डा० सत्यनारायण।

मरुत आदि सभी को 'असुर' कहा गया है। किन्तु बाद में यह अर्थ बदल गया अ
असुर शब्द से दुष्ट आत्माओं का बोध होने लगा। इसके विपरीत ईरान में असुर अथ
'अहुर' शब्द ईश्वर के लिये ही प्रयुक्त होता रहा। इसी प्रकार दस्यु अथवा दस्युना श
वहा आदर सूचक बना रहा तथा देव शब्द निन्दित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इससे
यही अनुमान होता है कि ईरानके प्राचीन निवासी भारत से ही वहा गये तथा पारस्परि
शत्रुता के कारण उन्होंने शब्दों का पुराना अर्थ ही कायम रखा जबकि आर्यों ने उन
अर्थ बदल दिया।

ईरानी मैदान के दक्षिणी भाग का पुराना नाम 'पर्शु' अथवा फारस था। १६३५
वहा की सरकार ने इस नाम को बदल कर अपने देश का नाम ईरान रखा। इस आध
पर कि वास्तव में 'फारस' देश के एक प्रान्त का नाम है। श्री पोकोक का अनुमान है
ईरान के इस भाग में भारत से जो लोग पहुँचे थे वे वीर परशुराम के वंशज थे अ
उन्होंने अपनी नई बस्ती का नाम 'पर्शु' रखा था।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ईरानी धर्मग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' का नाम अथर्ववेद
नाम पर रखा गया है क्योंकि वैदिक साहित्य में अन्य नामों में एक नाम 'छन्द' भी अथ
वेद ही का है। 'जेन्द' शब्द इसी छन्दका अपभ्रंश है तथा 'अवेस्ता' 'वेद' का अपभ्रं
है। इस प्रकार 'जेन्दा वेस्ता' का अभिप्राय है 'छन्द वेद'।[1]

ईरान के प्राचीन निवासी भारत से ही वहां गये न कि मध्यएशिया तथा अन्य किस
देश से इसका अंतिम तथा सुदृढ़ प्रमाण है वहां की नदियों के नाम 'हरह्वती' तथ
'हरयू' होना। सभी विद्वान मानते हैं कि ये नाम 'सरस्वती' तथा 'सरयू' के ही ईरान
रूप हैं। अतः यह निश्चित है कि उत्तरी भारत के जो प्राचीन निवासी ईरान में जाक
बसे उन्होंने अपनी प्रिय नदियों के नाम 'सरस्वती' और 'सरयू' वहां की भी नदियों क
दे दिये। इसी प्रकार काशी नगरी के नाम पर 'काश्या' नगरी बसाई गई जिसका वर्ण
बेबीलोनिया वाले अध्याय में किया जा चुका है।

(२) फिनीशियन अथवा पणि—

एक अन्य महत्वपूर्ण जाति जिसने एशिया तथा यूरोप के इतिहास में प्रमुख भाग
लिया 'फिनीशियन' कहलाती थी। जिस प्रकार इतिहास की अनेक प्रमुख जातियों—
आर्य, द्रविड़, सुमेरी आदि के सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों में मतभेद है उसी प्रका
फिनीशियन लोगों के सम्बन्ध में भी है। अनेक भारतीय विद्वान फिनीशियन लोगों क
मूल स्थान भारत को ही मानते हैं तथा ऋग्वेद में जिन 'पणि' लोगों का वर्णन अनेक
स्थानों पर मिलता है उन्हीं को फिनीशियन लोगों का पूर्वज मानते हैं। इतिहास इता

[1] [illegible]

अवश्य बताता है कि फिनीशियन लोग किसी समय में भारत से लेकर सीरिया (शाम) तक तथा आगे भूमध्यसागर एवं अटलांटिक महासागर तक फैले हुए थे तथा व्यापार करते थे।

यह बात सर्वमान्य है कि एक समय में पणि लोगों की मुख्य बस्ती सीरिया (शाम) के समुद्री तटों पर थी। उनके मुख्य नगर टायर और सिडान थे। टायर नगर बहुत पुराना है तथा उसका नाम पुरानी बाइबिल में भी मिलता है। यह नगर प्राचीन कालमें भी अपने व्यापार के लिये प्रसिद्ध था। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० का यूनानी इतिहासकार हेराडाटस इस नगर में गया था और उसने लिखा है कि उस समय भी टायर नगर को २३०० वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार यह नगर अबसे लगभग ५ हजार वर्ष पुराना है।

यूरोपीय विद्वान प्राय ऐसा मानते हैं कि फिनीशियन लोग शाम (सीरिया) के ही मूल निवासी थे जो १२० मील लम्बा किन्तु सकड़ा प्रदेश था और जब ये लोग संख्यामें बढ़ते गये तो उन्हें समुद्रमें फैलकर भूमध्यसागर में नई बस्तियाँ बसानी पड़ीं। वे यह भी मानते हैं कि ये लोग संसार के प्राय प्रत्येक ज्ञात देश से व्यापार करते थे।1 वे मानते हैं कि फिनीशियन लोग सीरिया से ही वहा उनकी मुख्य बस्तियां थीं भूमध्यसागर में आये।

किन्तु अन्य यूरोपीय इतिहासकारों ने यह भी स्वीकार किया है कि फिनीशियन लोगों की मूल बस्तियां शाम में नहीं थीं बल्कि शाम में आने के पूर्व वे लोग अरब के तट पर बसे हुए थे तथा मिस्र, अफ्रीका तथा दूर के देशों से व्यापार करते थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रागोजिन ने ऐसा ही मत प्रकट किया है।2

---

1 The Phoenicians were the first Syrian people to assume importance in the 11th century B C Their country was a narrow stretch of coast about 120 miles in length seldom 17 miles in width between Lebanon mountains and the sea When Phoenicians grew in number they were obliged to betake themselves to sea They established colonies thoughout Mediterranean and had extensive commerce with every region of the known world —Encyclopedia Britannica Vol, 17 Phoenicians

2 The Puna were essentially a commercial race An important branch of these gained possession of the finest portion of Arabia the present Yemen and the opposite protruding corner of eastern Africa now known as Somali Coast which commands the Commerce of Red Sea Arabian Sea and even the more distant Indian Ocean Here the Puna lived and traded peacefully with Egypt long before we hear of the Phoenicians

Assyria - Z A Rogozin III Sons of Canaan

श्री रागोजिन का यह भी मत है कि सीरिया (शाम) में बसने से पूर्व इन फिनीशियन लोगों का घर अरब के किनारे बहरीन टापुओं में था और वहाँ वे कई शताब्दियों तक रहे होंगे। श्री रागोजिन यह भी कहते हैं कि इन्हीं लोगों में एक जाति का नाम पुत अथवा पुना था और उसी को बिगाड़कर यूनानियों ने इनका नाम फिनीशियन कर दिया जिस नाम से ये आगे प्रसिद्ध हुए।1

कुछ यूरोपीय इतिहासकार यह भी मानते हैं कि ये फिनीशियन लोग पहले ईरान में रहते थे और इस प्रकार फिनीशियन लोगों का घर क्रमशः पूर्व की ओर हटता गया है और जैसा कि ऊपर बताया गया है उनके भारत तक फैले होने का पता चलता है। अतः फिनीशियन लोग मूलतः भारत के निवासी रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। ये लोग कुशल समुद्री व्यापारी थे यह सभी लोग मानते हैं। व्यापार के सम्बन्ध में भी वे भारत से चलकर पहिले ईरान में पहुँचे होंगे, फिर अरब के तटों पर बसे, फिर आगे चलकर वे सीरिया में बस गये और अनेक शताब्दियों तक बसे रहे जिससे लोग उन्हें सीरिया का ही निवासी समझने लगे। फिर वे यहाँ से क्रीट और साइप्रस टापुओं में पहुँचे और वहा से भूमध्यसागर में अनेक बस्तियाँ बसाते हुए वे भूमध्यसागर के पश्चिमी छोर तक पहुँच गये और फिर स्पेन के समुद्री मुहाने को भी पार करके वे स्पेन के दूसरी ओर फैले हुए विशाल अटलांटिक महासागर तक पहुँच गये। स्पेन के पश्चिम में जिब्राल्टर को पार करके उन्होंने गेडिज नाम की बस्ती बसाई थी जो बाद में केडिज नाम से प्रसिद्ध हुई। इस बस्ती तक वे लोग ११ वीं शताब्दी ई० पू० में पहुँच गये थे ऐसा पता लगता है।

यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इन फिनीशियन लोगों के पूर्वजों ने ही जो पुना या पुत कहलाते थे, मिस्र और यूरोप को भी अनेक बातों में सभ्यता का पाठ पढ़ाया था।

1 *The group of small islands now kno on as B hrein Islands situated close to th Arabian coast seems to have been the first known home of the Hamites of Cannan before they separa'ed and multi plied into numerous tribes which overspread all the fruitful por tions of Syria and were to play so important a part in the for tunes of the Hebrews for which reason the Biblical historian gives so full and particular a list of these (See Genesis X 16 19) Here they must have dwelt for centuries One of these Hamitic tribes was even then of sufficient pre eminence to have received a separate name that of Pemt or Puna (the Phat or Put of Genesis) later corrupted under Greel influence into Phoenician and to have been personified as one of Ham s own sons—Assyria Z A Ragozin - III Sons of Canaam.*

यह भी माना जाता है कि इन्हीं लोगों ने जो फ्यूनिक भी कहलाते थे—यद्यपि उनमें अनेक दोष भी थे—सभ्यता के विकास में बड़ी सहायता दी। बहुत से लोग वर्णमाला के आविष्कार का श्रेय भी इन्हीं लोगों को देते हैं क्योंकि तब तक यूरोप में कहीं भी वर्णमाला प्रचलित नहीं थी।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि फिनीशियन लोगों का भारत से कहां तक सम्बंध था। यह तो हम देख ही चुके हैं कि इनका फिनीशियन नाम यूनानी लोगों का रखा हुआ है। इससे पूर्व भी उनका नाम पुना या पुन मिलता है। अरब के जिस भाग में पहले ये लोग बसे हुए थे उसका भी नाम पुना या पुन्त था। पुरानी बाइबिल में उनका नाम पुट या पाट भी मिलता है। इसी से मिलता-जुलता नाम ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है और वह नाम है—'पणि'। ऋग्वेद के वर्णनों से यह भी ज्ञात होता है कि ये लोग व्यापारी थे किन्तु साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि ये लोग अच्छे व्यापारी न थे। वे लोग तस्कर व्यापार, पशुओं की चोरी आदि भी करते थे। ये लोग धन कमाने के लिये कोई भी साधन बाकी नहीं छोड़ते थे। इसी कारण आर्यजन इनसे बहुत घबड़ाते थे और उनकी अमंगल कामना करते थे। ऋग्वेद (६-२०-४) में 'शतैरपद्रन्पणय' आदि शब्द हैं जिनका अर्थ है—"लड़ाई में डर कर सौ दल के साथ पणि लोग भाग गये।" इसी प्रकार ऋग्वेद ६ ५१-१४ तथा ६-६१-१ में भी पणियों का उल्लेख है और उन शब्दों का अर्थ यह समझा जाता है कि ये लोग भेड़ियों के समान लालची, अत्यंत स्वार्थी, यज्ञ न करनेवाले तथा निदय थे।1 ऋ०१०-१०८ के कई मंत्रों में भी पणियों का वर्णन है।

इस प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पणियों का वर्णन देखकर तथा उनकी विशेषताएँ भी वे ही होने के कारण—जो कि पश्चिमी एशिया के फिनीशियन लोगों में पाई जाती थीं, अनेक भारतीय विद्वानों का अनुमान है कि पणियों का मूलस्थान भारत ही रहा होगा और यहीं से अन्य अनेक जातियों के समान वे पश्चिम की ओर फैलते गये और व्यापारिक जाति होने के कारण भूमध्यसागर तक तथा उससे भी आगे पहुँच गये। वे भी उन्हीं जातियों में थे जिनका धार्मिक उपासना तथा अन्य कारणों से भारत

---

1 *The Panis formed the great trading class among Rigvedic Aryans and traded both on land and sea But they were not popular as they were greedy like the wolf extremely selfish and neggardly and non sacrificing and of cruel and unkind speech —Rigvedic culture - Abinash Chandra Das*

की मुख्य आर्य जातियों से संघर्ष हुआ था तथा जिन्हें अंत में भारत छोड़कर बाहर जाने के लिये बाध्य होना पड़ा।

श्री अविनाशचन्द्र दास का मत है कि पणि लोग ही भारत से फारस की खाड़ी में गये थे तथा दक्षिणी बलूचिस्तान, अरब के तट, लाल सागर आदि तक पहुँचे तथा उनके साथ भारत के सुसभ्य पाण्डय और चोल लोग भी गये थे। इनमें से चोलों ने मेसोपोटामिया में रहकर चाल्डिया देश की स्थापना की और पाण्ड्यों ने पणियों के साथ आगे बढ़कर मिस्र की स्थापना की। ये पणि लोग ही आगे चलकर सीरिया के तट पर बस गये। श्री दास के मतानुसार ये पणि लोग ही उस मिश्रित जाति फिनीशियनों के पूर्वज थे जो जाति यूरोप में पहुँची थी।[1] फिनीशियन लोग पणि और शामी जातियों की मिश्रित सन्तान थे, क्योंकि पणि लोगों ने सीरिया (शाम) में बस जाने के कारण वहां के शामी जाति के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कर लिया था। यूरोपीय विद्वान फिनीशियन लोगों को शामी जाति का मानते हैं उसका कारण यही जान पड़ता है।

ऐसे कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं जिनसे इस अनुमान का समर्थन होता है कि पणि लोग मूलतः भारत के ही निवासी थे और यहीं से वे बाहर के देशों में गये। एक बात तो यह दिखाई देती है कि पणियों का मुख्य धन्धा व्यापार होने के कारण वे बाहर जहां भी गये समुद्र के तट पर ही बस्तियाँ बनाकर रहे। शाममें भी जो उनका मूल देश माना जाता है उनकी छोटी छोटी अथवा बस्तियां टायर, सिडोन आदि समुद्र तट पर ही थीं। आगे बढ़कर उन्होंने भूमध्यसागर के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों किनारों पर ही अपनी बस्तियाँ बसाई थीं, किन्तु भारत में उनकी बस्तियाँ केवल समुद्री तटों पर ही नहीं, देशके आन्तरिक भागों में भी होने का पता लगता है। ऋग्वेद के वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि पणि लोग इस देश में बराबर घूमते, व्यापार करते तथा सूद पर धन देते थे। इन्हीं व्यापारों के साथ साथ ये पशुओं को चुरा ले जाने जैसे निन्दापूर्ण कार्य भी करते थे जिससे आर्य लोग उनसे तंग आ गये थे। देश के भीतरी भागों में फैलना उसी दशा में सम्भव है जबकि कोई जाति उस देश की मूल निवासी हो।

दूसरे पणियों के जिन देवताओं का पता लगता है उनमें वरुण, बाल तथा मेल्कार्थ मुख्य थे। वरुण उनका मुख्य देवता था और वे उसके कट्टर उपासक थे तथा इरानियों की भाँति इन्द्र के विरोधी थे। सम्भवतः इसी कारण आपसी सम्बन्धमें इरानियों के समान पणि लोगों को भी भारत छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा। ये लोग भी असुर पूजक माने जाते हैं। श्री अविनाशचन्द्र दास का मत है कि पणि आदि जातियां भारत से बाहर जाते समय वरुण की पूजा अपने साथ ले गई थीं तथा अपने विश्वास के अनुसार वह पूजा

1 *Rigvedic Culture* Abinas Chandra Das p 152

करती रही।१

वरुण भारतीय आर्यों का एक प्रधान देवता था यह बताने की आवश्यकता नहीं। बाल के सम्बन्ध में श्री दास का मत है कि वह भी एक प्राचीन वैदिक देवता है। वह सूर्य का बोधक था। श्री रागोजिन का भी ऐसा ही मत है 2 ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'ऋभुओं' का वर्णन आता है तथा उन्हें बाल के पुत्र कहा गया है। सायणाचार्य ने इन ऋभुओं का अर्थ 'सूर्य की किरणों' किया है। सूर्य की किरणों को सूर्य के पुत्र कहना उचित ही है। इसी प्रकार अग्निको भी सूर्यका पुत्र बताया गया है। मेलकार्थ फिनीशियन लोगों का प्रमुख लोगोंके मरदुक के समान एक स्थानीय देवता था और उसकी मान्यता भी मरदुक के समान ही होती थी।

फिनीशियन या पणि लोगों के भारत से ही बाहर जाने का एक अन्य सबल प्रमाण यह है कि सुमेरी लोगों के समान उनका भी यह विश्वास था कि उनके पूर्वज पूर्व के समुद्री तट से आये थे। यद्यपि यूरोपीय इतिहासकार 'पूर्व तट' से बेबीलोनिया का तट लेते हैं किन्तु इसका तात्पर्य भारत से ही ज्ञात होता है—बेबीलोनिया में वे भारत से ही पहुँचे थे।3 वहाँ से वे फारस और अरब के तटों पर बसते हुए सीरिया में पहुँचे और वहाँ बहुत दिनों तक रहे। यहीं पर उन्हें पता लगा कि आगे साइप्रस द्वीप में तांबे की बड़ी बड़ी खदानें हैं अत: वे और आगे बढ़ गये और साइप्रस में पहुँच गये। यह समय १५०० ई० पू० के लगभग अनुमान किया जाता है। आगे जब यूनानियों की बढ़ती हुई शक्ति ने उन्हें यहाँ से हटाया तो ये लोग आगे बढ़कर भूमध्यसागर के तटों पर जा बसे। यहीं पर कार्थेज नामक नगर बसाया गया जो उनकी शक्ति का एक प्रधान केन्द्र बन गया था। इस प्रसिद्ध उपनिवेश का रोम के लोगों ने दीर्घकालीन संघर्ष के बाद नाश करके भूमध्य सागर में पणि लोगों की शक्ति समाप्त करदी। इस प्रकार से भारत से ही चलकर पणि लोग भूमध्य सागर तक पहुँचे थे। इस दीर्घ यात्रा में उन्हें बहुत वर्ष लग होंगे। वे अन्य जातियों से वैवाहिक सम्बन्ध भी करने लग थे। इस कारण यूरोप में पहुँचने-पहुँचते

1 We then find the existence of the name of Varuna (Varena Ouranos and Uranus) not only among Vedic Aryans but also among Iranians the Phoenicians the Greeks and other races which goes to show that the name was taken by the various peoples at the time of their dispersion from their Central Home which was in Sapta Sindhu and this God was worshipped according to their conception —Rigvedic India Abinash Chandra Das p 91

2 It was the sun whom the Canaanite worshipped calling him Baal the same word as the Babylonian Bel Ragozin

3 The Phoenicians themselves believed that they had migrated from Eastern shore - probably meaning Babylonia - Encyclopedia Britannica Vol 17 Phoenicians

उनका रूप पूर्णतया बदल गया और वे एक मिश्रित जाति बन गये थे तथा भारतीयता से बहुत दूर पड़ गये थे।

(३) खित्ताई और खुर्री मितन्नी—

पश्चिमी एशिया (शाम तथा लघु एशिया) में कुछ अन्य ऐसी प्राचीन जातियों का भी पता लगता है जिनका सम्बन्ध प्राचीन भारत से अथवा प्राचीन काल में भारत से बाहर आये हुए लोगों से ज्ञात होता है। ये जातियां हैं खिताइ और खुर्री मितन्नी।

खिताइ लोगों का पता पश्चिमी एशिया में २, ३॥ हजार वर्ष ई० पू० से लगने लगता है। सम्भव है इससे भी पहिले वहां आकर बस गये थे। २००० ई० पू० के लगभग उन्होंने वहाँ एक अपना राज्य स्थापित कर लिया था जो फिनीशिया (फिनीशियन लोगों की बस्तियां) और ऊपरी फरात घाटी के बीच में फैला हुआ था तथा पश्चिम में ऐजियन सागर तक चला गया था। यह राज्य काफी बलवान भी था। इसका अनुमान इसी से होता है कि १६ वीं शताब्दी ई० पू० में जबकि बेबीलोनिया में हमूराबी के पौत्र का राज्य था, तब खित्ताई लोगों ने बेबीलोनिया पर आक्रमण करके बाबुली लोगों को ऐसी करारी पराजय दी थी कि वहां हमूराबी के वंश [illegible] अन्त ही हो गया।

कुछ लोगों का कहना है कि ये लोग 'मेन्नुम्' आर्य भाषा भाषी लोग थे जो १००० ई० पू० के लगभग पश्चिमी एशियामें आ बसे थे। अन्य लोग उन्हें तूरानी और सामी रक्त के मिश्रण से उत्पन्न जाति मानते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि लोकमान्य तिलक के मतानुसार खाल्दी लोग भी तूरानी जाति के थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि ऋग्वेद में "तौरयाण" शब्द आया है जो सम्भवतः तूरानी लोगों के लिये ही है। श्री नरदेव शास्त्री का कथन है कि धार्मिक तथा आचारों के भेद के कारण सप्त सिन्धु प्रदेश से जिन असुर लोगों को निकाला गया था वे पश्चिम की ओर जाकर वहाँ की तूरानी जाति में इतने घुल मिल गये कि रक्त सम्बन्ध भी स्थापित हो गया।[१]

कुछ भी हो इतना सत्य जान पड़ता है कि २००० ई० पू० के लगभग इन लोगों का—जो खत्ती या खिताइ कहे जाते थे तथा जिन्हें पुरानी बाइबिल में 'हिताइत' कहा गया है—राज्य पश्चिमी एशिया में स्थापित हो चुका था और यह एक सबल राज्य समझा जाता था। सभ्यता में भी खिताइ लोग बढ़े चढ़े समझे जाते थे। यूरोपीय इतिहासकारों के मतानुसार उस काल में पश्चिमी एशिया तथा आसपास के क्षेत्रों में मिस्र और बेबीलोनिया के पश्चात् तीसरा महत्वपूर्ण स्थान खिताइ लोगों को ही प्राप्त

१ ऋग्वेदालोचन—नरदेव शास्त्री पृष्ठ ६१—६२

था।1 १७ वीं १६ वीं शताब्दी ई० पू० में मिस्र के फरोहाओं (सम्राटों) ने पश्चिमी एशिया पर जो आक्रमण किये थे मुख्यत इन्हीं हित्ताइयों के विरुद्ध किये गये थे। चार शताब्दियों तक निरन्तर युद्ध के बाद दोनों में १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में—जबकि मिस्र में रामेसस द्वितीय का राज्य था—सन्धि हो गई। यह सन्धि चांदी की एक पट्टिका पर लिखी गई थी क्योंकि यह माना जाता है कि हित्ताइ लोगों के पास चांदी प्रचुर परिमाण में थी।

हित्ताइ लोगों की मूल राजधानी खत्ता नामक स्थान पर थी। इसी कारण ये लोग भी खत्ती अथवा हित्ताइ कहे जाते थे। बाइबिल में इन्हें 'हित्ताइत' कहा गया है। पुराने यूनानी लोग भी इन्हें 'हित्ताइत' ही कहते थे तथा कभी कभी 'श्वेत शामी' भी। पुराने यूनानी कवि होमर के काव्य में एक शब्द केटआइ आया है जो सम्भवत हित्ताइयों के लिए ही होगा।

मिश्र, बेबीलोनिया, असीरिया तथा पड़ोसी हुर्री मितन्नी लोगों से इन हित्ताइ लोगों के झगड़े कई शताब्दियों तक चलते रहे और ये सभी लोग हित्ताइयों से भयभीत रहते थे। मिस्र ने तो इन्हीं लोगों के डर से मितन्नी आदि लोगों से मित्रता की सन्धि की थी। १६०० ई० पू० में हित्ताइयों और मितन्नी जातियों के लोगों ने—जो श्यामी माने जाते थे—शाम पर हमला करके यहूदियों और आराम प्रान्त लोगों को वहां से बाहर निकाल दिया था। मिस्री इतिहास में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि जिन दिनों वहाँ १८ वें तथा २० वें राजवंशों का राज्य था (१५००-११६० ई० पू०) उन दिनों बलवान हित्ताइ राज्य समस्त शाम तथा मिस्र पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करने की योजनायें बना रहा था। मिस्र पर 'हाइक्सास' लोगों (गडरियों) का जो आक्रमण हुआ था2 जिसका काल कुछ इतिहासकार १६ वीं शताब्दी तथा कुछ २० वीं शताब्दी ई०पू० मानते हैं—उनमें मुख्यत हित्ताई लोग ही थे।*

---

1 *Hittites the ancient oriental people ruled over a great part of Asia Minor and Syria between 2000-1200 B C and impo ed their own high degree of civilization upon that region Rivals of old Egyptians and Assyro-Babylonians in comparison with both these nations the Hittites rank third in importance among people of ancient east —Encyclopedia Brittanica Hittites*

2 *It is impossible to fix the date of this important revolution for the Egyptians after the expulsion of the Shepherds erased all traces of their movements Historians have to be con ent with vaguely placing the Hyksos conquest anywhere between 2200 2000 B. C —Assyria by Z A Rago in*

* *In the Hyksos invasion the Canaanites specially the Hittites element was strongly represented, as strongly as the Semitic. Some eminent scholars more than suppose that men of the unknown Hyksos dynasties were Hittites —Ragozin*

हित्ताइट लोगों के अस्तित्व तथा उनकी प्रभुता का सबसे बड़ा प्रमाण बोगज काई नामक स्थान पर (जो टर्की की वर्तमान राजधानी अंगोरा के पास है) प्राप्त लेख हैं जो मिट्टी की पट्टियों पर खुदे हुए पाये गये हैं। अनुमान किया गया है कि यह बोगज-कोई स्थान किसी समय हित्ताइट राज्य की राजधानी रहा होगा और सम्भवतः खत्ती के बाद राजधानी यहीं आगई होगी। 'बोगज-कोई' तुर्की भाषा का नाम है। इस स्थान पर मिट्टी की बड़ी बड़ी ईंटों पर लिखे हुए लेखों का एक पूरा दफ्तर का दफ्तर प्राप्त हुआ था। इसका पता सन् १९०७ में हा. विंकलर नाम के एक जर्मन विद्वान ने लगाया था—जबकि वह क्यादो सियार नामक स्थान पर खुदाई करा रहा था। इनमें से कई लेख उस समय के राजनैतिक पत्र व्यवहार का प्रकट करते हैं तथा इन्हीं में कुछ संधि पत्रों के दस्तावेज भी हैं। ऐसे कुछ दस्तावेज दो भाषाओं में लिखे हुए मिलते हैं। ऐसे ही दस्तावेजों में एक वह प्रसिद्ध संधि पत्र भी है जिसमें 'मित्तर, उरवना, इन्दार, नसतिया—' (मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य) नामक आर्य देवताओं का संधिपत्र के साक्षी रूप में आवाहन किया गया है तथा जो प्राचीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दस्तावेज है। पता पड़ता है १४ वीं शताब्दी ई० पू० में हित्ताइट के बलवान राजा ने—जिसका नाम 'सुपी लिलुमास' कहा गया है, उत्तरी शाम पर अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित कर लिया था + उसने मितन्नी के तत्कालीन राजा को—जिसका नाम 'मतिवाजा'* कहा गया है, पराजित किया और फिर इन दोनों राजाओं ने एक संधि करली (१८३० ई० पू०)। यह वही संधि है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और जिसमें मित्र, वरुण आदि देवताओं के नाम आये हैं। इन नामों से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि मितन्नी के लोग तो आर्य थे ही तथा आर्य देवताओं को मानते ही थे, साथ ही हित्ताइट लोग भी इन आर्य देवताओं पर श्रद्धा रखते थे अन्यथा वे इन देवताओं के आवाहन में अपने को सम्मिलित न करते। इसी से यह अनुमान होता है कि हित्ताई लोग भी उन्हीं आर्य जातियों के वंशज थे जो पूर्व काल में भारत से बाहर चली गई थीं तथा जो अन्य जातियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण

+ *The third of the powers besides Khurrians and Egypt disputing Syria in the 14th century B C were the Hittites who finally under their greatest warrior Shuppli Luliumash (1380 B C) not only defeated the kingdom of Metanni but established a first dominion of their own in Northern Syria —Encyclopedia Britannica Syria*

* यह सम्भवतः किसी संस्कृत का विकृत रूप है क्योंकि मितन्नी राजाओं के नाम संस्कृत के होते थे।

मिश्रित जातिया बन गइ तथा सामी और इरानी जातिया मानी जाने लगी। सम्भवत ये भी उन्हीं जातियों में से हैं जिनके सम्बन्ध में पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि वे बाहर जाकर फिर कभी स्वदेशमें न लौटीं तथा म्लेच्छ बन गइ। इस प्रकार खिताई लोगों में भी भारतीय रक्त का मिश्रण अवश्य जान पड़ता है।

११०० ई० पू० म लगभग इन खिताई लोगों की शक्ति समाप्त हो गइ तथा ७०० इ० पू० म लगभग खिताइयों का साम्राज्य अन्तिम रूप में नष्ट होगया। लगभग २ हजार वर्ष तक अपना अस्तित्व बनाये रख कर यह साम्राज्य इतिहास के पृष्ठों में अपनी छाया छोड़कर सदा के लिये अस्त होगया।

खुर्री और मितनी—

खुर्री और मितनी जातियों के सम्बन्ध म ऐसे अधिक दृढ़ प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ये आर्य जातिया थीं तथा किसी प्राचीन काल में भारत से बाहर चली गइ थीं। कइ यूरोपीय विद्वानों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि ये लोग द्वितीय अथवा तृतीय सहस्राब्दियों में भारत से वहा पहुँचे थे।1 यह भी माना गया है कि ये लोग आर्य थे तथा उन्होंने खिताइयों के देश (वर्तमान टर्की) में अपना राज्य स्थापित किया था।2 इसके विपरीत कुछ लोगोंने अनुमान किया है कि मितनी के लोग इरानी थे और ईरान से ही पश्चिम की ओर बढ़े थे। किन्तु अधिक मत उन्हें भारतीय आर्य मानने के ही पक्ष में हैं—विशेष कर इस कारण कि उनके देवताओं में मित्र, वरुण और नासत्यों के साथ इन्द्र का भी नाम आता है जबकि प्राचीन ईरानी लोग इन्द्र को देवता नहीं मानते थे। बल्कि इन्द्र को हेय बताकर उसकी निन्दा ही करते थे। यह सम्भव है

1 *It is to be supposed that in the course of their wanderings in India the earliest Indians or at least a part of them touched Mesopotamia and Syria where Khurri Metanni kingdom was their centre in the Second millennum or even in the third millennum B C*

—Encyclopedic Brittanica Vol XI—Hittites

2 *The Boghaz kudi inscription shows that besides Hittites and Lawi there was also in the 2nd millennum B C another Indo European people within Hittite area an Aryan conquering people which formed the governing class in the kingdoms of Khurri and Metanni and probably in consequence of a former expansion of Khurri kingdom in Syria and Palestine not seldom supplied Syrian and Palestine cities with their dynasties —Encyclopedia Brittanica*

कि जब भारत के ये आर्यजन इरान में होते हुए और पश्चिम की ओर बढ़े तो उनमें कुछ ईरानी आर्य भी जो पहिले से वहां जाकर बस चुके थे—सम्मिलित हो गये हों। मितन्नी लोगों के कुछ नामों-आर्तमन्य, आर्जवीय, सुवरदात आदि को कुछ विद्वानों ने इरानी माना है। मितन्नी राजाओं के कुछ अन्य नाम—सुनर्त, दशरथ आदि जो एक पट्टिका पर लिखे मिले हैं भारतीय ही जान पड़ते हैं। दशरथ तो निःसन्देह शुद्ध भारतीय नाम है ही। तथा यह नाम भारतीय इतिहास के लिये बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब ये आर्य जातियाँ भारत से बाहर गई होंगी, उस समय भी भारत में दशरथ नाम प्रचलित था। इससे दशरथ तथा राम की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है अर्थात् दशरथ और राम रामायण की कथा के कल्पित नाम नहीं बल्कि ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ते हैं तथा यह भी सिद्ध होता है कि उनका समय उस काल से पूर्व का होना चाहिये जबकि उक्त आर्य जातियाँ भारत छोड़कर बाहर गई। यह मितन्नी का दशरथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति था यह भी स्पष्ट है, क्योंकि मिस्र के इतिहास में भी उसका नाम मिलता है। दशरथ के पितामह ऋतोत्म तथा स्वयं दशरथ ने अपनी कन्याओं के विवाह मिस्र के राजा अमेनोफिस तृतीय तथा अमेनोफिस चतुर्थ के साथ किये थे।

खुर्री और मितन्नी के नाम प्रायः साथ-साथ लिये आते हैं। इससे अनुमान होता है कि ये दोनों एक ही जाति की दो शाखाएँ थीं। खुर्री लोगों को 'हुर्री' या होराइट भी कहा गया है। इनके मनुष्यों के नाम भी मितन्नी के लोगों के समान ही शुद्ध संस्कृत भाषा के होते थे।1

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। पीछे के अध्यायों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सुमेर, बेबीलोनिया तथा मिस्र आदि देशों में घोड़ा भारत से पहुँचा तथा रथ का प्रचार भी भारत से ही हुआ। यही बात पश्चिमी एशिया के इतिहास से भी स्पष्ट होती है। शाम तथा लघु एशिया में भी घोड़ा द्वितीय सहस्राब्दी में पहुँचा। सम्भवतः बेबीलोनिया से घोड़े और रथ पश्चिमी एशिया में पहुँचे और फिर वहां से मिस्र में पहुँचे। इस तथ्य को यूरोपीय विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार संस्कृत नामधारी 'होराइट' लोग ही अपने साथ घोड़ों से चलने वाले रथ लाये जिन्होंने पश्चिमी एशिया की युद्ध कला में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी तथा

---

1 The latter included the Biblical Horites (Hurrians) and their Indo Aryan feudal aristocracy bearing old Sanskrit names Encyclo Pedia Brittanica Vol 17

रथों में बैठकर युद्ध करना उस जाति के सरदारों का एक सम्मान्य व्यवसाय बन गया।1

कुछ यूरोपीय विद्वान खुर्री और मितन्नी के लोगों को—इनके नाम खाद तथा मेतन भी मिलते हैं जो युद्ध नाम ज्ञात होते हैं— भारत से गया हुआ नहीं मानते। उनकी कल्पना है कि आर्य लोगों का मूल निवास दक्षिणी रूस था—जहाँ से वे कई दिशाओं में फैले। इन्हीं लोगों के एक दल ने द्वितीय सहस्राब्दि के मध्य में भारत पर आक्रमण किया और दूसरा दल पश्चिमी एशिया में गया और वहाँ मितन्नी राज्य स्थापित कर शासन करने लगा और अन्त में वहीं के लोगों में घुल मिल गया।2

किन्तु यह कथन यूरोपीय विद्वानों के मतिभ्रम को ही प्रकट करता है। वास्तव में यह बात उनकी समझ में नहीं बैठती कि आर्य लोग मितन्नी जैसे दूर देश में कहाँ से निकल पड़े। अतः उन्होंने आर्यों का आदि स्थान मध्य एशिया रहने के स्थान पर दक्षिणी रूस में बता दिया, क्योंकि वहाँ से सरलता से मितन्नी पहुँचा जा सकता था। वहीं से वे भारत भी आये। परन्तु ये केवल भ्रान्त कल्पनायें ही हैं।

(४) मय जाति की सभ्यता—

अभी तक हमने भारत के पश्चिम में ईरान, शाम, मिस्र आदि देशों में बसी हुई कुछ प्रमुख प्राचीन जातियों के इतिहास तथा भारत के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में विचार किया। जब हम भारत के पूर्व में दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि प्राचीन

---

1 *With them they (Horites or Hubrians) brought swift horse driven chariots which revolutionised the art of war and made fighting a knightly profession followed by the Chariots—owning nobility the Marianni Class—Encyclopedia Brittanica Vol 17 Palestine* तथा

With this we may probably connect the wellknown fact that it was almost this very period (1700 B C approximately) that the horse made its appearance —Encyclopedia Brittanica Vol. 17 Persia

2 *The original home of the Aryans appears to have been Southern Russia from which they spread out in several directions At a date roughly contemporary with that postulated for the beginning of the invasion of India (Middle of second millennium B. C) we find another group of Aryens in the near East ruling in the country of Mitanni where they were eventually absorbed into the native population —Encyclopedia Brittanica Vol. XII India*

समय में इस दिशा में भी भारतवासियों ने अपनी सभ्यता का विस्तार किया था। स्याम, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, बाली आदि में आर्य-सभ्यता के प्रमाण आज तक मिलते हैं। परन्तु इन देशों में आर्य लोग—अथवा हिन्दू लोग बहुत पीछे पहुँचे थे। इससे सहस्रों वर्ष पूर्व ही भारत से आर्य लोग पूर्व की ओर गये थे तथा वे लोग ही सुदूर अमेरिका तक जा पहुँचे थे, ऐसे प्रमाण पूर्व के देशों में तथा दक्षिणी अमेरिका के कई देशों में भी उपलब्ध होते हैं।

भारत तथा एशिया के पूर्व में विशाल प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। इसमें अनेक द्वीपसमूह हैं जिनमें से एक पालीनेशिया कहलाता है। पोली का अर्थ है बहुत से तथा नेशिया का अर्थ है द्वीप जैसे इण्डोनेशिया का अर्थ है भारतीय द्वीपसमूह। पोलीनेशिया में टोंगा, समोआ, हवाई, टहटी आदि अनेक द्वीपसमूह सम्मिलित हैं। यूरोपीय इतिहासकारों का कथन है कि इन द्वीपों के आदि निवासी एशिया महाद्वीप से ही आये थे। उनका यह भी अनुमान है कि इन एशियावासियों ने सुदूर अतीत काल में ही एशिया महाद्वीप की भूमि को छोड़ा होगा और पहले वे मलय द्वीप समूह में बसे होंगे। 1

परन्तु एशिया महाद्वीप का अर्थ एशिया का कोई भी देश हो सकता है, जहाँ से वे लोग पूर्व की ओर बढ़े हों। यह देश भारत ही हो सकता है, यह जानने के लिये हमें एक अन्य विद्वान डब्ल्यू० जे० पेरी का ग्रन्थ देखना पड़ेगा। उनका स्पष्ट कथन है कि संस्कृति के पूर्व दिशा में प्रसरण में भारत का विशेष महत्व है, क्योंकि पोलीनेशिया के प्राचीन लोगों की परम्पराओं में उसी 2 देश को अपना मूल निवास माना जाता है तथा

---

1 The Polynesians undoubtedly came from Asia They must have left the continent at a remote period migrating first into Malaya Archaepalago

—History of the Far East—Hutton Webster

2 India is of peculiar importance in the study of movement of early culture for it was the original home to which the Polynesian tradition harks back. The ancestors of Polynesians were the carriers of the archaic civilisation into the Pacific The civilisation went by sea from pearl bed to pearl bed until it reached America and there again it spread over the widespread pearl beds of the American continent

The carriers of this archaic civilisation started from India and went over by way of Indonesia to the Pacific leaving behind their traces that still are to be detected—The growth of Civilisation—W. J. Perry P. 110 and 111

भारत की ही प्राचीन सभ्यता एक द्वीप से दूसरे द्वीप में होती हुई प्रशान्त महासागर में पहुँची और वहाँ से अमेरिका पहुँची।

इस प्रकार यह महाशय प्रशान्त महासागर में तथा अमेरिका तक में सभ्यता का प्रसार भारत से ही हुआ मानते हैं—यद्यपि इनका इतना विचार अवश्य है कि भारत में यह सभ्यता मिस्र से आई थी तथा यह सभ्यता सुमेर और सिन्धु-घाटी में होती हुई भारत में पहुँची।

यूरोपीय विद्वानों की इन खोजों से अनुमान होता है कि भारत के निवासी किसी प्राचीन समय में व्यापार के हेतु अथवा अन्य किसी कारण से जहाजों के द्वारा पूर्व के द्वीपों में गये तथा बहुत समय तक उन द्वीपों में बसने के बाद और पूर्व की ओर बढ़ते गये यहाँ तक कि अन्त में वे दक्षिणी अमेरिका में जा पहुँचे।

दक्षिणी अमेरिका के जिन प्राचीनतम देशों में सभ्यता का प्रसार होने का पता लगता है वे हैं पेरू और मेक्सिको। श्री पेरी का कथन है कि संस्कृति के प्रसार के विद्यार्थियों के लिये मध्य अमेरिका तथा मेक्सिको के देश बड़े महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हीं देशों में प्राचीन काल में 'मय' सभ्यता का आरम्भ हुआ और बाद में यही सभ्यता अमेरिका के अन्य देशों—होंडुरास, यूकेतन, ग्वाटेमाला तथा उत्तरी अमेरिका तक फैली। उनका यह भी कथन है कि इस सभ्यता में एशियाई सभ्यता के अनेक चिह्न मिलते हैं, श्री इलियट स्मिथ नामके विद्वान ने बताया है कि कोपान नामक ग्राम में—जो मय जातों की सबसे प्राचीनतम बस्ती थी, पत्थरों से खुदी हुई जो मूर्तियां मिलती हैं उनमें कुछ मूर्तियां भारतीय हाथियों की भी हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि इन मूर्तियों अथवा चित्रों के खोदने वाले कारीगर भारत से ही आये होंगे।[1]

मेक्सिको के प्राचीनतम सभ्य निवासियों में मय लोगों की गणना की जाती है। ये मय लोग भारत से ही गये हुए आर्य अथवा हिन्दू लोग थे इस विषय पर श्री चमनलाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू अमेरिका' में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया है कि इन मय लोगों के यहाँ भी भारत के समान चार युगों की कल्पना मौजूद थी, उनके विवाह, जात कर्म, मृतक आदि संस्कार भारतीय संस्कारों से मिलते-जुलते थे तथा राम और सीता के उत्सव भी यहाँ मनाये जाते थे। इसी प्रकार वैदिक आर्यों के समान मय लोग आरम्भ में सूर्य, चन्द्र, विद्युत, पवन, पर्वत, नदी, समुद्र आदि प्रकृति की दिव्य

---

1 As Elliot Smith has shown so clearly certain carvings at Copan one of the earliest if not the earliest of the Maya cities are those of the Indian elephants It follows that the carvers or the object which inspired them must have come from India —Growth of Civilisation P 121

विभूतियों का पूजन करते थे। पेरू के 'इन्का' जाति के लोग तो अपने को 'सूर्य के पुत्र' भी कहते थे जो सम्भवतः भारत के सूर्यवंशी क्षत्रियों से सम्बन्ध होना प्रकट करता है।

मेक्सिको का जो इतिहास वहीं के एक लेखक द्वारा लिखा गया है तथा वहीं की सरकार द्वारा प्रकाशित किया गया है उसमें भी यह बात स्वीकार की गई है कि आज जो देश अमेरिका कहलाता है, वहाँ पर जिन लोगों ने सबसे पहिले पदार्पण किया वे लोग भारत से ही पूर्व की ओर आने वालों में से थे।1

इसी सम्बन्ध में श्री चमनलाल ने मेक्सिको के राष्ट्रीय अजायबघर (नेशनल म्यूजियम) के क्यूरेटर श्री रमन मेना (यह नाम भी भारतीयों जैसा ही लगता है) का मत दिया है—जो यह स्वीकार करते हैं कि मय लोगों की शारीरिक आकृति भी भारतीय लोगों की तरह ही थी तथा उनकी अन्य सभी बातें उन्हें भारत तथा पूरब का निवासी सिद्ध करती हैं।2 श्री रमन मेना का यह भी कथन है कि वे दक्षिणी अमेरिका के लोगों की नहुआटी, जापोटका तथा मय भाषाओं का जो अध्ययन कर रहे हैं, उससे भी ये भाषायें हिंदी यूरोपीय स्रोत से निकली हुई ज्ञात हुई हैं।3

अन्य प्राचीन जातियों के समान जो किसी एक प्राचीन देश से किसी दूसरे प्राचीन देश में जाकर बसी हैं, मेक्सिको के लोगों में भी यह परम्परा प्रचलित है कि उनके पूर्वज किसी सुदूर और सुन्दर देश से आये थे।4

---

1 *Those who first arrived on the continent later to be known as America were groups of men driven by that mighty current that set out from India towards the East—History of Mexico Mexican Government Publication Chapter I P 17 quoted in Hindu America*

2 *The Maya Human types are like those of India The irreproachable technique of their beliefs all speak of India and Orient —Prof Raman Mena Curator of National Museum of Mexico quoted in Hindu America by Chamanlal*

3 *At present we are studying the native tongues and find that at least as far as Nahuati Zapotaca and Maya languages are concerned they are of Hindu—European origin—Prof Raman Mena*

4 *Mexican traditions themselves claim that their ancestors came from a far off and beautiful country—Hindu America*

पेरु में ऐसी कथाएँ प्रचलित हैं कि वहाँ कुछ दैत्याकार मनुष्य प्रशान्त महासागर को पार करके आये थे—उन्होंने पेरू को जीता तथा वहाँ पर बड़े बड़े भवन बनाये ।1 यहाँ दृष्टव्य है कि 'मय' जाति का नाम भारत के प्राचीन ग्रन्थों—वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि में अनेक स्थानों पर आया है । महाभारत में उन्हें चतुर शिल्पी बताया गया है जो बड़े सुन्दर तथा अद्भुत भवन बनाने के लिये प्रसिद्ध थे । उनके बनाये हुए भवनों के अवशेष भारत में तो नहीं मिलते, किन्तु मेक्सिको में ऐसे अनेक भवन यूरोपीय लोगों द्वारा पाये गये थे तथा कुछ भवनों के अवशेष अब तक भी मिलते हैं । इससे अनुमान होता है कि मय जाति के लोग किसी प्राचीन काल में भारत से ही वहां पहुँचे थे ।

कई अन्य यूरोपीय विद्वानों तथा अन्वेषकों,—टैवेड, मेकेन्जी, टाड, पोकोक आदि ने भी इस विषय में काफी अनुसंधान किये हैं तथा बहुत सी सामग्री एकत्र की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि जो देश आज अमेरिका कहलाता है उसकी प्राचीन संस्कृति भारत की ही प्राचीन संस्कृति से प्रभावित हुई थी तथा भारत के लोगों ने ही दक्षिण अमेरिका के देशों में पहुँचकर वहाँ राज्य स्थापित किये थे । ये लोग दक्षिणी अमेरिका में कब पहुँचे, इस सम्बन्ध में मतभेद है, फिर भी कई विद्वानों का मत है ईस्वी सन के प्रारम्भ के आस पास मय सभ्यता मेक्सिको में पहुँच चुकी थी । ऐसी दशा में मय लोग भारत से इससे कई सहस्र, वर्ष पूर्व रवाना हुए होंगे, क्योंकि वे लोग प्रशान्त महासागर के द्वीपों में सैकड़ों वर्षों तक बसते हुए वहाँ पहुँचे थे ।

कुछ यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि कोलम्बस से बहुत पूर्व यूरोप के ही लोग अमेरिका में पहुँचे थे तथा उन्हीं ने वहाँ सभ्यता का प्रसार किया, किन्तु पुरातत्व सम्बन्धी अनुसंधानों में उक्त मत नितान्त असत्य साबित हुआ है । इसके विपरीत ऐसे लाखों लोग मेक्सिको में मिलते हैं जो रंग रूप में हिन्दू तथा मंगोल जाति के लोगों से समता रखते हैं जो हिन्दुओं से मिलते जुलते धार्मिक रीति रिवाजों का पालन करते हैं, जो गणेश, इन्द्र जैसे हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं तथा पुजारी भी रखते हैं, जिनके विवाह, मृतक आदि संस्कार भी हिन्दुओं से मिलते जुलते हैं और ये सभी बातें असंदिग्ध रूपसे यही प्रमाणित करती हैं कि मेक्सिको के निवासियों के पूर्वज भारत तथा

---

1 *There are many legends to prove that American culture was founded by outsiders. Peruvian legends according to Torquemeda talk of giants who came across the Pacific, conquerred Peru and erected great buildings.—Hindu America*

चीन आदि देशों से ही विशेष भारत से वहाँ पहुँचे थे तथा उन्हीं ने पहिले दक्षिणी अमेरिका के देशों में सभ्यता का प्रसार किया और फिर यही सभ्यता उत्तरी अमेरिका में भी फैली।

हाल में (सितम्बर १९६० में) अमरीकी सूचना विभाग की ओर से प्रकाशित एक लेखमें भी इसी मत का समर्थन किया गया है। इस लेखमें कहा गया है—

अमेरिकन रेड इण्डियनों के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेषों में दक्षिणी पूर्वी एशिया और भारतीय संस्कृति के चिह्न अब भी दृष्टिगोचर होते हैं। इनकास (सूर्य पुत्र) और मय रेड इण्डियनों के सभी प्राचीन खण्डहरों में उसी प्रकार के मंदिर, स्तूप तथा पिरामिड दृष्टिगोचर होते हैं जो दक्षिण पूर्व एशिया में सर्वत्र दीख पड़ते हैं। वहाँ इन मंदिरों का निर्माण भारत से सभ्यता और संस्कृति का पताका लेकर आने वाले साहसी व्यक्तियों ने किया और धीरे-धीरे समस्त दक्षिण पूर्वी एशिया में इनके प्रयत्नों के फल-स्वरूप भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ।

इसी लेखमें आगे कहा गया है—यही नहीं स्पेनवासियों द्वारा मेक्सिको के पतनात होने के बाद तक वहाँ 'परचेसी' नामक खेल अत्यधिक लोकप्रिय था। यह परचेसी शब्द भारतीय शब्द पचीसी (एक प्रकार का चौसर) का ही अपभ्रंश है और इसके खेलने के नियम और बोर्ड वही हैं जो आज भी भारत में प्रयुक्त होते हैं। पेरू में मितरा राम नामक त्यौहार अमेरिका रेड इण्डियों (इनकाज) का सबसे बड़ा राष्ट्रीय त्यौहार माना जाता है।"

इस प्रकार एक ओर पश्चिम में सुमेर, असुर, शाम, मिस्र आदि देशों में जहाँ सभ्यता की लहर भारत से ही पहुँची, वहाँ उसी प्रकार उसके पश्चातवर्ती काल में यह लहर पूर्व की ओर भी बढ़ी तथा प्रशान्त महासागर के द्वीप समूहों में होती हुई मेक्सिको तथा दक्षिण अमेरिका के अन्य देशों में पहुँची। इन समस्त तथ्यों पर दृष्टि डालते हुए यदि यह माना जाय कि संसार में भारत की सभ्यता ही सबसे प्राचीन है तथा वहीं से सभ्यता का पाठ संसार के अन्य देशों ने सीखा तो इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है।

---

१ नवप्रभात दैनिक (ग्वालियर) १९—१२

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी ग्रन्थ

(१) सृष्टि की कथा—सत्यप्रकाश
(२) विश्व संस्कृति का इतिहास—कालिदास कपूर
(३) संसार का संक्षिप्त इतिहास—सैयद हकीम "अदम"
(४) ईरान—राहुल सांकृत्यायन
(५) मध्यएशिया का इतिहास—राहुल सांकृत्यायन
(६) यूरोप का इतिहास—रामकिशोर शर्मा
(७) वयं रक्षाम—आचार्य चतुरसेन शास्त्री
(८) वेद और उनका साहित्य—आचार्य चतुरसेन शास्त्री
(९) वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा
(१०) ऋग्वेदालोचन—नरदेव शास्त्री
(११) भारतीय संस्कृति का विकास—मंगलदेव शास्त्री
(१२) सांस्कृतिक भारत—भगवतशरण उपाध्याय
(१३) प्राचीन भारत का इतिहास—भगवतशरण उपाध्याय
(१४) प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास—रतिभानु सिंह नाहर
(१५) संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर
(१६) हमारी सांस्कृतिक एकता ,, ,,
(१७) भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार
(१८ जगत गुरु भारतवर्ष—सुखसम्पति राय भण्डारी
(१९) प्राचीन भारत—मूल लेखक श्रीनिवास चारतिया-रामस्वामी अय्यगर-
अनुवादक गोरखनाथ चौबे
(२०) प्राचीन भारतीय इतिहास और परम्परा—रांगेय राघव
(२१) हमारा देश—डा० सत्यनारायण
(२२) भारतवर्ष का इतिहास—भगवद्दत्त
(२३) आर्यों का आदिदेश—सम्पूर्णानन्द
(२४) भारत भूमि और उसके निवासी—जयचन्द्र विद्यालंकार
(२५) प्राचीन भारतीय वेश-भूषा—डा० मोतीचन्द्र
(२६) मत्स्यपुराण—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित
(२७) वायु पुराण ,, ,,
(२८) पाणिनि कालीन भारतवर्ष—वासुदेवशरण अग्रवाल
(२९) तमिल साहित्य और संस्कृति—अरविन्दन
(३०) वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी

अंग्रेजी पुस्तकें

(1) *Story of pre historic civilisation—Dorothy Davidson*

(2) *Story of civilisation—C E M Joad*

(3) *Growth of civilisation—W J Perry*

(4) *A history of mankind—Hutton Webster Ph D*

(5) *A history of ancient world—*

(6) *A Concise History of religion—F J Gould*

(7) *Ur of the Chaldees—Leonard Woolley*

(8) *Digging up the past—Leonard Woolley*

(9) *Assyria —Z A Ragozin*

(10) *Inside Asia—John Gunther*

(11) *Civilisation of China—Herbert A Giles*

(12) *China—Sir Robert K Douglas*

(13) *China Her life and her people Mildred Cable & Francisko Fran*

(14) *Modern Chinese History—Prof Tan Yun Shan*

(15) *Greece—E S Shuckburgh Lit D*

(16) *Rome—Arthur Gilman*

(17) *Cambridge history of India —C J Rapson*

(18) *Rigvedic culture—Abinas Chandra Das*

(19) *A History of Sanskrit literature—A B Keith*

(20) *Arctic Home in the Vedas—B G Tilak*

(21) *Ancient India—J N Mc Crindle*

(22) *Hindu America—Chamanlal*

(23) *Mexico—Susan Hale*

(24) *Rigveda—with Sayan s Commentary*
—Manmatha Nath Dutt *Shastri*